

ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

प० विश्वेश्वरनाथ रेड

मोतो लाल बनारसो दास
दिल्ली, पटना, बाराणसी

ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

महामहोपाध्याय
पंडित विश्वेश्वरनाथ रेड

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

© मोतीलाल बनारसीदास

बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७

नैपाली खपरा, वाराणसी-१ (उ० प्र०)

बांकीपुर, पटना-४ (बिहार)

प्रथम संस्करण

१९६७

मूल्य : १५.०० रुपये

श्री सुन्दर लाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, ४१ यू० ए० बंगलो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित तथा श्री शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र
प्रेस, ४० यू० ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित ।

प्राक्कथन

ऋग्वेद केवल आर्यों की संस्कृति और सम्यता का स्रोत ही नहीं, अपितु संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक भी मानी जाती है। इसमें उन अनेक ऋषियों की महत्त्वपूर्ण समझी गई ऋचाओं का संग्रह है, जो इसके संकलन-काल तक लब्ध-प्रतिष्ठ हो चुके थे।

इन ऋचाओं के रचना काल के विषय में भी बड़ा मतभेद चला आता है। पाश्चात्य विद्वान् इनका रचनाकाल ईसा से १,००० से ४,००० वर्ष पूर्व तक मानते हैं; लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक^१ ईसा से ४,५०० से ६,५०० वर्ष पूर्व होना बतलाते हैं, और डा० अविनाश चन्द्र, दास^२ इसे ईसा से १०,००० से २५,००० वर्ष पूर्व सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त इन ऋचाओं में प्रकट किये भावों का भी, मनीषों ऋषियों के मानस क्षेत्र में, समय-समय की अनुभूतियों से उत्पन्न होकर, वंश-परम्परा से चलते आना, माना जाता है, अतः आर्य-सम्यता का और भी प्राचीनकालीन होना प्रकट होता है। फिर ऋग्वेद में इसी प्रकार वंश-परम्परा से विकसित होते रहने वाले भावों का संग्रह होने से उनका स्तर विभिन्न और धारा असंबद्ध-सा प्रतीत होता है। किसी सूक्त में ब्राह्मणकालीन रूढ़ियों का पूर्व रूप मिलता है, तो किसी में एकेस्वरवाद या एकत्ववाद झलकता है। परन्तु सबसे महत्त्व की बात यह है कि ऋग्वेद संहिता ही एक ऐसी प्राचीनतम पुस्तक है, जिससे आर्यों की प्राचीन संस्कृति और सम्यता का पता चलता है।

ऋग्वेद की प्राचीनता का यह भी एक प्रमाण है कि ब्राह्मण काल के आते-आते ही इसकी भाषा बहुत कुछ दुरुह हो गई थी, और कुछ काल बाद ही मन्त्रार्थों के विषय में अनेक वाद उत्पन्न हो गये थे। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में अधिकतर सायण का ही अनुसरण किया गया है।

आर्यों के मूल निवास के विषय में भी बड़ा मतभेद है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् इन्हें मध्य एशिया के और कुछ यूरोप के मूल निवासी मानते हैं, श्री

१. Orion

२. Rigvedic India

बालगङ्गाधर तिलक^१ इनका मूल निवास उत्तरी ध्रुव प्रदेश में बतलाते हैं; तथा डा० अविनाशचन्द्र दास आदि इन्हें सप्त-सिन्धु का मूल निवासी सिद्ध करते हैं। डा० दास ने अपनी पुस्तक *Rigvedic India* के पिछले कई परिच्छेदों में श्री तिलक के आयों के मूल निवास-विषयक मत का विशद रूप से खण्डन किया है और इसी के आधार पर डा० संपूर्णानन्द ने भी 'आर्यों का आदि देश' नामक पुस्तक लिखी है। प्रस्तुत पुस्तक के जिन परिच्छेदों में इस विषय की चर्चा है, उनमें लेखक को भी इनसे सहायता मिली है।

परन्तु भारतीय आयों के यहाँ सुमेरू पर देवों के निवास की कल्पना से, देवों के एक दिन का मनुष्यों का एक वर्ष माना जाने से, उत्तरायण में देवों का दिन और दक्षिणायन में देवों की रात्रि समझी जाने से, तथा उत्तरायण में मृत्यु का होना श्रेष्ठ कहा जाने से यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि इनका भी उत्तरी ध्रुव प्रदेश से कुछ न कुछ संबन्ध अवश्य ही रहा था। हाँ, इसके काल के विषय में मतभेद हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उनमें से कुछ के नाम-यथा स्थान दिये गये हैं। परन्तु अधिकतर मार्ग-दर्शन डा० अविनाशचन्द्र दास की पुस्तक *Rigvedic India* ने ही किया है, अतः लेखक निदिष्ट और अनिदिष्ट सब ही विद्वानों का हृदय से आभारी है।

विश्वेश्वर नाथ रेड

१. *Arctic Home in the Vedas*

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
वेद	१-९
ऋग्वेद	९-१७
ऋग्वेद की भाषा	१७-२३
ऋग्वेद के छन्द	२३-२६
ऋग्वेद के ऋषि	२७-३३
ऋग्वेद के देवता	३३-४५
देवताओं की कल्पना और उनके प्रसन्न करने के साधन	४५-४७
अन्य जातियों में भारतीय देवता	४७-४९
ऋग्वेद और अवेस्ता की समानता	४९-५२
अन्य समानतायें	५२-५३
ऋग्वेद की कथाओं का नक्षत्रों से संबन्ध	५४-५५
ऋग्वेद के मन्त्रों का रचनाकाल	५६-७६
ऋग्वेद की प्राचीनता में भूगर्भशास्त्रीय साक्ष्य	७७-८१
ऋग्वेद का विषय	८२-८३
ऋग्वेद में धर्म और दर्शन (आध्यात्मज्ञान)	८३-८५
ऋग्वेद में ऐकेश्वरवाद	८५
ऋग्वेद में एकत्ववाद	८५
ऋग्वेद में आचार	८८-९१
शिक्षा	९१
वर्णाश्रम विभाग	९२
ऋग्वेद में सृष्टि-विज्ञान	९२-९३
ऋग्वेद में पशु-पक्षी	९४-९९
ऋग्वेद में वृक्ष आदि	९९-१००
ऋग्वेद में खनिज पदार्थ	१००
ऋग्वेद में सप्त सिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, उसमें की आर्य जातियाँ, उसके देश, पर्वत और नदियाँ आदि	१०१-११९

विषय	पृष्ठ
ऋग्वेद में आर्यों और सप्त-सिन्धु का प्राचीनतम संबन्ध	११९-१२४
आर्यों का आदि निवासस्थान	१२४-१२५
मध्य एशियावाद	१२५-१२८
यूरोपवाद	१२८-१२९
प्रागैतिहासिक काल से उत्तरी ध्रुव-निवास की कल्पना	१३०-१३३
उत्तरी ध्रुव-प्रदेश की विशेषतायें	१३३-१३९
उत्तरी ध्रुववाद	१३९-१४०
नक्षत्र	१४०
उषा	१४०-१४५
देवों का अहोरात्र	१४५
दीर्घ अहोरात्र	१४६-१४७
देवयान पितृयान	१४७-१४८
मास और ऋतु	१४८-१५५
प्रवर्ग्य यज्ञ	१५५
गवामयन	१५५
रात्रि-सत्र अथवा शम्बर युद्ध	१५५-१५६
अवरुद्ध जल	१५७-१६१
अश्विन	१६१-१६६
सूर्य का रथ चक्र और विष्णु के तीन पद	१६६-१६९
अन्य देशों की गाथाओं से ध्रुव-प्रदेश-निवास के प्रमाण	१६९-१७३
<u>यम-यमी कथा</u>	१७३-१७५
सप्तसिन्धुवाद	१७५-१८८
ऋग्वेद में आर्यों की उन्नत अवस्था	१८८
समाज, विवाह और कुटुम्ब	१८९-१९१
उत्तराधिकार	१९१
संपत्ति	१९२
निर्वाह साधन (पशु और खेती)	१९२-१९४
सिंचाई	१९४
वान्य	१९४
शिकार	१९४-१९५
शिल्प	१९५-१९७

(vii)

विषय	पृष्ठ
ऋग्वेद में यन्त्र विद्या	१९७
व्यापार और मुद्रा	१९७-१९८
ऋण	१९८
वस्त्र	१९९-२००
आभूषण	२००
केशभूषा	२००-२०१
खान-पान	२०१-२०२
घर की सामग्री	२०२-२०३
मनोविनोद	२०३-२०४
अश्लील परिहास	२०४
मिथ्या धारणायें	२०५
रोग और चिकित्सा	२०५-२०६
मरण और पुनर्जन्म	२०६-२०९
सामाजिक शासन	२०९
राष्ट्र भावना	२०९
गृह	२१०
ग्राम	२१०
विश्व	२११
जन	२११
राष्ट्र	२११
राजा	२११-२१२
मंत्री-गण	२११-२१२
सभा (समिति)	२१३-२१४
न्याय	२१४
युद्ध	२१५-२१८
दुर्ग	२१८
सामाजिक और राजनैतिक कारणों से युद्ध	२१८-२२०
देवासुर-संग्राम	२२०-२२३
असुरों (पारसियों) का उपनिवेश-स्थापन	२२३-२२६
ऋग्वेद में दास और दस्यु	२२६-२३५
पणि और उनके द्वारा भारत से बाहर के देशों में आर्य संस्कृति का प्रसार	२३५-२४१

(viii)

विषय	पृष्ठ
आर्यों का उपनिवेश-स्थापन	२४१-२४४
ऋग्वेद और उसके ब्राह्मण और आरण्यक पर भाष्य	२४६-२४९
वैदिक पञ्चाङ्ग	२४९-२६२
ऋग्वेद के समय का दक्षिणी भारत	२६२-२६४
मोहंजोदरो की सभ्यता	२६४-२६९
ऋग्वेद में मिलने वाली अन्य ऐतिहासिक और सामाजिक बातों की संक्षिप्त सूची	२७०-२७४



श्रीमान् पण्डित मुकुन्दमुरारि रेड
विक्रम सं० १९०६—१९६१

श्रीमती चान्दरानी रेड
विक्रम सं० १९२८—१९६५



ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

भारतीय आर्यों की संस्कृति का मूल आधार 'वेद' संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि पारसियों की 'अवेस्ता' और चीनियों के 'शुकिंग' और 'शीकिंग' की गणना भी इसी कोटि के ग्रन्थों में की जाती है, तथापि विद्वत्समुदाय प्राचीनतम पुस्तक होने का महत्त्व वेद को ही देता है।

वेद शब्द 'विद्—ज्ञाने धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा बना है। अतः इसकी व्युत्पत्ति 'विदन्ति येन स वेदः' होती है। अर्थात् जिससे वास्तविक बात जानी जाय उसे वेद कहते हैं। यह वेद चार संहिताओं में विभक्त है:—ऋग्वेद^१, सामवेद^२, यजुर्वेद^३

१. अवेस्ता के इक्कीस भागों में से दो को सिकन्दर ने नष्ट कर दिया, कुछ को उसके साथी ग्रीस ले गये और शेष प्रकाशित हो चुके हैं।

२. शुकिंग का रचनाकाल ईसा से २४०० वर्ष पूर्व और शीकिंग का रचनाकाल ईसा से १७६६ वर्ष पूर्व माना जाता है।

३. इसका संबंध होता से है। इस में मन्त्र या स्तोत्र हैं।

४. सामवेद की कौथुमी संहिता में केवल ७५ मन्त्रों को छोड़कर बाकी सारे (१५०४) मन्त्र ऋग्वेद में आये हुए ही हैं। यह सामग्री अधिकतर ऋग्वेद के आठवें और नवें मण्डल से ली गई है। इनमें सामवेद के पुनरुक्त ५ और ऋग्वेद के पुनरुक्त २६७ मन्त्रों को जोड़ देने से इनकी संख्या क्रमशः १०४ और १७७१ हो जाती है। अतः इस संहिता की कुल मन्त्र-संख्या १८७५ होती है। इसमें यज्ञ के भिन्न-भिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले मन्त्रों का संग्रह है। इसका संबंध उद्गाता से है।

५. यजुर्वेद के दो विभाग हैं: शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद में अनुष्ठानों के आवश्यक मन्त्रों का संग्रह है और कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही उनका विनियोग करने वाले ब्राह्मणों को भी स्थान दिया गया है। इनमें कुछ तो ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं और कुछ नई गद्य-पद्यमय सामग्री है। इसका संबंध अध्वर्यु से है; क्योंकि इसमें उसके लिए प्रार्थनाएँ और नियम हैं। (अथवा मन्त्रों और यज्ञों की प्रक्रियाएँ हैं)। वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में १४६७ ऋग्वेद के मन्त्र और २८२३ यजुष् (गद्यात्मक मन्त्र) हैं। शुक्ल यजुर्वेद की १६ शाखाओं में से माध्यन्दिन और कण्वशाखा की

और अथर्ववेद^१। 'वेदत्रयी' में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद का ग्रहण होता है।^२ ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी इन्हीं तीनों संहिताओं के नाम मिलते हैं। (जैसे —“तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत”) परन्तु 'वेदचतुष्टयी' के अनुसार अथर्ववेद भी इन में संमिलित कर लिया जाता है।^३

दो संहिताएँ उपलब्ध हैं और इनमें क्रमशः १९७५ और २०८६ मन्त्र हैं। कृष्ण यजुर्वेद की ८५ शाखाओं में से तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ और कपिष्ठल शाखाओं की चार संहिताएँ मिलती हैं। मैत्रायणी संहिता के ३१४४ मन्त्रों में १७०१ मन्त्र ऋग्वेद के हैं। कठसंहिता की मन्त्र-संख्या ३०९१ और मन्त्र-ब्राह्मणों की संमिलित संख्या १८००० के करीब है।

१. अथर्ववेद में अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए विधान (जादू-टोना आदि) बतलाये गये हैं। यह ब्रह्मा से संबन्ध रखता है, जो यज्ञ का पूरा पर्यवेक्षण करता है। इसकी शौनकसंहिता में ऋग्वेद के १२०० मन्त्र और कुछ पीछे के मन्त्र तथा कुछ यजुप् (गद्य-मन्त्र) हैं। यद्यपि अथर्ववेद का संकलन पीछे का माना जाता है, तथापि अथर्वा एक प्राचीन नाम है; क्योंकि ईरानियों के यहाँ भी इसका रूपान्तर 'अथ्रवन्ह' मिलता है। इसके अतिरिक्त ईरानी याजकों का जादू-टोने में विश्वास रहना भी प्रकट है। अथर्ववेद की पिप्पलाद और शौनक शाखाओं की संहिताएँ मिली हैं। इनमें से आज-कल शौनक संहिता का ही प्रचार है। इसमें ७३१ सूक्त और ६००० मन्त्र हैं। अथर्ववेद का कुछ अंश गद्यमय भी है।

२. इनका संबंध क्रमशः अग्नि, सूर्य और वायु से माना जाता है।

३. अधिकतर विद्वान् 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदः' के अनुसार ब्राह्मणों को भी वेद के समकक्ष ही मानते हैं। ये वेदों की व्याख्या के रूप में गद्य में लिखे गये हैं। इनकी रचना वेदों के बाद की होने के कारण इनकी भाषा में अन्तर है। यह भाषा आधुनिक संस्कृत से अधिक मिलती है। ब्राह्मणों के बाद आरण्यकों और उपनिषदों की रचना की गई थी। आरण्यकों का संबंध ब्रह्मविद्या से है और ये वानप्रस्थों के लिए तैयार किये गये थे। उपनिषदों में वेदान्त-विषय की चर्चा है।

वेदों की प्रत्येक संहिता के अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् माने जाते हैं। जैसे ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि दो ब्राह्मण और ऐतरेय और सांख्यायन दो आरण्यक हैं। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में मुख्य ताण्डय ब्राह्मण (और छान्दोग्य आरण्यक) है। शुक्ल यजुर्वेद का शतपथब्राह्मण और बृहदा-

वेदों की संहिताओं के विषय में कहा जाता है कि पहले वेद के इस प्रकार के चार विभाग नहीं थे । ये विभाग पहले-पहल कृष्ण द्वैपायन ने किये (महाभारत १, २; श्रीमद्भागवत १२, ६) थे, इसीसे वे वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

उस समय प्रत्येक वैदिक ऋषि का कुल एक पाठशाला था, जहां पर उनके पूर्वजों के रचे मन्त्रों या सूक्तों की रक्षा की जाती थी और संतान-परंपरा अथवा शिष्य-परंपरा से उनका पठन-पाठन होता था । मौखिक परंपरा से प्रचलित वेद की इसी विशाल सामग्री में से उपासनोपयोगी सामग्री छांटकर पहले ऋग्वेद संहिता तैयार की गई और बाद में कुछ उसमें की और कुछ बाहर की सामग्री लेकर भिन्न-भिन्न विषयों से संबंध रखने वाली सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताएँ प्रस्तुत की गई ।

इनके मन्त्रों में कहीं-कहीं जो थोड़ा-बहुत पाठभेद मिलता है वह मौखिक परंपरा के कारण ही है । भिन्न-भिन्न ऋषि-समाजों द्वारा अपनाये उच्चारणों आदि की परंपराओं के कारण ही प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएँ प्रचलित हो गई थीं ।^१

रण्यक है । कृष्णयजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक है । इसी प्रकार अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण है ।

पुनश्च मुक्तिकोपनिषद् में दिये १०८ उपनिषदों में से १० का संबंध ऋग्वेद से, १६ का सामवेद से, १९ का शुक्लयजुर्वेद से, ३२ का कृष्णयजुर्वेद से और ३१ का अथर्ववेद से माना जाता है । परन्तु अन्यत्र उपनिषदों की संख्या १०८ से भी अधिक मिलती है ।

इनके अतिरिक्त वेद के ६ अंग माने जाते हैं :—(१) शिक्षा (उच्चारण के नियम); (२) कल्प (कर्मानुष्ठान विधि); (३) व्याकरण (शब्द-सिद्धि के नियम); (४) निरुक्त (शब्दों की व्युत्पत्ति); (५) ज्योतिष् (यज्ञकाल-ज्ञानविधि) और (६) छन्द (मन्त्रों के वृत्तों के नियम) ।

मन्त्रों के देवताओं के ज्ञान के लिए प्राप्य ग्रन्थ का नाम 'बृहद्देवता' है । इसके अतिरिक्त जैमिनि-रचित पूर्वमीमांसा में वैदिक यज्ञों का विशद विवेचन मिलता है ।

१. पतंजलि के महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ऋग्वेद की २१, सामवेद की १०००, यजुर्वेद की १०१ और अथर्ववेद की ९ शाखाओं का होना कहा है । इस प्रकार चारों वेदों की ११३१ शाखाओं के होने का उल्लेख मिलता है । परन्तु इस समय इनमें की अधिकांश शाखाएँ लुप्त हो चुकी हैं और केवल ११-१२ शाखाएँ ही मिलती हैं । ये शाखाएँ भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलों की भिन्न-भिन्न पठन-पाठन प्रणालियों के कारण ही उत्पन्न हुई थीं । इसकी पुष्टि प्रत्येक शाखा के प्रातिशाह्य

वेदों की यह सामग्री सादे जीवन और उच्च आदर्श वाले तपस्वी आर्य ऋषियों की अनेक पीढ़ियों के विचार-विमर्शों और अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत की गई थी। पहले ये विचार-विमर्श और अनुभव भावनाओं के रूप में थे। कालान्तर में इन्हें ऋचाओं (मन्त्रों) अथवा सूक्तों के रूप में छंदोबद्ध कर दिया गया, क्योंकि उस समय देवाराधन का एकमात्र साधन प्रार्थना ही माना जाता था।^१

इन बातों से प्रकट होता है कि उपर्युक्त चारों संहिताओं के संकलन-काल तक यह वैदिक साहित्य चार दशाओं में से निकल चुका था। पहली दशा वह थी, जब पहले-पहल प्राचीन-परंपरा से चली आती हुई भावनाओं के आधार पर ऋचाओं (मन्त्रों) या सूक्तों की रचना प्रारंभ हुई। दूसरी-वह थी, जब विभिन्न केन्द्रों, ऋषिकुलों अथवा गुरुकुलों में उन (ऋचाओं या सूक्तों) की पठन-पाठन-प्रणाली प्रचलित हुई। तीसरी वह थी, जब ऋग्वेदसंहिता की सामग्री छाँटी गई और चौथी दशा वह थी, जब अन्य तीन संहिताएँ तैयार की गईं। इससे प्रतीत होता है कि इन संहिताओं के प्रस्तुत होने में सैकड़ों वर्षों का समय लगा होगा। यही कारण है कि भारतीय आर्य वेदों को अनादि मानते हैं।

इसके अतिरिक्त ये ऋचाएँ (मन्त्र) या सूक्त प्राचीनतम काल से चली आती हुई भावनाओं के या तपोनिरत ऋषियों की यथासमय उत्पन्न होने वाली मानसिक स्फूर्तियों के आधार पर रचे गये थे। इसी से इनके रचयिता ऋषि केवल मंत्रद्रष्टा ही माने गये हैं और वे भावनाएँ अतिप्राचीन होने, और वे

के उच्चारण-नियमों की भिन्नता से भी होती है। ऋग्वेद की केवल एक ही संहिता मिली है, जो शाकल शाखा की है। सामवेद की कौथुम और जैमिनीय शाखा की दो संहिताएँ प्राप्त हैं। तीसरी राणायनीय शाखा की संहिता कौथुम शाखा की संहिता के समान ही है।

१. विद्वानों का अनुमान है कि उस काल में देवाराधन के समय अपनी प्रिय और सर्वस्व-रूप वस्तु को देवता के अर्पण करने के रूप में बलिदान की प्रथा प्रचलित हो गई थी।

२. इन स्फूर्तियों में प्राकृतिक घटनाओं की विचित्रता पर आह्लाद, भय, और आश्चर्य; प्रकृति के रहस्यों को जानने की इच्छा; युद्ध-विजय, शत्रु-वध (मं. ४, सू. १६, ऋ. १९), भय से मुक्ति, धन और सुख-प्राप्ति (मं. २, सू. १९, ऋ. ८), की कामना, द्यूतादि-व्यसन से घृणा आदि थीं जो समय-समय पर मानवहृदय में उत्पन्न हो सकती हैं।

स्फूर्तियाँ प्राकृतिक घटनाओं में दैवी भावनाओं से उत्पन्न होने के कारण अपौरुषेय कही गई है।^१ इसी प्रकार उस समय वेदों के मौखिक रूप में रहने से इनकी शिक्षा श्रवण द्वारा ही होती थी। इसी से इन्हें श्रुति कहते हैं।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का मन्तव्य है कि आर्य पहले उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में रहते थे। परन्तु हिम-युग में जिस समय इन्हें वह प्रदेश छोड़ना पड़ा, उस समय इनकी बहुत-सी धार्मिक परम्पराएँ भी छूट गईं। परन्तु बाद में उनसे संबंध रखने वाली आख्यायिकाओं के आधार पर अनेक सूक्तों की रचना की गई। इसी से ऋषि केवल मन्त्रद्रष्टा माने गये। पुराणों में भी वेदों के लुप्त होने और ऋषियों के उनका पुनरुद्धार करने की कथा से भी इसकी पुष्टि होती है।

वेद के मन्त्रों की रचना करने वालों के विषय में वास्तव में ही बड़ा मत-भेद चला आता है। इसलिए इस विषय पर प्रकाश डालने वाले ऋग्वेद के कुछ मन्त्र आगे उद्धृत किये जाते हैं। इससे विचारशील पाठकों को इस विषय पर स्वयं ही विचार करने में सहायता मिलेगी।

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः ।

देवेभिरग्न आ गहि ॥ २ ॥

[(अष्टक १), मण्डल १, (अध्याय १), (अनुवाक ४, सूक्त १४)]

अर्थ—हे बुद्धिमान् अग्नि ! कण्व के पुत्र तुम्हें बुला रहे हैं, और तुम्हारे कामों की प्रशंसा भी करते हैं। तुम देवताओं के साथ आओ !

सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय ।

सुनीथाय नः शवसान नोधाः प्रातर्मक्षू धिया वसुर्जगम्यात् ॥ १३ ॥

[(अष्टक १), मण्डल १, (अध्याय ५), (अनुवाक ११), सूक्त ६२]

अर्थ—हे इन्द्र ! तुम सब के आदि हो। हे सुनेत्र बली इन्द्र ! तुम रथ में घोड़े

१. ऋग्वेद में कहीं पर मन्त्रों का विराट् पुरुष से उत्पन्न होना माना है (मं. १०, सू. ९०, ऋ. ९), कहीं पर देवताओं की प्रेरणा से प्रकट होना कहा है (मं. १०, सू. ७२, ऋ. १), और कहीं पर देवताओं का उन्हें प्रकट करना और ऋषियों का उन्हें साक्षात् करना (देखना) बतलाया है (मं. ७, सू. ६६, ऋ. ११)। इसी प्रकार उसमें सूक्तों के भी देवों द्वारा उत्पन्न किये जाने का उल्लेख मिलता है (मं. १०, सू. ८८, ऋ. ८)। परन्तु साथ ही कहीं-कहीं मन्त्र-रचयिताओं ने अपने रचे मन्त्रों में अपना, अपने पिता का (मं. १०, सू. ६३, ऋ. १७) अथवा अपने गोत्र का (मं. १ सू. ६०, ऋ. ५) नाम भी दे दिया है।

जोतते हो । गोतम के पुत्र नोधा ऋषि ने हमारे लिए तुम्हारा यह स्तोत्र बनाया है । कर्म द्वारा जिस इंद्र ने धन पाया है, वह प्रातःकाल शीघ्र आवे ।

अकारित इन्द्र गोतमेभिर्ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम् ।

सुपेशसं वाजसा भरा नः प्रातर्मर्क्षू धिया वसुज्जगम्यात् ॥ ९ ॥

[(अष्टक १), मण्डल १, (अध्याय ५), (अनुवाक ११), सूक्त ६३]

अर्थ—हे इन्द्र ! तुम घोड़ों वाले हो । गोतमवंशियों ने भक्तियुक्त होकर तुम्हारे लिए मन्त्र बनाये थे । तुम हमें अनेक प्रकार के अन्न दो ।

एतत्पुत्र इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभि गृणन्ति राधः ।

ऋजाश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः ॥ १७ ॥

[(अष्टक १), मण्डल १, (अध्याय ७), (अनुवाक १५), सूक्त १००]

अर्थ—हे ईप्सितदाता इन्द्र ! वृषागिर के पुत्र ऋजाश्व, अंबरीष, सहदेव, भयमान और सुराधा, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए, तुम्हारा यह स्तोत्र उच्चारण कर रहे हैं ।

आश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरत वा घा स्यालात् ।

अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥ २॥

[(अष्टक १), मण्डल १, (अध्याय ७), (अनुवाक १६), सूक्त १०९]

अर्थ—हे इन्द्र और अग्नि ! सुना है कि तुम दोनों अयोग्य जामाता (दामाद) अथवा साले से भी अधिक संपत्ति देते हो । इसलिए तुम्हें सोम अर्पण करने के समय के लिए नवीन स्तोत्र बनाता हूँ ।

एतानि वामशिवना वीर्याणि प्रपूर्वाण्यावो ऽवोचन् ।

ब्रह्म कृण्वन्तो वृषणा युवाभ्यां सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २५ ॥

[(अष्टक १), मण्डल १, (अध्याय ८), (अनुवाक १७), सूक्त ११७]

अर्थ—हे अश्विनीकुमारों ! तुम्हारे इन प्राचीन कार्यों को हमारे पूर्वज वर्णन कर गये हैं । हे इच्छापूर्ण करने वालों ! हम भी तुम्हारी स्तुति कर, वीर पुत्र से युक्त होकर, यज्ञ करते हैं ।

कुविच्छक्तं कुवित् करत् कुविन्नोवस्य सस्करत् ।

कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण संगमामहे ॥ ४ ॥

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय ।

शिरस्तयोर्वरा मादिदं म उपोदरे ॥ ५ ॥

[(अष्टक ६), मण्डल ८, (अध्याय ६), (अनुवाक ९), सूक्त ८०]

अर्थ—वह इन्द्र मुझे (अपला) को समर्थ करे। मुझे बहुसंख्यक करे। वह मुझे अनेक बार धनी करे। मैं पति द्वारा छोड़ी जाकर यहाँ आई हूँ। मैं इन्द्र के साथ मिलूंगी ॥४॥ हे इन्द्र, मेरे पिता के (केशहीन) मस्तक और खेत को तथा मेरे उदर के पास के भाग (गर्भाशय) को उर्वर करो ॥५॥

भूरि दक्षेभिर्वचनेभिर्ऋक्विभिः सत्येभिः सत्यानि प्रवोचत ।

इन्द्रो धुनि च चुमुरि च दम्भयच्छद्वात्मनस्या शृणुते दभीयते ॥ ९ ॥

[(अष्टक ८), मण्डल १०, (अध्याय ६), (अनुवाक ९), सूक्त ११३]

अर्थ—हे स्तोताओं ! इन्द्र ने जो सखा के काम किये हैं उनकी उत्तम वाक्यों द्वारा और मित्रोचित छन्दों द्वारा प्रशंसा करो। इन्द्र ने धुनि और चुमुरि नाम के अमुरों का वध किया है और विश्वस्त मन से दभीति राजा की प्रार्थना को सुना है।

त्वं पुरुष्या भरा स्वद्व्या यैभिर्मसै निवचनानि शंसन् ।

सुगेभिर्विश्वा दुरिता तरेम विदोषु ण उर्विया गाधमद्य ॥ १० ॥

[(अष्टक ८), मण्डल १०, (अध्याय ६), (अनुवाक ९), सूक्त ११३]

अर्थ—हे इन्द्र ! मैंने स्तुति के समय बहुत-सी संपत्ति और घोड़ों के लिए जो इच्छा प्रकट की थी, वह सब प्रदान करो। मैं पाप का उल्लंघन कर कल्याण को प्राप्त करूँ, और हम जिस स्तोत्र की रचना कर रहे हैं, उसे जानो और उस पर ध्यान दो।

ऊर्जो नपात् सहसावन्निति त्वोपस्तुतस्य वन्दते वृषा वाक् ।

त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ८ ॥

[(अष्टक ८), मण्डल १०, (अध्याय ६), (अनुवाक १०), सूक्त ११५]

अर्थ—हे बल के पुत्र बलवान् अग्नि ! मेरा नाम उपस्तुत है। मेरा वर्षक स्तोत्र तुम्हारी स्तुति करता है। हम तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम्हारी कृपा से हम दीर्घायु हों और सन्तान प्राप्त करें।

ऋग्वेद में दो स्थानों पर मन्त्र-रचयिताओं ने अपना मनुष्य होना कहा है।

उक्त संहिता में इस प्रकार के सैकड़ों मन्त्र मिलते हैं, जिनसे भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा उनकी रचना होना प्रकट होता है। साथ ही दीर्घ काल तक मौखिक

१. मं. १, सूक्त १७५ ऋ. ३ और मं. २, सू. १४, ऋ. ८.

२. मं. १, सू. २०, ऋ. १; मं. १, सू. ३८, ऋ. १४; मं. १, सू. ४७, ऋ. २;

मं. १, सू. १६६, ऋ. १५; मं. २, सू. ३९, ऋ. ८; मं. ३, सू. ३०, ऋ. २०;

परम्परा से चली आती ऋचाओं के पाठ को शुद्ध और असली रूप में बनाये रखने के लिए भी पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था ।^१ कालान्तर में होने वाले पाठ-परिवर्तनों और पाठ-भ्रष्टताओं को रोकने के लिए पद-पाठ, क्रम-पाठ, आदि आठ प्रकार के विकृत^२ पाठों की रीतियाँ निकाली गई थीं । इसी प्रकार प्रत्येक वेद का 'प्रातिशाख्य' के समान निबन्ध-ग्रन्थ लिखकर उच्चारण की सुविधा के लिए सन्धि आदि के नियम निश्चित कर दिये गये, और यथास्थान उदाहरण भी दे दिये गये थे । इसके अतिरिक्त 'अनुक्रमणी' की रचना कर उसमें संहिताओं के सूक्तों, ऋचाओं, शब्दों और अक्षरों तक की गिनती दे दी गई थी । इससे संहि-

मं. ४, सू. ६, ऋ. ११; मं. ४, सू. १६, ऋ. २१; मं. ६, सू. ८, ऋ. ५; मं. ६, सू. १८, ऋ. १५; मं. ७, सू. १८, ऋ. ४; मं. ७, सू. २२, ऋ. ९; मं. ७, सू. ९४, ऋ. १; मं. ७, सू. ९७, ऋ. ९; मं. ८, सू. ८, ऋ. १७; मं. ९, सू. ११४, ऋ. २; मं. १०, सू. २३, ऋ. ६; मं. १०, सू. ८०, ऋ. ७; आदि ।

ऊपर मन्त्रों के जो अर्थ दिये गये हैं, वे सायणाचार्य के लिखे सायण भाष्य के अनुसार हैं; क्योंकि एक तो समग्र ऋग्वेदसंहिता पर केवल सायण का ही भाष्य प्राप्त होता है । दूसरे सायण ने अपने भाष्य में आर्यों की प्राचीन धार्मिक और सामाजिक परम्परा का अनुगमन किया है । आगे भी यथा संभव सायण भाष्य का अनुगमन करने की ही चेष्टा की जायगी ।

१. संहिताओं के संकलन के समय भी स्वरों और वैकल्पिक रूपों से संबन्ध रखने वाली त्रुटियों को 'आर्ष' मानकर उन्हें अपने असली रूप में ही रहने दिया गया । जैसे 'सुम्न' को 'द्युम्न' में परिवर्तित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई । परन्तु जहाँ पर संहिताओं के संकलन-काल में प्रचलित संस्कृत भाषा के सन्धि आदि के नियमों से ध्वनि में अन्तर आता था वहाँ पर उसे प्रचलित रूप दे दिया गया । जैसे 'त्वं हि अग्ने' के स्थान पर सन्धि करके 'त्वं ह्यग्ने' कर दिया गया

२. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।

अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥

अर्थात्—अर्थ में भ्रम के निवारण के लिए पहले मन्त्रों के परिच्छेद किये गये । इस प्रकार संधियों का विच्छेद कर और प्रत्येक पद को अपने असली रूप में रखकर 'पद-पाठ' का नियम बनाया गया । इसे 'शब्द-पाठ' भी कह सकते हैं । जैसे—'त्वं ह्यग्ने' में 'त्वं हि अग्ने' । इसके बाद शब्दों की रक्षा के लिए 'क्रम-पाठ'

ताओं की सामग्री में किसी भी प्रकार का परिवर्तन असंभव हो गया ।

वेद की चार संहिताओं में भी ऋग्वेदसंहिता^१ ही प्राचीनतम संहिता मानी जाती है । इससे आर्यजाति की भाषा, भाव, धर्म, सभ्यता और इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । सायणाचार्य के मतानुसार इसमें स्तुतियों और प्रार्थनाओं^२ के साथ ही अनेक पौराणिक कथाओं^३ के बीज भी विद्यमान हैं ।

इस संहिता के मनन से हमें, इसमें, अपने पूर्वजों की प्राचीनतम विचारधाराएँ, धार्मिक और सामाजिक भावनाएँ, तथा उनका क्रमिक विकास, काव्य-कल्पनाएँ, प्रकृति-सौंदर्य के निरीक्षण का दृष्टिकोण, प्रकृति की रहस्यपूर्ण घटनाओं पर हर्ष,

रचा गया । इसमें पद-पाठ का प्रत्येक शब्द दो बार पढ़ा जाता है । एक बार पहले पद के पीछे और दूसरी बार पिछले पद के पहले । जैसे—त्वं हि, हि अग्ने । इसी प्रकार दो पदों को सीधा उलटा और फिर सीधा पढ़ना कहकर जटा-पाठ का नियम बतलाया । जैसे—त्वं हि, हि त्वं, त्वं हि । जटा-पाठ के अंत में अगला एक पद जोड़ देने से शिखा-पाठ कहा गया । जैसे—त्वं हि, हि त्वं, त्वं हि अग्ने । पदों को सीधे और उलटे क्रम से अनेक बार पढ़ने से घन-पाठ निश्चित किया गया । यह चार प्रकार का कहा गया है । इसमें का एक—“शिखा मुक्त्वा विपर्यस्य तद् पदानि पुनः पठेत् । अयं घन इति प्रोक्तः ॥” ऐसा भी कहा जाता है कि घन-पाठ में प्रथम पद पाँच बार, द्वितीय पद दस बार तथा तृतीय और चतुर्थ पद तेरह-तेरह बार आते हैं । इसी प्रकार अन्य विकृतियों के भी नियम निर्णीत किये गये थे ।

१. ऋग्वेद के विषय में यूरोपीय विद्वान् मैक्समूलर का कथन है—

“यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।

तावद् ऋग्वेद महिमा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥”

अर्थात्—जब तक पृथ्वी पर पर्वत और नदियाँ रहेंगी, तब तक लोकों में ऋग्वेद की महिमा का प्रसार होता रहेगा ।

छन्दों वाले मन्त्रों को ऋक् या ऋचा, और गूढ़ अर्थ के सूचक वाक्य को मन्त्र कहते हैं ।

२. ऋग्वेद के मन्त्र केवल प्रार्थना से ही संबन्ध नहीं रखते, उनका संबन्ध और भी अनेक विषयों से है । उन सब का यज्ञ के कामों में का विनियोग बाद का प्रतीत होता है ।

३. जैसे प्रथम अष्टक में ९१, द्वितीय में ४४, तृतीय में ५६ और चतुर्थ में ३८ । इसी प्रकार अगले अष्टकों में भी कथाओं के बीज मिलते हैं ।

भय और आश्चर्य की भावनाएँ तथा उनके विश्वासों की रूपरेखाएँ मिलती हैं। परन्तु साथ ही यह भी प्रकट होता है कि इन सब के पीछे भी युगों से चली आती हुई संस्कृति और विचारधाराओं की पृष्ठ-भूमि विद्यमान थी तथा इन्हीं के आधार पर सूक्तों की रचनाएँ की गई थीं।

संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि वेदकालीन ऋषि जीवन के रहस्य को जानने को उत्सुक थे, और उन्होंने अपने सरल विश्वास द्वारा प्रत्येक वस्तु में और प्रकृति की प्रत्येक शक्ति में, उसके अधिष्ठाता के रूप से, देवत्व की भावना कर रखी थी।^१ उनका जीवन सुखमय, साहसमय और रहस्यमय भावनाओं से ओत-प्रोत था। उनके जीवन में विश्वास की एक प्रबल धारा प्रवाहित थी। परन्तु उस पर अनुभव का प्रकाश भी पड़ने लगा था। इसी से 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' जैसे विचार भी उत्पन्न होने लगे थे। इसी प्रकार धीरे-धीरे जब उनके मस्तिष्क में विचार की भावना प्रविष्ट हुई, तब उनके मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उठने लगे थे। इसके साथ ही जाँच करने की भावना भी प्रबल होने लगी। यह बात 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसे वचनों से सिद्ध होती है।

यह (ऋग्वेद) संहिता उस समय उपलब्ध होने वाली उपयुक्त सामग्री को एकत्रित करके तैयार की गई थी :^२ इसी से इसमें प्राचीन और अर्वाचीन (तत्कालीन) ऋषियों^३ और सूक्तों^४ का उल्लेख मिलता है।

१. परन्तु ऋग्वेद में मन्दिरों या स्पष्ट रूप से मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है। इसमें पहले अनेक देववाद और फिर एकेश्वरवाद पुनश्च एकत्ववाद मिलता है। इसमें इन्द्र और अग्नि से संबन्ध रखने वाली जितनी ऋचायें हैं, उतनी अन्य किसी देवता से संबन्ध रखने वाली नहीं हैं। इसका प्रारंभ क्रमशः अग्नि और इन्द्र के सूक्तों से ही होता है।

२. इस संहिता की सामग्री को चुनने, उसे यथास्थान स्थापित करने, और उसे अपने मूलरूप में बनाये रखने के लिए निश्चित किये नियमों से इसके संकलनकर्त्ता और उसके सहयोगियों की विद्वत्ता और प्रतिभा स्पष्ट प्रकट होती है। इन नियमों का वर्णन यथास्थान किया जा चुका है।

३. मं. १, सू. १, ऋ. २।

४. मं. १, सू. १०९, ऋ. २५ (प्राचीन सूक्तों का उल्लेख—मं. ६, सू. ४४, ऋ. १३ और मं. ७, सू. २९, ऋ. ४)।

ऋग्वेद के एक मन्त्र^१ में नौ मास का यज्ञ करने वाले अपने (अंगिरा-आदि) सात पूर्वजों का इन्द्र की स्तुति करना कहा है। दूसरे मन्त्र^२ में इन्द्र से कहा गया है कि हम, प्राचीन ऋषियों के समान ही, नवीन स्तुतियों से तुम्हारा स्तवन करते हैं। तीसरे मन्त्र^३ में इन्द्र का प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन स्तुतियों से संबंधित होना बतलाया है। इस प्रकार के और भी अनेक मन्त्र उसमें मिलते हैं।^४

ऋग्वेदसंहिता में संकलित की गई सामग्री के लिए पहले प्रधान ऋषियों के प्रतिनिधि-रूप से वे ६ ऋषि चुने गये, जिनकी रचनाये^५ विशेष रूप से उपादेय और रक्षणीय समझी गईं। ये ऋषि (१) गृत्समद, (२) विश्वामित्र, (३) वामदेव, (४) अत्रि, (५) भरद्वाज और (६) वसिष्ठ थे।^६ इनके और इनके

१. मं. ६, सू. २२, ऋ. २।

२. मं. ६, सू. २२, ऋ. ७।

३. मं. ३, सू. ३२, ऋ. १३।

४. देवता की प्राचीनता और सूक्त की नवीनता का उल्लेख (मं. ६, सू. २२, ऋ. ७)। इन्द्र के पूर्व पराक्रमों का उल्लेख (मं. १, सू. ३२, ऋ. १) इसके लिए 'पूर्वी' (मं. १, सू. ११, ऋ. ३) और 'पूर्व्याणि' (मं. १, सू. ६१, ऋ. १३) विशेषणों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार इस (ऋग्वेद) संहिता में अश्विनो के पूर्व पराक्रमों का उल्लेख भी मिलता है (मं. १, सू. ११७, ऋ. २५)। एक स्थान पर अपने समर्थ पूर्वजों का उल्लेख 'पूर्वभ्यः पथिऋद्भ्यः' कहकर किया है (मं. १०, सू. १४, ऋ. १५)। इनसे वेद-मन्त्रों की रचना का अति दीर्घ काल तक चलते रहना प्रकट होता है।

५. कात्यायन ने लिखा है—'यस्य वाक्यं स ऋषिः।' अर्थात् जिसका वचन हो वह (उसका) ऋषि है। परन्तु अधिकतर मन्त्रों में रचयिताओं के नाम नहीं मिलते।

६. महाभारत के अनुसार पहले गोत्र-प्रवर्तक ४ ऋषि थे : भृगु, अङ्गिरस, वसिष्ठ और कश्यप। आश्वलायन गृह्य सूत्र के तर्पणाध्याय में इन ऋषियों के नाम मिलते हैं—'शतर्चिनो मध्यमागृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवो भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ताः महासूक्ताः।' परन्तु इसमें पाँचवें मण्डल के ऋषि अत्रि का नाम छूट गया है। आठवें मण्डल के ऋषियों का उल्लेख 'प्रागाथ' के नाम से किया है। परन्तु इस मण्डल के ऋषि कण्व और अङ्गिरा वंशी माने जाते हैं। इस मण्डल के (११ बालखिल्य सूक्तों सहित) १०३ सूक्तों में से ६१ सूक्त कण्व और उसके वंशजों के हैं। अतः इस मण्डल का ऋषि प्रगाथ भी

वंशजों के नामों से प्राप्त होने वाले सूक्त क्रमशः—ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक मिलते हैं और ये वहाँ पर इनके कुल क्रमागत संग्रहों के रूप में एकत्रित हैं। इसी प्रकार आठवें मण्डल में कण्व^१ वंशियों के (और कुछ अङ्गिरा वंशियों के) तथा नवें मण्डल में भिन्न-भिन्न ऋषियों के रचे सोम^२ से संबंध रखने वाले सूक्त संगृहीत हैं। परंतु उसके पहले और दसवें मण्डल में अन्य अनेक ऋषियों और उनके वंशजों के रचे सूक्त हैं।^३ इसके अतिरिक्त इन दोनों मण्डलों

संभवतः इसी वंश का होगा (मं. ८, सू. ४८)। नवें मण्डल के सूक्तों में पवमान (वहते हुए) सोम की स्तुति होने से ये पवमान सूक्त कहलाते हैं, और इसी से इनके रचयिताओं को पावमानी कहा गया है।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में लिखा है—‘शतर्चिन आद्ये मण्डलेऽन्ये क्षुद्र-सूक्तमहासूक्ता मध्येषु माध्यमाः।’ अर्थात्—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ऋषि सौ ऋचाओं वाले, दशम मण्डल के ऋषि छोटे सूक्तों और बड़े सूक्तों वाले तथा द्वितीय मण्डल से नवम मण्डल तक के ऋषि बीचवाले कहते हैं। षड्गुशिशिष्य ने इस विषय में लिखा है कि इस मण्डल के पहले ऋषि (विश्वामित्र-पुत्र) मधुच्छन्दा की रची ऋचायें १०० से कुछ ही अधिक हैं। इसके आधार पर इस मण्डल के सारे ही ऋषि शतर्चिनः (सौ ऋचाओं वाले) के नाम से सूचित किये गये हैं। दशम मण्डल के (नासदीयसूक्त तक के) पहले १२९ सूक्तों को, उनके मन्त्रों की संख्या और दार्शनिक विषय की महत्ता के कारण महासूक्त और उनके आगे के सूक्तों को क्षुद्र सूक्त मान कर उनके रचयिताओं को क्षुद्रसूक्तमहासूक्ताः (छोटे और बड़े सूक्तों वाले) कहकर उल्लेख किया है। अन्य आठ मण्डलों के इन दो (पहले और दसवें) मण्डलों के मध्य में होने से उनके ऋषियों का माध्यमाः (बीच वाले) कहकर बोध कराया है।

१. आश्वलायन ने प्रगाथों को अष्टम मण्डल का ऋषि माना है।

२. सोम का एक नाम ‘पवमान’ भी है : अतः ऋग्वेद के नवम मण्डल को ‘पवमान मण्डल’ भी कहते हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है, कि ऋग्वेद का द्वितीय से अष्टम मण्डल तक का भाग तैयार हो जाने पर भिन्न-भिन्न ऋषियों की रची, सोम से संबंध रखने वाली, ऋचाओं को एकत्रित कर संहिता के अन्त में लगा दिया गया था। यह सोम एक मादक रस वाला पौधा था और इसका रस यज्ञ के उपयोग में आता था।

३. कहीं-कहीं इस विभाजन के अपवाद भी मिलते हैं। जैसे तीसरे मण्डल के (विश्वामित्र पुत्र) मधुच्छन्दा के और आठवें मण्डल के (कण्वगोत्रीय) मेघा-

की प्रत्येक की सूक्त-संख्या भी १९१ है। दसवें मण्डल की भाषा^१, भाव और छन्दों में कुछ विशेषता प्रतीत होने से आधुनिक विद्वान् इसे पीछे की रचना मानते हैं। इसमें नवीन देवताओं, नवीन दार्शनिक तथ्यों तथा विवाह, अन्त्येष्टि, शान्ति आदि अन्य अनेक सामाजिक विषयों से संबन्ध रखने वाले सूक्त भी मिलते हैं।

भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलों द्वारा अपनाये गए क्रमों और उच्चारणों आदि की परम्पराओं के कारण ऋग्वेद की अनेक शाखायें प्रचलित हो गई थीं। पतञ्जलि रचित महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ऋग्वेद की २१ शाखाओं का होना लिखा है। चरणव्यूह के अनुसार उनमें की (१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शांखायन और (५) माण्डूकायन नाम की ५ शाखायें मुख्य थीं।^२ इस समय ऋग्वेद की शाकल्य संहिता ही मिलती है।^३

तिथि के रचे अन्य सूक्तों का प्रथम मण्डल में मिलना। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

१. पाश्चात्य विद्वान् इसमें 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग, पुल्लिग के 'आ' प्रत्यय के स्थान में विशेष रूप से 'औ' का उपयोग और अन्य अनेक तुमर्थक प्रत्ययों के स्थान में अधिकतर 'तुम्' का संयोग देखकर इसका ब्राह्मणकालीन होना अनुमान करते हैं।

२. व्याडि ने अपनी 'अष्टविकृतिविवृति' में लिखा है कि—शाकल के १०० शिष्यों में के ५ गृहस्थ शिष्यों (शिशिर, वाष्कल, सांख्य, वात्स्य और आश्वलायन) से (शैशरीया, वाष्कला, सांख्या, वात्स्या और आश्वलायनी नाम की) ५ शाखायें चलीं। ये शाखायें शाकल के शिष्यों द्वारा प्रचलित होने से 'शाकल्य' भी कहती हैं। चरण-व्यूह की शाकल्य और माण्डूकायन शाखाओं के स्थान पर अष्टविकृतिविवृति में शैशरीया और वात्स्या के नाम मिलते हैं।

३. अन्य शाखाओं की संहितायें नहीं मिलतीं। वाष्कल शाखा की ऋग्वेद संहिता का अंतिम मन्त्र "तच्छंयोरावृणीमहे" है। शाकलशाखा की संहिता में १०१७ सूक्त हैं, परंतु वाष्कल शाखा की संहिता में १०१५ हैं। इन अधिक सूक्तों में एक 'संज्ञानसूक्त' और दूसरे ११ बालखिल्य सूक्तों में के पहले ७ सूक्त हैं। इन के अतिरिक्त इन दोनों शाखाओं की संहिताओं के प्रथम मण्डल के मन्त्रों के क्रम में भी भिन्नता है (शौनक की अनुवाकानुक्रमणी, श्लोक ३६, २१)। आश्वलायन शाखा की संहिता के केवल गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्र ही मिलते हैं शांखायन की संहिता के ब्राह्मण और आरण्यक प्राप्त हैं। कुछ लोग शांखायन और कौषीतकि शाखाओं को एक मानते हैं। माण्डूकायन का पता नहीं चलता।

शौनक की अनुवाकानुक्रमणी में ऋग्वेद में १०,५८०^१ ऋचाओं का होना लिखा है।^१ इसी में शाकल्य शाखा के ऋग्वेद में १५३,८२६ पदों या शब्दों का रहना बतलाया है,^२ और अन्त में ऋग्वेद में ४,३२,००० अक्षरों का होना कहा है।^३ इसी प्रकार छन्दःसंख्या में, उक्त संहिता में १०४०२ ऋचायें, मुद्रित सर्वा-नुक्रमणी की भूमिका में १०,४४२ ऋचायें और जगन्नाथ के अनुक्रमणी-विवरण में १०,४५२ ऋचायें कहीं हैं। स्वामी दयानन्द ने उसमें १०,५८९ ऋचाओं का, श्री सामाश्रमी ने (८० वालखिल्य ऋचाओं सहित १०,५२२ ऋचाओं का और चरणव्यूह के टीकाकार महीदास ने १०,५५२ ऋचाओं का होना कहा है। इसी प्रकार अध्यापक मैक्समूलर ऋग्वेद में १०,६२२ ऋचायें, १,५३,८२६ शब्द और ४,३२,००० अक्षर मानते हैं।^४ अध्यापक राधाकुमुद मुकर्जी ने उक्त संहिता में ७०,००० पंक्तियों का होना लिखा है और इन में ५,००० पंक्तियों का पुनरुक्तिरूप से लिखा जाना बतलाया है।^५

ऋग्वेद की ऋचाओं की संख्या में यह विषमता या तो शाखा-भेद के कारण या फिर उन ऋचाओं के कारण प्रतीत होती है, जो अध्ययन के समय चतुष्पदा और प्रयोग के समय द्विपदा मानी जाती हैं। ऋग्वेद की वर्णानुक्रमणी में इस विषय में लिखा है कि—‘द्विद्विपदास्त्वृचः समामनन्ति।’ षड्गुरुशिष्य ने इसकी

कुछ विद्वान् व्याडि द्वारा उल्लिखित शैशरीया के साथ शौनक-अनुवाकानुक्रमणी के श्लोक ३६ में पारण शब्द का प्रयोग मिलने से, उसे अलग शाखा न मानकर पारायण करने वाले समाज का बोधक मानते हैं।

१. ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।

ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ॥ ४३ ॥

२. शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुवतम् ।

शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति ह चर्चितानि ॥ ४५ ॥

३. चत्वारिंशत्सहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षर सहस्राणि ।

४. कुछ विद्वान् ऋग्वेद में १०,४६७ अथवा १०,४१७ ऋचाओं का होना भी प्रकट करते हैं।

५. इससे अनुमान किया जाता है कि उस समय वहाँ पर बहुत-सी ऋचायें विशेष रूप से प्रचलित हो गई थीं। इसी से पिछले सूक्त-रचयिता ऋषियों ने उन्हें साहित्य की सार्वजनिक सामग्री मानकर अपनी रचनाओं (सूक्तों) में भी उनका उपयोग कर लिया था। (Hindu Civilizations, p. 84)

व्याख्या की है, कि ये ऋचायें प्रयोग के समय तो द्विपदा होती हैं। परन्तु अध्ययन-काल में चतुष्पदा मान ली जाती हैं। तथा सायण (मं. १, सू. ६५) और चरण-व्यूह के टीकाकार महीदास ने इसका समर्थन किया है, ऐसी ऋचायें 'नैमित्तिक द्विपदा' कहाती हैं। इनकी प्रयोगकालीन संख्या १४० है। परन्तु अध्ययन काल में इनकी संख्या आधी (७०) ही रह जाती है। उसी संहिता में 'नित्य-द्विपदा' ऋचाओं की गणना १७ है। ये सदा ही द्विपदा-रूप में रहती हैं। कुछ विद्वान् बालखिल्यसूक्तों की ८० ऋचाओं को ऋग्वेद की ऋचाओं की गणना में नहीं लेते। वे उन्हें 'खिल' (परिशिष्ट) के रूप में समझते हैं। ये ही सब इस संख्या-विषमता के कारण हैं।

कात्यायन की ऋक्-सर्वानुक्रमणी में बालखिल्य-ऋचाओं और द्विपदाओं को मिलाकर ऋग्वेद की ऋचाओं की संख्या १०,५५२ दी है। परन्तु अध्ययन-काल में १४० नैमित्तिक द्विपदाओं के ७० चतुष्पदा मान लेने पर उपर्युक्त संख्या १०,४८२ ही रह जाती है। हाँ, दोनों ही दशाओं में पद, अक्षर आदि की संख्या एक-सी रहती है।

शतपथब्राह्मण के अग्निचयन-प्रकरण में लिखा है^१—प्रजापति ने ऋग्वेद के अक्षरों से १२,०००; यजुर्वेद के अक्षरों से ८,०००; और सामवेद के अक्षरों से ४,००० बृहती (३६ अक्षरों के) छन्द बनाये। इससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में $(१२००० \times ३६ =)$ ४,३२,००० अक्षर; यजुर्वेद में $(८००० \times ३६ =)$ २,८८,००० अक्षर; और सामवेद में $(४००० \times ३६ =)$ १,४४,००० अक्षर हैं। अथवा यह भी कह सकते हैं, कि जितने अक्षर अकेले ऋग्वेद में हैं, उतने ही यजुर्वेद और सामवेद दोनों में मिलाकर हैं। इसी प्रकार यदि ऋग्वेद के अक्षरों से पंक्ति (४० अक्षरों के) छन्द बनाये जायें तो $(४,३२,००० \div ४० =)$ १०,८०० होंगे और यजुर्वेद और सामवेद के संमिलित अक्षरों से भी इतने ही बनेंगे।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में आठ-आठ अध्यायों के आठ अष्टक, १० मण्डल, ६४ अध्याय, ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त^२ और २०२४^३ वर्ग हैं।^४

१. शतपथ ब्राह्मण, १०, ४, २, २२-२५।

२. ११ बालखिल्य सूक्तों के जोड़ने से सूक्तों की संख्या १०२८ हो जाती है।

३. इस संख्या में बालखिल्यों के १८ वर्ग भी संमिलित हैं। अन्यथा वर्गों की संख्या २,००६ है।

४. ऋग्वेद में १०,५८०^१/_४ ऋचाओं (मन्त्रों), १,५३,८२६ शब्दों और ४,३२,००० अक्षरों का होना पहले लिखा जा चुका है।

शाखा-भेद से ऋग्वेद के दो विभाग मिलते हैं। प्रथम विभाग मण्डल, अनुवाक और सूक्त में है और दूसरा अष्टक, अध्याय और वर्ग में।^१

प्रथम विभाग विचारपूर्वक किया गया प्रतीत होता है; क्योंकि प्रत्येक सूक्त में एक ऋषि की रचित ऋचायें ही दी गई हैं। इसी प्रकार एक अनुवाक में भी एक ही ऋषि के रचे सूक्त एकत्रित किये गये हैं। यदि एक ऋषि के या उसके वंशजों के बनाये बहुत-से सूक्त हैं, तो उन्हें एकाधिक अनुवाकों में इकट्ठा कर दिया है। हाँ, यदि किसी ऋषि के रचे सूक्तों की संख्या कम है, तो ऐसे अनेक ऋषियों के सूक्तों को एक ही अनुवाक में रख दिया है। परन्तु पिछले विभाग के नियम का कोई पता नहीं चलता। इन अष्टकों, अध्यायों और वर्गों का प्रारम्भ और समाप्ति बिना किसी नियम के ही हो जाती है। जैसे—सप्तम अष्टक, दशम मण्डल के ४५वें सूक्त के साथ ही समाप्त हो जाता है। यही दश अध्यायों और वर्गों की भी है। वर्ग एक मन्त्र से लेकर ९ मन्त्रों तक के मिलते हैं और ये सूक्त के प्रारम्भ या समाप्ति से संबन्ध नहीं रखते। सूक्त के बीच में-भी समाप्त हो जाते हैं। प्रथम विभाग में १० मण्डल होने से, वह 'दशतयी' या 'दाशतयी' कहाता है, और द्वितीय विभाग में आठ अष्टक होने से उसे अष्टतयी' कहते हैं।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ११४वें सूक्त में यह ऋचा है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावा पृथिवी तावदित्तत् ।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्टितं तावती वाक् ॥ ८ ॥

कुछ विद्वान् इसके प्रथम पाद में १५,००० उक्थों (अर्थात् मन्त्रों) का उल्लेख होना मानते हैं। परन्तु उक्थ का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है।

आगे ऋग्वेद के उपर्युक्त दोनों विभागों का विवरण दिया जाता है। इससे ज्ञात होगा, कि किस मण्डल में कितने अनुवाक् या सूक्त हैं; अथवा किस अष्टक में कितने अध्याय और वर्ग हैं।

१. कोई प्रथम विभाग में मण्डल, अनुवाक और वर्ग, तथा दूसरे में अष्टक अध्याय और सूक्त मानते हैं।

प्रथम विभाग			द्वितीय विभाग		
मण्डल	अनुवाक	सूक्त	अष्टक	अध्याय	वर्ग
१	२४	१९१	१	८	२६५
२	४	४३	२	८	२२१
३	५	६२	३	८	२२५
४	५	५८	४	८	२५०
५	६	८७	५	८	२३८
६	६	७५	६	८	३३१
७	६	१०४	७	८	२४८
८	१०	९२+११	८	८	२४६
९	७	११४			
१०	१२	१९१	८	६४	२०२४ ^३
१०	८५	१०१७+११			

वैदिक भाषा से परिचित होने के पूर्व तक पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों में मूल भाषा के विषय में बड़ा मतभेद था। कोई ग्रीक, कोई लैटिन और कोई (यहूदियों की) हिब्रू भाषा को सब भाषाओं की जननी मानता था। परन्तु १९वीं शताब्दी के मध्य में उनका परिचय वैदिक भाषा से होने पर, ये सारे विवाद मिट गये और वैदिक संस्कृत को ही प्राचीन भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ।

पहले लिखा जा चुका है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त की गई भाषा पूर्ण रूप से विकसित है। उसमें व्याकरण के नियम आदि पूर्ण रूप से निश्चित हैं। कारकों के प्रत्यय और क्रियाओं के काल, भाव, वचन और पुरुष भी नियत हैं।

भाषाशास्त्रियों का अनुमान है कि ऋग्वेद की भाषा के व्याकरण और धातुओं में तथा जेन्द, ग्रीक, लैटिन, ट्यूटोनिक, कैल्टिक और स्लैवोनिक भाषाओं के व्याकरण और धातुओं में समानता पायी जाती है। इससे इन सभी भाषाओं का किसी एक ही भाषा से उत्पन्न होना प्रकट होता है। इन भाषाओं के निकटतम संबन्धवाचक और जीवन के प्राथमिक अनुभवसूचक शब्दों में भी समानता मिलती है। साथ ही यह भी माना जाता है कि सप्त सिंधु के आर्यों की वैदिक भाषा

१. ११ बालखिल्य सूक्तों को जोड़ने से सूक्तों की संख्या १०२८ होती है।

२. इसमें बालखिल्यों के १६ वर्ग भी संमिलित हैं।

ही आधुनिक संस्कृत और जेन्द भाषाओं की जननी थी। इसी से इन दोनों (संस्कृत और जेन्द) में बहुत समानता है।^१ सप्त सिंधु से पश्चिम की ओर बढ़ने पर क्रमशः पश्तो, बलूची और ईरानी भाषायें मिलती हैं भाषा-विशारद इन्हे जेन्द की पुत्रियाँ मानते हैं। इसी प्रकार ऐफ्रिका की भाषायें तथा हिन्दी बंगला, गुजराती और मराठी भाषायें भी संस्कृत से उत्पन्न हुई मानी जाती हैं। परन्तु संस्कृत भाषा के शब्दों के रूप व्याकरण से निश्चित कर दिये जाने के कारण पुरानी भाषा से अधिक मिलते हैं।

आग उदाहरण के लिये संस्कृत, जेन्द और यूरोप की कुछ भाषाओं के समानार्थ बोधक शब्द दिये जाते हैं :—

संस्कृत	जेन्द	ग्रीक	लैटिन	अंगरेजी
मातर्	मादर	मेटर्	मैटर	मदर
पितर्		पेटर्	पैटर	फादर
भ्रातर्	ब्राटर	—	फ्रैटर	ब्रदर
सूनु ^१	—	—	—	सन
दुहितर	—	—	—	डौटर
पाद	पाधा	पुसयोडोस	पिसपीडस	फुट
जानु	ज्नु	ग्मेनु	जेनु	नी

१. अवेस्ता की भाषा का उदाहरण—“अएवो पन्ताओ यो अशहे, वीप्से अन्य एसां अपन्ताम्।” (गाथा)।

ह्यतता ऊर्वाता सशया वा मज्जदाओ ददाता खीति चा

अनीति चा... अत ऐपि ताईश अंघहती ऊश्ता ॥ (गाथा)

२. ‘सुनु’ के लिये लिथुआनियन भाषा में ‘सूनू’ और प्राचीन उच्च जर्मन में ‘सुनु’ शब्द मिलते हैं। [इसी प्रकार ईरानी (फारसी) भाषा में भी ‘मातर्’ के लिये ‘मादर’, ‘पितर्’ के लिये ‘पिदर’, ‘भ्रातर्’ के लिये ‘बिरादर’ और ‘दुहितर’ के लिये ‘दुष्टर’, ‘पद’ के लिये ‘पा’, ‘गो’ के लिये ‘गाव’, झू के लिये ‘अत्रू’ और ‘अस्’ के लिये अस्-हस् (तन) शब्द मिलते हैं]।

संस्कृत	जन्म	ग्रीक	लैटिन	अंगरेजी
प्लीहन्	—	स्प्लन	लियन	स्प्लीन
गोस्	गाव	वुस	बोस	काउ
वृक	वेहर्क	लुसक	लुपुस	बुल्फ
अहि	अजही	इखिस	अंगुइस	—
स्वप्न	गप्न	हुपनस	सोपर	स्लीप
अन्तर	अंतरा	इंटोस	इन्टर	इन
स्था	स्ता	हिस्तेमी	—	स्टैण्ड
हृद्	—	—	—	हार्ट
चक्र	चख्र	कुक्लोस	सीरअस	सर्कल
तरु	—	—	—	ट्री

इसी प्रकार के संस्कृत और यूरोप की भाषाओं के कुछ अन्य समानार्थक शब्द भी उद्धृत किये जाते हैं—

१. संस्कृत 'भग' शब्द के लिये प्राचीन स्लाव भाषा में 'बोगु' शब्द है। आगे दिल्ली के अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री के प्रकाशित किये संस्कृत और रूसी (स्लाव) भाषा के कुछ नमूने उद्धृत किये जाते हैं। इससे इन भाषाओं के संबंध का विशेष परिचय मिलेगा :—

संस्कृत—पूर्वे अग्निः पश्चाद्धूमः ।

रूसी—स्पेर्वा आगोन पटोम धुइम् ।

अर्थ—पहले आग पीछे धुआँ ।

संस्कृत—एते द्वे मदीये स्वसारौ, ते उभे त्वदीये स्वसारौ ।

रूसी—एति द्वे मोइ स्येस्त्री, ते आबे त्वोइ स्येस्त्री ।

अर्थ—ये दो मेरी बहिने हैं, वे दोनों तेरी बहिनें हैं ।

संस्कृत—आखेटक ! त्वं किं पिशितं अत्सि ? नैतत् ।

रूसी—आखोदिक ! तिलि पुश्चु एश ? नेत् ।

अर्थ—हे शिकारी ! क्या तू मांस खाता है ? नहीं ।

संस्कृत—मदीया स्नुषा न स्वपति दिने ।

रूसी—मोया स्नोखा न स्पिट द्नयों ।

अर्थ—मेरी पुत्रवधू दिन में नहीं सोती है ।

संस्कृत	स्लाव	रोमन	लैटिन	ग्रीक	ट्यूटन	प्राचीनजर्मन	जर्मन
अग्नि	ओग्निस	—	इग्निस	—	—	—	—
उल्का	—	वोल्कन	—	—	—	—	—

(यहां पर 'स्तुषा' के मूर्धन्य 'षकार' का उच्चारण 'खकार' के रूप में हुआ है)
संस्कृत—स्थविरा माता ददाति मधु समांसं एतस्यै विधवायै उभाभ्यां च
सूनुभ्याम् ।

रूसी— स्तरया माती दयोत् म्योद् स्म्यसं एतोय वदवे ओबोयं सिनोव्यम् ।
अर्थ— वृद्धा माता उस विधवा को और दोनों पुत्रों को मांस सहित मधु
देती है ।

आगे संस्कृत और रूसी भाषा के समानार्थवाची समय-सूचक शब्द दिये जाते हैं:

संस्कृत	रूसी	अर्थ
कदा	कोग्दा	कब
तदा	तोग्दा	तब
अन्यदा	इनोग्दा	अन्य समय
सर्वदा	व्सेग्दा	सब समय

(पाणिनि ने व्याकरण में समयवाचक क्रियाविशेषण बनाने के लिये ६ सर्वनामों के आगे 'द' लगाने का नियम बनाया है । रूसी भाषा में भी उनमें के उपर्युक्त चार सर्वनाम विद्यमान हैं और उस भाषा में भी उनके आगे 'द' लगाकर समयसूचक क्रियाविशेषण बनाये जाते हैं ।)

कुछ अन्य शब्द—

संस्कृत	रूसी	अर्थ
विना	व्ने	बगैर
वहिः	व्येज	बाहर
स्वसृ	स्येस्त्री	बहिन
द्वार	द्वेर	दरवाजा
पट्	पेस्ट	छै
अभ्रक	ओब्लको	बादल
दरी	दलिना	गुफा
श्रु	स्लुजित्	सुनना

संस्कृत	स्लाव	रोमन	लैटिन	ग्रीक	ट्यूटन	प्राचीनजर्मन	जर्मन
द्यौस् ^१	—	—	डिअस	जीअस	टायर	—	जिओ
द्यौस्पितर	—	—	—	जुपीटर	ट्यू	—	—
उपस्	—	—	—	इओस ^२	—	—	—
सूर्य	—	सोल?	सोल?	हेलिओस	टिर	—	—
सूनु	—	—	—	—	—	सुन्न	—
वरुण	—	—	—	उरनुस	—	—	—
पवन	—	पान	—	पान	—	—	—

संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं के समानार्थवाची कुछ अन्य शब्द—

संस्कृत के	यूरोपीय भाषाओं के	संस्कृत के	यूरोपीय भाषाओं के
वात	वोटने	प्रमन्थ	प्रोमेथिस
वाक्	ओक्स	ऋभु	आर्फियस
मरुत्	मार्स	शरण्यू	इरिनिस्
सारमेय	हर्मियस	पर्जन्य	पार्कुनस

संस्कृत और ईरानी भाषा के कुछ समानार्थ सूचक शब्द: —

संस्कृत	ईरानी
अग्नि	अतर
वरुण	वरण
भ्रू	अब्रू
भू	बू (दन)
अस्	हस् (तन)

१. यह 'दिव्' धातु से बना है। अतः आर्यों का अपने देवों को प्रकाशमान मानना सूचित होता है।

२. डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र का कथन है कि वेद में उषा के अन्य नाम अर्जुनि, त्रिसया, दहन्ता, सरमा, अहन्ता और सरण्यू मिलते हैं। ग्रीक इन्हें क्रमशः Argynoris, Brisis, Daphne, Helen, Athena और Erynis कहते हैं। लैटिन भाषा में अहन्ता को minerva कहा जाता है। जिस प्रकार भारतीय आर्यों के यहाँ सरण्यू के घोड़ी का रूप धर अश्विनीकुमारों को जन्म देने की कथा है, उसी प्रकार ग्रीकों के यहाँ एरिनिज देवी के घोड़ी का रूप ग्रहण कर अरियेन और डिस्पोना को जन्म देने की गाथा है। ग्रीक अश्विनों को कैस्टर और पोलक कहते हैं।

इन उदाहरणों से उपयुक्त भाषाओं की मातृभाषा का एक होना और इनको बोलने वाली जातियों का आर्यवंशज होना सिद्ध होता है। परन्तु जब ये लोग अपने मूल-निवास स्थान से चलकर भिन्न-भिन्न देशों में जा बसे, तब से वहाँ के जलवायु और वहाँ की परिस्थितियों के कारण इनकी मातृभाषा में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा, और इसी से कालान्तर में इन भाषाओं की उत्पत्ति हुई^१ तथा इन भाषाओं के बोलने वालों की भिन्न-भिन्न जातियाँ बन गईं।

डॉ. मैक्समूलर^२ आदि विद्वान् भाषा के इसी आधार पर भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, कटों (वेल्स और पश्चिमी फ्रांस के निवासियों) और पुराने जर्मनों को आर्य वंशज और एक ही स्थान से निकले मानते हैं। उनका कथन है कि ये सब किसी समय आर्य-भाषाभाषी थे। परन्तु बाद में देश, जल-वायु और अन्य लोगों के संपर्क के कारण इनकी भाषा ने भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिये और ये अनेक जातियों में परिणत हो गये।^३

१. तुर्की, फिनी और हंगरी की भाषायें भिन्न वर्ग की मानी जाती हैं।

२. ये ग्रीक कवि होमर-रचित ईलियड में के ट्राय के युद्ध की कल्पना का वैदिक वृत्र-युद्ध के आधार पर किया जाना मानते हैं।

३. यहाँ पर भाषा के आधार पर आर्य-जीवन के विषय में लगाये अनुमानों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

उपयुक्त सभी भाषाओं में पुत्री के लिये संस्कृत के 'दुह' धातु से बने 'दुहितृ' (दुहिता) शब्द से मिलते हुए दुख्तर, डॉटर (daughter) आदि शब्द प्राप्त होते हैं। 'दुहितृ' का अर्थ दूध दूहने वाली होता है। इससे प्रकट होता है कि आर्यों के यहाँ गाय दुहने का काम लड़की करती थी। उन में गाय के लिए गो, गाव, काउ (cow) जैसे मिलते हुए शब्द प्रयुक्त होने से उनका गाय पालना सूचित होता है। द्वार, दर, डोर (Door) शब्दों के मिलने से घरों में दरवाजों का रहना पाया जाता है। युग, योक (Yoke) शब्दों के कारण आर्यों का पशुओं को रथों या हलों में जोतना सूचित होता है। पशु, पेसस, पेकुस, पेहू शब्दों के पाये जाने से ज्ञात होता है कि उस समय वन्य पशुओं को पाश से पकड़ कर पाला जाता था। उस समय पशु ही घन समझा जाता था। इसी से लैटिन भाषा में पेसस या पिकस घन का वाची हो गया है। नौ, नेवी (Navy) और अरित्र, ओर (Oar) शब्दों द्वारा आर्यों का डाँड से चलाई जाने वाली नावों से परिचित रहना पाया जाता है। वय, वीव (Weave) आदि शब्दों से उनको कपड़ा बुनने का ज्ञान होना सूचित होता है।

परन्तु कुछ विद्वान एक भाषा बोलने से एक जाति का होना नहीं मानते । वे अपने मत की पुष्टि में अंगरेजी भाषा बोलने वाली विभिन्न जातियों का उदाहरण देते हैं ।^१ वे संस्कृत, जेन्द, ग्रीक और लैटिन को आर्यों की मूल भाषा की पुत्रियाँ मानते हैं । उनके मतानुसार ये भाषायें अपने विकृत रूप में मद्रास को छोड़कर समग्र भारत, अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और प्रायः समस्त यूरोप में बोली जाती हैं । वे लोग आर्य-भाषा और आर्य-संस्कृति का भारतीय और ईरानी व्यापारियों द्वारा, या उन (भारतीयों और ईरानियों) के उपनिवेशों द्वारा, चारों ओर फैलना मानते हैं ।

छद् धातु से छन्द बनता है, जिस का अर्थ ढकना है । यास्क ने भी अपने निरुक्त में लिखा है—“छन्दांसि छादनात्” । कृष्ण यजुर्वेद और अथर्ववेद के कुछ अंशों के अतिरिक्त सारी ही वैदिक संहितायें छन्दोबद्ध ऋग्वेद में हैं । पाणिनीय शिक्षा^३ में छन्द को वेद के पैर कहा है । वैदिक छन्द केवल अक्षरों की संख्या पर निर्भर हैं । उनमें लौकिक संस्कृत के छन्दों जैसा गुरु—लघु या मात्राओं का कोई नियम नहीं है,^४ न छन्द में चार चरण होना ही आवश्यक माना गया है । वैदिक छन्द एक से पांच पाद तक के मिलते हैं ।^५ इसके अतिरिक्त कभी-कभी छन्द के

१. उनका यह भी कहना है कि पश्चिमी यूरोप के निवासियों के एक बड़े भाग का किसी ऐसी उपजाति की सन्तान होना सिद्ध हो चुका है, जो उत्तरी अफ़्रीका से वहाँ गई थी । जर्मनों का अपने को आर्य कहना भी चिन्त्य ही है; क्योंकि आर्य-जाति की दो ही शाखायें होना सिद्ध होता है । एक संस्कृत बोलने वाली भारतीय हिन्दू जाति और दूसरी जेन्द (पहलवी) बोलने वाली ईरानी-पारसी जाति ।

२. निरुक्त ७।१९ ।

३. “छन्दः पादौ तु वेदस्य ।” (श्लोक ४)

४. यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः (कात्यायन की सर्वानुक्रमणी) अर्थात्, इनमें गण या मात्रा का विचार नहीं है ।

५. गायत्री, उष्णिक् और ककुभ् तीन पादवाले छन्द हैं । पंक्ति पांच पादों का होता है । गायत्री छन्द के तीनों पाद ८-८ अक्षरों के, उष्णिक् के प्रथम दो पाद ८-८ अक्षरों के और तीसरा पाद १२ अक्षरों का तथा ककुभ् के प्रथम और तृतीय पाद ८-८ अक्षरों के और द्वितीय पाद १२ अक्षरों का होता है । यदि द्वितीय और तृतीय पाद ८-८ अक्षरों के और प्रथम पाद १२ अक्षरों का हो तो वह ‘पुर उष्णिक्’ छन्द कहाता है । पंक्ति के पांचों पाद ८-८ अक्षर के माने गये हैं । अतिघृति में अलग पाद नहीं होते ।

किसी पाद में एक-दो अक्षरों की कमी या वृद्धि भी कर दी जाती है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में लिखा है^१—“ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ। द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ।” अर्थात् छन्द में एक अक्षर के कम होने से वह ‘निचृद्’ और एक अक्षर के अधिक होने से वह ‘भुरिक्’ कहा जाता है तथा दो अक्षरों के कम होने से वह ‘विराट्’ और दो अक्षरों के अधिक होने से ‘स्वराट्’ माना जाता है। जैसे (८×३) २४ अक्षरों के गायत्री छन्द में एक अक्षर के कम होने से वह ‘निचृद्गायत्री’ और एक अक्षर के अधिक होने से वह ‘भुरिग्गायत्री’ कही जाती है, इसी प्रकार दो अक्षरों के कम होने से ‘विराट्गायत्री’ और दो अक्षरों के अधिक होने से ‘स्वराट्गायत्री’ मानी जाती है। परन्तु उसी सर्वानुक्रमणी में यह भी लिखा है कि—“पादपूरणार्थं क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्।” अर्थात् पाद (के अक्षरों) की पूर्ति के लिए क्षैप्र (‘य’ या ‘व’) और यण्-सन्धि से उत्पन्न एकाक्षरों को पृथक् कर दे।^२

इसी प्रकार (गुणवाले) ‘ए’ और ‘ओ’ तथा (वृद्धिवाले) ‘ऐ’ और ‘औ’ को संधि-विच्छेद कर दो स्वरों में परिणत कर लें। जैसे—“ज्येष्ठ” को ‘जयिष्ठ’^३ और ‘ब्रह्मैत्विति’ को ‘ब्रह्म एतु इति’। तथा एकार और ओकार के सामने रहने से लुप्त हुए अकार को फिर से अलग करके दो स्वर कर ले। जैसे ‘नोऽव’ को ‘नो अव’। तथा दीर्घ सन्धिजात आकार को दो स्वरों में विभक्त कर ले। जैसे—‘ब्रह्मावदतो’ को ‘ब्रह्म अवदतो’ बना ले।

छन्दों के इन विभिन्न रूपों से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि छन्द का चतुर्थ चरण परिवर्तित कर, या उसमें न्यूनाधिक अक्षरों का प्रयोग कर मन्त्र की एक-सी चली आती लय में परिवर्तन करना उचित समझते थे। अनेक सूक्तों के अन्तिम मन्त्रों का छन्द भी उसके अन्य मन्त्रों के छन्दों से भिन्न मिलता है।

१. पृ. २.

२. जैसे यकार से संयुक्त ‘वरेण्य’ का पृथक्करण ‘वरेणिअं’; वकार से संयुक्त ‘त्वं’ का ‘तु अम्’ और रेफ से संयुक्त ‘इन्द्र’ का ‘इन्दर’ किया जाता है।

३. मं. ७, सू. ६५, ऋ. १। परन्तु यहां पर पृथक्करण में यह विशेषता है कि ज्येष्ठ की संधि का विच्छेद करने पर ज्य-इष्ठ रहना चाहिए, पर बोला ज्ययिष्ठ जाता है।

४. मं. ७, सू. ३६, ऋ. १।

५. मं. १, सू. ७, ऋ. ४।

६. मं. १०, सू. ११७, ऋ. ७।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के छन्दों का विवरण—

छन्दनाम	अक्षर-संख्या	मन्त्र-संख्या
१. गायत्री	२४	२४६७
२. उष्णिक्	२८	३४१
३. अनुष्टुप्	३२	८५५
४. वृहती	३६	१८१
५. पङ्क्ति	४०	३१२
६. त्रिष्टुप्	४४	४२५३
७. जगती	४८	१३५८
		(९७६७)
८. अतिजगती	५२	१७
९. शक्वरी	५६	१९
१०. अतिशक्वरी	६०	९
११. अष्टि	६४	६
१२. अत्यष्टि	६८	८४
१३. धृति	७२	२
१४. अतिधृति	७६	१
		(९९०५ ^१)

ऋग्वेद में आये अन्य छन्द

एक चरण वाले	६
नित्यद्विपदा (दो चरण वाले)	१७
प्रागाथा बार्हत	१९४
ककुभ्	५५
महाबार्हत	२५७
	(१०४३४ ^१)

१. इन सब छन्दों में प्रत्येक में क्रमशः ४-४ अक्षरों का अन्तर है। ये सब 'अक्षर छन्द' हैं। मुख्य छन्द २१ माने गये हैं। ये २४ अक्षरों से १०४ अक्षरों तक के होते हैं।

२. इनमें स्वर से ३५८९, कवर्ग से ४०७, चवर्ग से १४२, तवर्ग से १८३३, पवर्ग से १३७७, अन्तःस्थ से १७६३ और ऊष्म अक्षरों से १३५६ मन्त्र प्रारम्भ होते हैं। इस प्रकार मन्त्रों की संख्या १०,४६७ हो जाती है।

उपर्युक्त गणना में और अनुवाकानुक्रमणी में दी गई ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या में $१४६\frac{१}{४}$ का अन्तर आता है।^१ वहां पर मन्त्रों की संख्या $१०५८०\frac{३}{४}$ दी गई है।

इनके अतिरिक्त अक्षरों और पादों के भेद से कुछ अन्य छन्द भी ऋग्वेद में पाये जाते हैं। जैसे—पदपंक्ति, वर्धमान, प्रतिष्ठा आदि। इसी प्रकार उसमें प्रागाथा (मिश्रित) छन्द भी मिलते हैं। जैसे—बार्हत, ककुभ्, महाबार्हत, आदि।

ऋग्वेद के कुछ अन्य अवान्तर छन्द ये माने जाते हैं : महापंक्ति, पञ्चपदा-पंक्ति, प्रस्तारपंक्ति, विस्तारपंक्ति, आस्तारपंक्ति, अष्टकवती, पुरजष्णिक्, उष्णिग्गर्भा, अयुक्वृहती, युक्वृहती, सती वृहती, युवसती वृहती, महावृहती, मध्या, यवमध्या, सावित्री, ज्योतिः, विराट्।

ऊपर दी हुई छन्दों की गणना को देखने से प्रकट होता है कि ऋग्वेद में सबसे अधिक संख्या त्रिष्टुप् छन्द की ही है। इसके बाद क्रमशः गायत्री और जगती छन्दों की संख्यायें हैं।

इसी त्रिष्टुप् छन्द में पीछे से श्रवण-मधुरता के लिए—अक्षरों के साथ लघु-गुरु (गणों) के नियम जोड़ने से इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि ११ अक्षरों के पाद-वाले लौकिक संस्कृत के छन्दों का जन्म हुआ है। जगती से १२ अक्षरों के पाद वाले 'वंशस्थ' की उत्पत्ति हुई है और सामगायकों की प्रिय शक्वरी से 'वसन्त-तिलका' का प्रादुर्भाव हुआ है। इस समय भी अनुष्टुप् छन्द में लघु-गुरु का बन्धन बहुत ही थोड़ा है। इसी से स्मृतियों आदि में इसका प्रयोग अधिकता से मिलता है।

ऋषियों ने (१) गायत्री छन्द की उत्पत्ति अग्नि से, (२) उष्णिक् की सूर्य से, (३) अनुष्टुप् की सोम से, (४) वृहती की बृहस्पति से, (५) विराट् की मैत्रावरुण से, (६) त्रिष्टुप् की इन्द्र से और (७) जगती की विश्वेदेवों से मानी है। ये सातों छन्द चारों संहिताओं में मिलते हैं। परन्तु कहीं-कहीं शक्वरी का महत्त्व भी प्रदर्शित किया गया है।

पाणिनि ने वेद की परिभाषा के लिए छन्दस् शब्द का प्रयोग किया है।^१ विद्वानों का अनुमान है कि पारसियों की धर्मपुस्तक का नाम 'जेन्द' इसी 'छन्दस्' शब्द का विगड़ा हुआ रूप है।

१. सम्भव है यह संदिग्ध छन्दों वाले मन्त्रों को गणना में न लेने के कारण हो।

२. "बहुलं छन्दसि" ७।१।८. ।

पहले लिखा जा चुका है कि ऋग्वेद के पहले, नवें और दसवें मण्डल में अनेक ऋषियों के रचे सूक्त हैं। इसी प्रकार दूसरे मण्डल में गृत्समद और उसके वंशजों के, तीसरे में विश्वामित्र और उसके वंशजों के, ऋग्वेद के चौथे मण्डल में वामदेव और उसके वंशजों के, पांचवें मण्डल ऋषि में अत्रि और उसके वंशजों के, छठे में— भरद्वाज और उसके वंशजों के, सातवें में वसिष्ठ और उसके वंशजों के, तथा आठवें मण्डल में कण्व और अङ्गिरा तथा उनके वंशजों के द्वारा रचे गये सूक्त हैं।^१ विश्वामित्र के अतिरिक्त ये सब जन्मजात ब्रह्मर्षि थे और राजर्षि विश्वामित्र ने अपने तपोबल से यह पद प्राप्त किया था।

परन्तु दसवें मण्डल के ऋषियों में ३१वें सूक्त के इलूष-पुत्र कवष, ९१वें के वीतहव्य-पुत्र आरुण, १३३वें के पिजवन-पुत्र सुदास और १३४वें के मान्धाता-पुत्र यौवनाश्व (और प्रतर्दन) आदि राजर्षियों के नाम भी मिलते हैं।

इसी प्रकार उसमें ४६वां सूक्त वैश्य वत्सप्रि भालन्दन का रचा और १७५वां सूक्त अनार्य सर्पर्षि अर्बुद-पुत्र ऊर्ध्वग्रावा का बनाया भी है।

स्त्री-ऋषियों में रोमशा^२, अगस्त्य (और उन) की पत्नी, लोपामुद्रा^३, अत्रि-गोत्रीया विश्ववारा^४, शक्ति गोत्रीया गौरिवीति, प्रसङ्गभार्या तथा अङ्गिरा-कन्या शाश्वती, अत्रि-पुत्री अपाला^५, कक्षीवान्-पत्नी घोषा^६, बृहस्पति-पत्नी ब्रह्मवादिनी जुहू^७, अम्भृण-पुत्री वाक्^८, इन्द्राणी^९, कामगोत्रीया श्रद्धा^{१०}, विवस्वत्पुत्री यमी,

१. "यस्य वाक्यं स ऋषिः" जिसका वचन हो वही (उसका) ऋषि है। (कात्यायन)

२. मं. १, सू. १२६, ऋ. ६-७.

३. मं. १, सू. १७९.

४. मं. ५, सू. २८.

५. मं. ८, सू. ८०.

६. मं. १०, सू. ३९-४०.

७. मं. १०, सू. १०९.

८. मं. १०, सू. १२५.

९. मं. १०, सू. १४५।

(मं. १०, सू. ८६, ऋ. २, ४, ७, ९, १०, १५, १८, २२, २३; और मं. १० सू. १५९ की बनाने वाली भी यही इन्द्राणी है; तथा मं. १०, सू. १५३ की रचनेवाली इन्द्र-माता है।)

१०. मं. १०, सू. १५१.

११. मं. १०, सू. १५४

सूर्य-पुत्री सूर्या^१, पुलोम-पुत्री शची^२, सर्पराज्ञी^३, ऋषिका, दीर्घतमा की माता ममता^४, उर्वशी^५, आदि के नाम मिलते हैं।

कुछ मन्त्रों के रचयिता, उन मन्त्रों में आये नाम वाले व्यक्तियों को, या उन मन्त्रों में जिन देवताओं की स्तुति की गई है उनको, अथवा उनमें जिनके संवाद हैं उनको, मान लिया गया है। प्रथम प्रकार का उदाहरण १०वें मण्डल का १०२वां सूक्त है। इसमें मुद्गल का नाम है, और वही उक्त सूक्त का ऋषि कहा गया है। द्वितीय प्रकार का उदाहरण १०वें मण्डल का ९०वां (पुरुष) सूक्त है। इसमें नारायण के विराट् रूप का वर्णन और उनकी स्तुति है तथा इसीसे इसके ऋषि नारायण माने गये हैं। तृतीय प्रकार का उदाहरण १०वें मण्डल का ९५वां सूक्त है। इसमें पुरुषा और उर्वशी का संवाद होने से वे ही इसके ऋषि समझे गये हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जिनमें उनके रचयिता ऋषियों के नाम बड़े आदर के साथ दिये गये हैं। इससे अनुमान होता है कि सम्भवतः ये उन ऋषियों की रचना न होकर उनके वंशजों की रचना है। जैसे वसिष्ठ की देवताओं से उत्पत्ति सूचित करने वाले मन्त्र आदि।

ऋग्वेद में ऋषियों से संबन्ध रखने वाली पौराणिक कथाओं के बीज भी मिलते हैं। जैसे—मित्र और वरुण से वसिष्ठ की उत्पत्ति। अत्रि के पौत्र—(अर्चनाना) के पुत्र श्यावाश्व का एक राजकन्या पर आसक्त होकर उससे विवाह करने के लिए ऋषि (मन्त्र-रचयिता) बनना। हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित द्वारा वरुण को बलि देने के लिए, खरीदे गये शुनःशेप का वरुण की स्तुति कर बन्धन-मुक्त होना और विश्वामित्र का उसे गोद लेना। इसी प्रकार अपाला आदि के अन्य अनेक आख्यान भी मिलते हैं।

ऋग्वेद के ९वें मण्डल के ६७वें सूक्त के ३२ मन्त्रों में से पहले २१ मन्त्र ३-३ करके क्रमशः भरद्वाज, कश्यप, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ नाम के सात ऋषियों की रचना कहे गये हैं, और पिछले ११ वसिष्ठ-गोत्री-

१. मं. १०, सू. ८५.

२. मं. १०, सू. १५९.

३. मं. १०, सू. १८९.

४. मं. १०, सू. १०, ऋ. २.

५. मं. १०, सू. ९५, ऋ. २, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १६, १८.

पवित्र के रचे माने गये हैं। परन्तु इन ११ मन्त्रों में के पिछले दो मन्त्र इस सूक्त की फलस्तुति के समान प्रतीत होते हैं, और इनकी भाषा भी पीछे की-सी मालूम होती है।

नीचे प्रत्येक मण्डल में आये ऋषियों के नामों की यथासाध्य विशद सूची दी जाती है—

प्रथम मण्डल के ऋषि

१. विश्वामित्र-पुत्र मधुच्छन्दा २. मधुच्छन्दा-पुत्र जेता, ३. कण्व-पुत्र मेघातिथि, ४. अजीगर्त-पुत्र शुनः शेष, ५. अङ्गिरा-पुत्र हिरण्य स्तूप, ६. घोर-पुत्र कण्व, ७. कण्व-पुत्र प्रस्कण्व, ८. अङ्गिरा-पुत्र सव्य, ९. गौतम-पुत्र नोधा, १०. शक्ति-पुत्र पराशर ११. रूहण-पुत्र गौतम, १२. अङ्गिरा-पुत्र कुत्स, १३. मरीचि-पुत्र कश्यप, १४. वृषागिर के पांच पुत्र १. ऋजाश्व, २. अम्बरीष, ३. सहदेव, ४. भयमान और ५. सुराधा, १५. आप्त्यन्त्रित, १६. आप्त्यन्त्रित अथवा अङ्गिरा-पुत्र कुत्स, १७. दीर्घतमा-अपत्य कक्षीवान्, १८. भावयव्य, १९. लोमशा, २०. दिवोदास-पुत्र परुच्छेद, २१. उत्थ-पुत्र दीर्घतमा, २२. अगस्त्य, २३. इन्द्र, २४. लोपामुद्रा ।

द्वितीय मण्डल के ऋषि

१. गृत्समद^१ और उनके वंशज तथा २. भृगु-अपत्य सोमाहुति ।

तृतीय मण्डल के ऋषि

१. विश्वामित्र (और उनके वंशज), २. विश्वामित्र-पुत्र अपत्य, ३. कत-गोत्रीय उत्कील, ४. विश्वामित्र-अपत्य कत, ५. कुशिक-अपत्य गाधी, ६. भरत-पुत्र देवश्रवा और ७. देवावात, ८. इषीरथ-अपत्य कुशिक, ९. नदी १०. अङ्गिरा-वंशज घोर, ११. विश्वामित्र-पुत्र प्रजापति या वाक्-पुत्र प्रजापति, मतान्तर से जमदग्नि ।

चतुर्थ मण्डल के ऋषि

१. वामदेव (और उनके वंशज); २. पुरुकुत्स-पुत्र राजर्षि त्रसदस्यु ३. सुहोत्रपुत्र पुरुमील्ह और ४. अजमील्ह ।

पञ्चम मण्डल के ऋषि

१. अत्रि (और उनके वंशज), २. अत्रिवंशीय वृध और ३. गविष्ठिर, ४. अत्रि-पुत्र कुमार (अथवा जर-पुत्र वृष), ५. अत्रिवंशीय वसुश्रुत, ६. इष,

१. ये कारणवश भृगुवंशी मान लिये गये थे ।

७. अत्रि-अपत्य गय, ८. अत्रि-अपत्य सुतम्भर, ९. अङ्गिरा-अपत्य धरुण, १०. अत्रि-पुत्र पुरु, ११. अत्रि-अपत्य द्वित, १२. अत्रि-अपत्य वत्रि, १३. अत्रि-अपत्य प्रयस्वत्, १४. अत्रि-अपत्य सस, १५. अत्रि-अपत्य विश्वसामा, १६. अत्रि-अपत्य द्युम्न, १७. बन्धु, १८. सुबन्धु, १९. श्रुतबन्धु और २०. विप्रबन्धु, २१. अत्रि-अपत्य वसुयु, २२. द्विवृष्ण-अपत्य त्र्यरुण, २३. पुरुकुत्स-अपत्य त्रसदस्यु, २४. भरत-अपत्य अश्वमेध, २५. अत्रिगोत्रीया विश्ववारा, २६. शक्ति-गोत्रीया गौरिवीति, २७. बभ्रु, २८. अत्रि-अपत्य अवस्यु, २९. अत्रि-अपत्य गातु, ३०. प्रजापति-अपत्य संवरण, ३१. अङ्गिरा-अपत्य प्रभूवसु, ३२. अत्रि-अपत्य भौम, ३३. कश्यप-अपत्य अवत्सार, ३४. सदापृण, ३५. प्रतिक्षत्र, ३६. प्रतिरथ, ३७. अत्रि-अपत्य प्रतिभानु, ३८. अत्रि-अपत्य प्रतिप्रभ, ३९. अत्रि-अपत्य स्वस्ति, ४०. अत्रि-अपत्य श्यावाश्व, ४१. अत्रि-अपत्य श्रुतिविद, ४२. अत्रि-अपत्य अर्चनाना, ४३. अत्रि-अपत्य रातहव्य, ४४. अत्रि-अपत्य यजत, ४५. अत्रि-अपत्य उरुचक्रि, ४६. बाहु-वृक्त, ४७. अत्रि-अपत्य पौर, ४८. अत्रि-अपत्य सप्तवध्नि ४९. अत्रि-अपत्य सत्यश्रवा, ५०. अत्रि-अपत्य एवयामरुत् ।

षष्ठ मण्डल के ऋषि

१. बृहस्पति-अपत्य भरद्वाज (और उनके वंशज), २. अङ्गिरा-पुत्र वीतहव्य, ३. सुहोत्र, ४. शुनहोत्र, ५. नर, ६. बृहस्पति-पुत्र शंयु, ७. भरद्वाज-पुत्र गर्ग, ८. भरद्वाज-पुत्र ऋजिश्वा, ९. भरद्वाज-पुत्र पायु ।

सप्तम मण्डल के ऋषि

१. वसिष्ठ (और उनके वंशज), २. अग्नि-पुत्र कुमार ।

अष्टम मण्डल के ऋषि

१. घोर-पुत्र कण्व (और उनके वंशज) (तथा अङ्गिरोवंशज), २. कण्व-गोत्रीय मेघ्यातिथि और ३. मेधातिथि, ४. कण्व-बंधु या पुत्र प्रगाथ, ५. असङ्ग (राजपुत्र), ६. असङ्ग-भार्या तथा अङ्गिरा-कन्या शाश्वती, ७. अङ्गिरा-गोत्रीय प्रियमेध, ८. देवातिथि, ९. कण्व-गोत्रीय ब्रह्मातिथि, १०. कण्व-गोत्रीय वत्स, ११. कण्व-गोत्रीय सध्वंसाख्य, १२. शशकर्ण, १३. कण्व-गोत्रीय पर्वत, १४. कण्व-गोत्रीय नारद, १५. कण्व-गोत्रीय गोसूक्ति और १६. अश्वसूक्ति, १७. इरिन्विठि, १८. कण्व-गोत्रीय सोभरि, १९. अङ्गिरोगोत्रीय व्यश्व-पुत्र वैयश्व (विश्वमना), २०. विवस्वान्-पुत्र मनु, २१. मरीचि-पुत्र कश्यप अथवा वैवस्वत, २२. कण्व-गोत्रीय प्रियमेध, २३. कण्व-गोत्रीय नीपातिथि, २४. कण्व-गोत्रीय श्यावाश्व,

२५ कण्व-गोत्रीय नाभाक, २६ अर्चनाना, २७ अङ्गिरा-पुत्र विरूप, २८ कण्व गोत्रीय त्रिशोक, २९ अश्व-पुत्र वश, ३० आप्यत्रित, ३१ प्रगाथ-पुत्र भर्ग, ३२ प्रगाथ-पुत्र कलि, ३३ महामीन समद-पुत्र मत्स्य (या मित्र और वरुण-पुत्र मान्य अथवा जालवद्ध मत्स्य), ३४ पुरुहन्मा, ३५ सुदिति, ३६ पुरुमीढ, ३७ प्रगाथ-पुत्र हर्षत, ३८ सप्तवध्नि, ३९ गोपवन, ४० कण्व-गोत्रीय कुरुसुति, ४१ कृत्नु, ४२ नोधा-पुत्र एकद्यु, ४३ कण्वगोत्रीय कुसीदी, ४४ कवि-पुत्र उशाना, ४५ आङ्गिरस कृष्ण, ४६ कृष्ण-पुत्र विश्वक, ४७ वसिष्ठ-पुत्र द्युम्नीक, ४८ गौतम नोधा, ४९ अङ्गिरोगोत्रीय नृमेध, ५० पुरुर्मेध, ५१ अत्रि-पुत्री अपाला, ५२ श्रुतकक्ष या सुकक्ष, ५३ बिन्दु अथवा पूतदक्ष, ५४ आङ्गिरस् तिरस्वी, ५५ मरुत्-पुत्र द्युतान, ५६ रेभ, ५७ भृगु-गोत्रीय नेम, ५८ भृगु-गोत्रीय जमदग्नि, ५९ भार्गव प्रयोग, ६० बृहस्पति-पुत्र अग्नि, ६१ सह-पुत्र यविष्ठ, ६२ कण्व-पुत्र प्रस्कण्व, ६३ पुष्टिगु, ६४ श्रुष्टिगु, ६५ आयु, ६६ मेध्य, ६७ मातरिश्वा, ६८ कृश, ६९ पृषध, ७० सुपर्ण ।

नवम मण्डल के ऋषि

१. विश्वामित्र-गोत्रीय मधुच्छन्दा, २ मेधातिथि, ३ शुनःशेप, ४ कश्यप-गोत्रीय असित और ५ देवल, ६ अगस्त्य-पुत्र दृढच्युत, ७ दृढच्युत-पुत्र इध्मवाह, ८ अङ्गिरा-पुत्र नृमेध, ९ प्रियमेध, १० अङ्गिरा-पुत्र बिन्दु, ११ रहूगण-पुत्र गोतम, १२ आत्रेय श्यावास्य, १३ त्रित, १४ मित्र, १५ अङ्गिरा-पुत्र प्रभू वसु, १६ रहूगण, १७ आङ्गिरस बृहन्मति, १८ कण्व-गोत्रीय मेध्यातिथि, १९ अयास्य, २० भृगु-पुत्र कवि, २१ आङ्गिरस उत्थ्य, २२ कश्यप-गोत्रीय अवत्सार, २३ आङ्गिरस अमहीयु, २४ भार्गव जमदग्नि, २५ कश्यप-गोत्रीय निध्रुव, २६ मरीचि-पुत्र कश्यप, २७ वरुण-पुत्र भृगु, २८ शतवैखानस, २९ बार्हस्पत्य भरद्वाज, ३० मारीच कश्यप, ३१ भौम, ३२ अत्रि, ३३ गाघिन विश्वामित्र, ३४ मैत्रा वरुणि वसिष्ठ, ३५ आङ्गिरस पवित्र, ३६ भलन्दन-पुत्र वत्सप्रि, ३७ आङ्गिरस हिरण्यस्तूप, ३८ विश्वामित्र-गोत्रीय रेणु, ३९ विश्वामित्र-गोत्रीय ऋषभ, ४० आङ्गिरस हरिमन्त, ४१ आङ्गिरस पवित्र, ४२ दीर्घतमा-पुत्र कक्षीवान्, ४३ भार्गव कवि, ४४ भरद्वाज-गोत्रीय वसुनामा, ४५ वाक्-पुत्र प्रजापति, ४६ भार्गव वेन, ४७ आकृष्ट, ४८ माष, ४९ सिकता, ५० निवावरी, ५१ पृश्नि, ५२ अज, ५३ गृत्समद, ५४ काव्य उशाना, ५५ मारीच कश्यप, ५६ गोतम-गोत्रीय नोधा, ५७ आङ्गिरस कण्व, ५८ कवि-पुत्र प्रस्कण्व, ५९ दिवोदास-पुत्र प्रतर्दन, ६० इन्द्र-पुत्र वृषगण, ६१ मन्यु, ६२ उपमन्यु, ६३ व्याघ्रपाद्, ६४ शक्ति, ६५ कर्णश्रुत, ६६ मूलीक, ६७ वसुश्रु, (ये सब वसिष्ठ-गोत्रज हैं)

६८ शक्ति-पुत्र पराशर, ६९ आङ्गिरस कुत्स, ७० वृषागिर-पुत्र अम्बरीष, ७१ भरद्वाज-पुत्र ऋजिश्वा, ७२ कश्यप रेभ और ७३ सूनु, ७४ श्यावाश्व-पुत्र अधिगु, ७५ नहुष-पुत्र ययाति, ७६ मनु-पुत्र नहुष, ७७ संवरण-पुत्र मनु, ७८ वाक्-पुत्र विश्वामित्र (या प्रजापति), ७९ आप्त्य-पुत्र त्रित, ८० कश्यप-पुत्र पर्वत और ८१ नारद, ८२ ऋक्षुः-पुत्र अग्नि, ८३ मनु-पुत्र चक्षु, ८४ अप्सु-पुत्र मनु, अग्नि, ८५ भरद्वाज, ८६ कश्यप आदि सात ऋषि, ८७ गौरवीति, ८८ उरु, ८९ ऊर्ध्व-सद्मा, ९० कृतयशा, ९१ ऋणञ्चय, ९२ ईश्वर-पुत्र अग्नि, ९३ त्र्यरुण, ९४ त्रसदस्यु, ९५ परक्षेप-पुत्र अनानत, ९६ आङ्गिरस शिशु ।

दशम मण्डल के ऋषि

१ आपत्यत्रित, २ त्वष्टा-पुत्र त्रिशिरा, ३ अम्बरीष-पुत्र सिन्धुद्वीप, ४ यम-यमी, ५ अङ्गि-पुत्र-हविर्घानि, ६ विवस्वान्, ७ वैवस्वत यम, ८ यम-पुत्र शङ्ख, ९ यम-पुत्र दमन, १० यम-पुत्र देवश्रवा, ११ यम-पुत्र सङ्कुसुक, १२ यम-पुत्र मथित, १३ प्रजापति-पुत्र विमद, १४ इन्द्र-पुत्र वसुक, १५ इलूष-पुत्र कवष, १६ घनाक-पुत्र लूष, १७ सूर्य-पुत्र अभितपा, १८ मुष्कवान् इन्द्र, १९ कक्षीवान्-पुत्री घोषा, २० घोषा-पुत्र सुहस्त, २१ आङ्गिरस कृष्ण, २२ भालन्दन वत्सप्रि, २३ आङ्गिरस सप्रगु, इन्द्र, देव-वृन्द, अग्नि, २४ वामदेव-पुत्र बृहदुवथ, २५ सुवन्धु के भ्राता वन्धु, २६ श्रुतवन्धु और २७ विप्रवन्धु आदि, २८ मनु-पुत्र नाभानेदिष्ट, २९ प्लुति-पुत्र गय, ३० वसुकु-पुत्र वसुकर्ण, ३१ आङ्गिरस अयास्य, ३२ वद्यश्च-पुत्र सुमित्र, ३३ लोकनामा-पुत्र बृहस्पति, ३४ शक्ति-पुत्र गौरवीति, ३५ प्रियमेध-पुत्र सिन्धुक्षित्, ३६ इरावान्-पुत्र जरत्कर्ण, ३६ भृगु-गोत्रीय स्यूमरश्मि, ३८ वाजम्भर-पुत्र सप्ति, ३९ सुचीक-पुत्र वैश्वानर, ४० भुवन-पुत्र विश्वकर्मा, ४१ तपः-पुत्र मन्यु, ४२ सूर्या, इन्द्र, वृषाकपि, इन्द्राणी आदि, ४३ भरद्वाज-पुत्र पायु, ४४ मूर्धन्वा, ४५ विश्वामित्र-पुत्र रेणु, ४६ नारायण, ४७ वीतहव्य-पुत्र अरुण, ४८ मनु-पुत्र शर्याति, ४९ पृथु-पुत्र ताम्ब, ५० अर्बुद, ५१ उर्वशी, ५२ पुरूरवा, ५३ आङ्गिरस वरु, ५४ अथर्वा-पुत्र भिषक्, ५५ ऋष्टिषेण-पुत्र देवापि, ५६ वैखानस वस्त्र, ५७ वन्दन-पुत्र द्युवस्यु, ५८ सोम-पुत्र बुध, ५९ भर्माश्व-पुत्र मुद्गल, ६० इन्द्र-पुत्र अप्रतिरथ, ७१ विश्वामित्र-पुत्र अष्टक, ६२ उत्स-पुत्र सुमित्र और ६३ दुर्मित्र, ६४ कश्यप-पुत्र भूतांश, ६५ आङ्गिरस दिव्य, ६६ पणिगण और सरमा, ६७ ब्रह्मवादिनी जुह, ६८ भार्गव जमदग्नि, ६९ वैरूप अष्टादंष्ट्र ७० विरूप-गोत्रीय नमःप्रभेदन, ७१ शैवरूप शतप्रभेदन, ७२ वैरूप सध्रि, ७३ वृष्टिहव्य-पुत्र उपहृत, ७४ स्थूल-पुत्र अग्निष्मृत, ७५

आङ्गिरस भिक्षु, ७६ अमहीय-गोत्रज उरुक्षय, ७७ लवरूपी इन्द्र, ७८ अथर्वा-
 पुत्र बृहद्वि, ७९ प्रजापति-पुत्र हिरण्य गर्भ, ८० वसिष्ठ-पुत्र चित्रमहा, ८१
 भार्गव वेन, ८२ अग्नि आदि, ८३ अम्भृण-पुत्री वाक्, ८४ शिलूष-पुत्र कुलमल-
 वर्हिष, ८५ सोमरि-पुत्र कुशिक, ८६ अङ्गिरस-पुत्र विहव्य, ८७ परमेष्ठी
 प्रजापति, ८८ प्रजापति-पुत्र यज्ञ, ८९ कक्षीवान्-पुत्र सुकीर्ति, ९० नृमेघ-पुत्र
 शकपूत, ९१ पिजवन-पुत्र सुदास, ९२ युवनाश्व-पुत्र मान्वाता, ९३ यम-गोत्रीय
 कुमार, ९४ जूति आदि, ९५ भरद्वाज, ९६ कश्यप, ९७ गौतम, ९८ अत्रि, ९९
 विश्वामित्र, १०० जमदग्नि और १०१ वसिष्ठ, १०२ ऊरु-पुत्र अङ्ग, १०३
 विश्वावसु गन्धर्व, १०४ अर, १०५ (जरिता आदि पक्षी), १०६ सङ्ख्य-पुत्र अत्रि,
 १०७ ताक्ष्य-पुत्र सुपर्ण, १०८ इन्द्राणी, १०९ इरस्मद-पुत्र देवमुनि, ११० शिरीष-
 पुत्र सुवेदा, १११ वेन-पुत्र पृथु, ११२ हिरण्यस्तूप-पुत्र अर्चत्, ११३ वसिष्ठ-पुत्र
 मृडीक, ११४ कामगोत्रीया श्रद्धा, ११५ भारद्वाज शास, ११६ इन्द्र-माता, ११७
 विवस्वान्-पुत्री यमी, ११८ भरद्वाज-पुत्र शिरिन्विठ, ११९ अग्नि-पुत्र केतु,
 १२० आप्य-पुत्र भुवन, १२१ सूर्य-पुत्र चक्षु, १२२ पुलोम-पुत्री शची, १२३ विश्वा-
 मित्र-पुत्र पूरण, १२४ प्रजापति-पुत्र यक्षमनाशन, १२५ ब्रह्म-पुत्र रक्षोहा, १२६
 कश्यप-गोत्रीय विवृहा, १२७ आङ्गिरस प्रचेता, १२८ निर्ऋति-पुत्र कपोत, १२९
 वैराज ऋषभ, १३० वात-गोत्रीय अनिल, १३१ कक्षीवान्-पुत्र शवर, १३२ सूर्य-
 पुत्र विभाट्, १३३ भृगु-पुत्र इट, १३४ आङ्गिरस संवर्त, १३५ आङ्गिरस ध्रुव,
 १३६ आङ्गिरस अमीवर्त, १३७ सर्पिणि अर्बुद-पुत्र ऊर्ध्वग्रावा, १३८ ऋभु-पुत्र
 सूनू, १३९ प्रजापति-पुत्र पतङ्ग, १४० ताक्ष्य-पुत्र अरिष्टनेमि, १४१ उशीनर-पुत्र
 शिवि, १४२ प्रतर्दन, १४३ रोहिदश्व-पुत्र वसुमना, १४४ इन्द्र-पुत्र जय, १४५
 वासिष्ठ प्रथ, १४६ भारद्वाज सप्रथ, १४७ सूर्य-पुत्र घर्म, १४८ बृहस्पति-पुत्र
 तपुर्मूर्धा, १४९ प्रजापति-पुत्र प्रजावान्, १५० त्वष्टा, १५१ वरुण-पुत्र सत्यघृति,
 १५२ वात-गोत्रीय उल, १५३ अग्नि-पुत्र वत्स, १५४ अग्नि-पुत्र श्येन, १५५
 सार्वराजी ऋषिका, १५६ मधुच्छन्दा-पुत्र अधमर्षण, १५७ संवनन ।

ऋग्वेद में अनेकदेवतावाद^१ और एकदेवतावाद, दोनों ही मिलते हैं ।

उसके प्रथम मण्डल में कहा^२ है—

ऋग्वेद के ये देवासोदिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ ।

देवता

अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्

अर्थात्—जो ११ देवता आकाश में हैं, जो ११ देवता पृथ्वी

१. यास्क ने अपने निरुक्त में देवता के विषय में लिखा है—

“देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा ।” दैवतकाण्ड १, ५.

२. मं. १, सु. १३९, ऋ. ११.

पर हैं और जो ११ देवता अन्तरिक्ष में हैं, वे देवता इस यज्ञ का उपभोग करें।

उसके तीसरे मण्डल में लिखा है^१—

अभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः ।

पत्नीवत स्त्रिंशत् त्रींश्च दैवाननुष्वधमावह मादयस्व ॥

अर्थात्—हे अग्नि ! इन सब देवताओं के साथ एक रथ पर या अनेक रथों पर बैठकर हमारे सामने आओ ! तुम्हारे घोड़े समर्थ हैं । पत्नियों से युक्त ३३ देवताओं को अन्न के लिए लाओ और सोम द्वारा प्रसन्न करो ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने इन ३३ देवताओं में ८ वसु (पृथ्वी के), ११ रुद्र (आकाश के), १२ आदित्य (द्युलोक के) तथा एक इन्द्र और एक प्रजापति माने हैं।^२ ऋग्वेद में एक स्थान पर ३४ देवताओं का भी उल्लेख है।^३ परन्तु ऋग्वेद के नवें मण्डल में इनकी संख्या ३, ३३९ कही है।^४

साधारणतया जिस सूक्त या मन्त्र में जिसकी स्तुति की गई है, उस सूक्त या मन्त्र का वही देवता माना जाता है।

ऋग्वेद के देवताओं में अग्नि, इन्द्र और वरुण ये तीन देवता विशेष महत्त्व रखते हैं।

अग्नि—इसके तीन रूप हैं। पृथ्वी पर अग्नि, आकाश में विजली (वायु या

१. मं. ३, सू. ६, ऋ. ९; मं. १, सू. ३४, ऋ. ११; मं. १, सू. ४५, ऋ. २; मं. ९, सू. ९३, ऋ. २ और मं. १०, सू. ५५, ऋ. ३। (तैत्तिरीय संहिता में भी ११ देवताओं को आकाश में, ११ को पृथ्वी पर और ११ को अन्तरिक्ष में माना है (१, ४, १०, १)।

२. शतपथब्राह्मण के अनुसार ३३ देवताओं में ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्यों के साथ आकाश और पृथ्वी आते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ३३ देवताओं में ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज देवताओं को ग्रहण करता है (२।२८)। विष्णुपुराण में ८ वसुओं, ११ रुद्रों, १२ आदित्यों तथा प्रजापति और वषट्कार को ३३ देवताओं में माना है। याज्ञिकों ने ३३ सोमपा और ३३ असोमपा देवता कहे हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, प्रजापति और वषट्कार सोमपा देवता हैं और ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज असोमपा देवता हैं।

३. मं. १०, सू. ५५, ऋ. ३। यहां पर ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ प्रजापति, १ वषट्कार और एक विराट्—इस प्रकार ३४ देवता माने हैं।

४. मं. ३, सू. ९, ऋ. ९ और मं. १०, सू. ५२, ऋ. ६।

इन्द्र) और अन्तरिक्ष या स्वर्ग में आदित्य^१ (सूर्य) । ऋग्वेद में इस (अग्नि) से संबन्ध रखने वाले सूक्तों की संख्या करीब २०० है । मातरिश्वा, जन-हित के लिए, इसे स्वर्ग से पृथ्वी पर लाया था । यज्ञ में दी हुई आहुति इसीके द्वारा देवताओं के पास पहुँचती है । ऋग्वेद में इन्द्र के बाद अग्नि का ही स्थान है । इसे कहीं पर द्यावा-पृथिवी का और कहीं पर द्यौः का पुत्र कहा है ।

इन्द्र—यह वज्र-पात और अंधड़ (तूफान) का देवता है । यही पर्जन्य^२ (वर्षाकालीन मेघ) के रूप से वृष्टि भी करता है ।^३ अतः यह कृषि-जीवी आर्यों का प्रिय देवता था । अनुमान किया जाता है कि जब आर्य पंजाब के शुष्क प्रदेश को छोड़कर पूर्व में ब्रह्मावर्त^४ की ओर बढ़े तब धीरे-धीरे इसका महत्त्व वरुण से भी बढ़ गया और यह सब का शासक^५, सर्वगुण-सम्पन्न^६, युद्ध का नेता, आर्यों के शत्रुओं (असुरों) का विनाशक^७, सर्व शक्तिमान्^८ तथा अरि-पुर-नाशक पुरन्दर

१. ऋग्वेद में एक स्थान पर वायु, आदित्य और पर्जन्य इन तीनों को मुख्य देवता माना है (मं. १०, सू. २७, ऋ. २३) । कुछ लोग पर्जन्य के स्थान पर अग्नि को लेते हैं । ऋग्वेद के एक मन्त्र में जठराग्नि का भी उल्लेख है (मं. ६, सू. ९, ऋ. ४) ।

२. अथर्ववेद में पृथ्वी को पर्जन्य की स्त्री कहा है । (१२, १, १२) । यह पर्जन्य जल और नदियों का देवता है । ऋग्वेद में इसके केवल ३ सूक्त मिलते हैं । अध्यापक मैक्समूलर पर्जन्य को विद्युत् का देवता मानते हैं । कुछ पाश्चात्य विद्वान् मन्त्रों की रचना का मध्य एशिया में होना और उन का संग्रह आर्यों के भारत में आने पर किया जाना मानते हैं । उनका यह भी कहना है कि आर्यों को मेघ, विद्युत्-आदि का अनुभव भारत में आने पर ही हुआ था, क्योंकि मध्य एशिया में इनके दर्शन विशेष रूप से नहीं होते । यदि उनका यह कथन ठीक हो, तो यह समझना कठिन होगा कि मध्य एशिया में बने मन्त्रों में इन्द्र और उसके वज्रपात की कल्पना कैसे की गई ।

३. मं. ५, सू. २३, ऋ. १ और ८.

४. मं. ४, सू. २४, ऋ. १०.

५. मं. ८, सू. ३७, ऋ. ३.

६. मं. २, सू. १२.

७. मं. १०, सू. १३३, ऋ. ६.

८. मं. ८, सू. ७८, ऋ. ५.

मान लिया गया। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा अंशुमति (यमुना) तीरवासी दस हजार सैनिकों वाले असुर कृष्ण के मारे जाने का भी उल्लेख है।^१ यह (इन्द्र) बलिष्ठ, वज्रधारी, भूरे केश और दाढ़ी वाला कहा गया है। इसे सोमपान से बड़ा प्रेम है।^२ इसको धौः का पुत्र और इन्द्राणी का पति कहा है। इसने वृत्र (मेघ) को परास्त कर जल को मुक्त किया था।^३ ऋग्वेद का चतुर्थांश भाग इन्द्र की स्तुतियों से सम्बन्ध रखता है। इसको 'शतक्रतु'^४ सौ यज्ञों वाला भी कहा है।

इन्द्र के सहचर (अवान्तर) देवताओं में वायु, वात, मरुत्, रुद्र आदि हैं। वायु को सर्वव्यापी और यथेच्छागतिवाला कहा है। यह आँख से नहीं देखा जाता। इसका शब्द सुना जाता है।^५ इसी प्रकार वात भी एक देवता है। मरुत्—अंधड़ (तूफान) के देवता हैं।^६ ये रुद्र के पुत्र हैं।^७ ऋग्वेद में इनकी संख्या ६३ कही है।^८ रुद्र—यह भी अंधड़ (तूफान) का देवता है। यह पहले एक क्रूर और गौण देवता था। परन्तु बाद में शिव-रूप में एक महत्वशाली देवता मान लिया गया।^९ ऋग्वेद

१. मं. ८, सू. ८५, ऋ. १३ और १५। श्रीमद्भागवत पुराण में कृष्ण द्वारा इन्द्र का परास्त होना लिखा है। (स्कन्ध १०, अध्याय २५)।

२. मं. १०, सू. ११९.

३. लोकमान्य तिलक के मतानुसार इन्द्र सूर्य का और वृत्र हिम का प्रतीक है, जो उत्तरी ध्रुव में हिम को गलाकर शीत के कारण जमे नदियों के जल को प्रवाहित करता है।

४. मं. ७, सू. ३१, ऋ. ३.

५. मं. १०, सू. १६८, ऋ. ४.

६. मं. १, सू. ३७, ऋ. ११। (ऋग्वेद के ३३ सूक्तों में स्वतंत्र रूप से, ७ सूक्तों में इन्द्र के साथ, १ सूक्त में अग्नि के साथ और १ सूक्त में पूषा के साथ इन (मरुद्-गणों) का वर्णन मिलता है। अतः ये भी एक महत्वशाली देवता थे)।

७. मं. १, सू. ६४, ऋ. २। गोरूपा पृष्णि मरुतों की माता और रोदसी उनकी पत्नी कही गई है।

८. मं. ८, सू. ८५, ऋ. ८.

९. मं. २, सू. ३३, ऋ. ७.

१०. मं. १, सू. ११४, ऋ. १०। (ऋग्वेद में रुद्र से संबन्ध रखने वाले तीन सूक्त (मं. १, सू. ११४; मं. २, सू. ३३ और मं. ७, सू. ४६) हैं। परन्तु अन्य देवताओं के साथ इसका नाम करीब ५० बार मिलता है)।

में इसे कपर्दी (जटाधारी) कहा है^१ और अग्नि का प्रतीक माना है ।^२ उसमें इसे “भिषक्तम” (श्रेष्ठ वैद्य) भी कहा है ।^३

वरुण—यह आकाशस्थानीय (या आच्छादक) देवता है । यह अपनी माया (अपरिमेय शक्ति) से संसार का संचालन करता है ।^४ यह ऋत^५ (भौतिक रूप में विश्व की व्यवस्था और आध्यात्मिक रूप में सदाचार) का पालक या प्रतिरूप माना गया है । यह पश्चात्ताप करने वाले या क्षमाप्रार्थी अपराधियों को क्षमा प्रदान करता है । ऋग्वेद में इसके १०-१२ सुन्दर सूक्त मिलते हैं ।^६ उनमें इसका एक विशेषण असुर भी मिलता है । इसका अर्थ असु (प्राणशक्ति) वाला या शक्तिमान् होता है । ईरानियों (पारसियों) के देवता अहुरमज्द के नाम का प्रथम भाग ‘अहुर’ इसी ‘असुर’ शब्द का विगड़ा हुआ रूप है ।

सूर्य^७—इसे मित्रावरुण का नेत्र और चर और अचर का आत्मा कहा है ।

१. मं. १, सू. १४, ऋ. १ । [इसका वर्ण लाल या बभ्रु (भूरा) बतलाया है (मं. १, सू. ११४, ऋ. ६) और यह मरुतों का पिता कहा गया है (मं. १, सू. ११४, ऋ. ६)] ।

२. मं. २, सू. १, ऋ. ६ । आजकल अम्बिका रुद्र की पत्नी मानी जाती है । परन्तु वाजसनेयी संहिता में उसे रुद्र की बहिन कहा है :

“एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राऽम्बिकया तं जुषण्व”

(शुक्लयजुर्वेद ३।५७) ।

३. मं. २, सू. ३३, ऋ. ४ ।

४. मं. ५, सू. ६३, ऋ. ४ । (इस मन्त्र में मित्रावरुण की माया-शक्ति का वर्णन है) ।

५. ऋग्वेद में ऋत की बड़ी प्रशंसा मिलती है । जैसे—ऋत से ही सृष्टि उत्पन्न होती है (मं. ३, सू. ५५, ऋ. ५) । सर्वप्रथम ऋत ही उत्पन्न हुआ था (मं. १०, सू. १९०, ऋ. १) । सोम ऋत रूप है (मं. ९, सू. १०८, ऋ. ८) और नदियाँ ऋत को प्रसारित करती हैं (मं. १, सू. १०५, ऋ. १५) ।

६. कुछ विद्वान् ऋग्वेद के वरुण-संबन्धी सूक्तों से ही वैष्णव मत की उत्पत्ति मानते हैं । (मं. १०, सू. १८४, ऋ. १) । ऐसा अनुमान किया जाता है कि एक समय वरुण का महत्त्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था । परन्तु बाद में इन्द्र को वह महत्त्व मिल गया और वरुण का स्थान इन्द्र, अग्नि और सूर्य के बाद चौथा रह गया । पौराणिक काल में तो यह केवल जल का स्वामी ही रह गया था ।

७. ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि के बाद सूर्य का ही स्थान प्रतीत होता है ।

ऋग्वेद में इसके अनेक रूप मिलते हैं ।^१ जैसे—मित्र (हितकारी), सविता (उत्पादक), पूषन् (ओषधियों आदि का पोषक) और विष्णु (द्रुतगामी) ।

मित्र—ऋग्वेद में यह वरुण का सहचर कहा गया है, और विशेषतः उसी के साथ इसका उल्लेख मिलता है । इसका स्वतन्त्र रूप से उल्लेख करने वाला एक ही सूक्त है ।^२ यह भी ऋत का रक्षक और सूर्य का बोधक है ।^३

सविता—यह हिरण्यमय (सुवर्णमय) शरीर वाला है । यह ऋत का अनुगामी और द्विजों के गायत्री मन्त्र में वर्णित देवता है । ऋग्वेद में इसके ११ सूक्त हैं ।

पूषन्—यह द्युलोकस्थ (स्वर्गलोकस्थ) देवता है । इसके मुख पर दाढ़ी और सिर पर जटा है । यह हाथ में सोने का भाला और अंकुश धारण करता है । इसके रथ को बकरे खींचते हैं ।^४ यह अपनी बहिन (पूषा) का प्रेमी और सूर्य की पुत्री सूर्या का पति है । यही प्रेतात्माओं को पितृ-लोक में पहुँचाता है । यह कृपकों, पशु-पालकों, पशुओं, पथिकों और गृहस्थों का रक्षक है । ऋग्वेद में इसके ८ सूक्त हैं ।

विष्णु—सूर्य सदा गतिशील रहता है । उसकी इसी क्रियाशीलता की कल्पना विष्णु के रूप में की गई है । ऋग्वेद में एक स्थान पर इस (विष्णु) की तुलना पर्वतवासी, यथेच्छ भ्रमणशील सिंह से की है ।^५ विष्णु का महत्त्वपूर्ण कार्य तीन उगों से विश्व को नापना है ।^६ ऋग्वेद में विष्णु के परम पद (स्थान) का भी सुन्दर वर्णन मिलता है ।^७ यही सूर्यात्मा विष्णु कालान्तर में एक स्वतन्त्र और महत्त्वशाली देवता मान लिया गया था ।

१. सूर्य के ६ रूप (मं. २, सू. २७, ऋ. १) । सूर्य के ७ प्रकार (मं. ९, सू. ११४, ऋ. ३) ।

२. मं. ३, सू. ५९.

३. मं. ७, सू. ६०, ऋ. १-१०.

४. मं. १, सू. १३८, ऋ. ४.

५. मं. १, सू. १५४, ऋ. २.

६. मं. १, सू. १५४ ऋ. १ और मं. १, सू. २२ ऋ. ७ और १६-२३ । कुछ लोग इससे सूर्य की आकाश में की प्रातःकालीन, मध्याह्नकालीन और सायंकालीन स्थिति का तात्पर्य लेते हैं । (निष्कत १२।१९) और कुछ इसमें सूर्य के पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश के अतिक्रमण का भाव मानते हैं ।

७. मं. १, सू. १५४, ऋ. ६ (यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः) । यहां पर

उषा—यह अरुणोदय^१ के समय की या प्रभात-काल की देवता है ।

सूर्य के उषा का अनुगमन करने के कारण वह इसका पति कहा गया है और उषा के सूर्य से पूर्व उदय होने के कारण उसे (उषा को) सूर्य की माता कहा है । उषा के अनुगमन के कारण ही अश्विनों को भी उसके प्रेमी माना है । इसी प्रकार अग्नि को भी उषा का कामुक कहा है ।^१ ऋग्वेद में उषा से संबन्ध रखने वाले सूक्त अत्यन्त सुन्दर माने गये हैं ।

अश्विन—ये संख्या में दो^२ हैं और अविभक्त रूप से सदा साथ रहते हैं । उषा का अनुगमन करने के कारण ये उसके प्रेमी माने गये हैं । ये द्यौ के पुत्र, उषा के भ्राता और (सूर्य-पुत्री) सूर्या के पति कहे गये हैं । ये दाम्पत्य प्रेम के रक्षक हैं । इनका मुख्य व्रत विपत्तिग्रस्तों की विपत्ति दूर करना है । ऋग्वेद में इस विषय के अनेक उदाहरण मिलते हैं । इन्हें मधु (शहद) से अधिक प्रेम है ।

अदिति—यह सब की जननी, आच्छादक और असीम कही गई है ।^३

आप—यह जलरूप देवता है, और और सदा इन्द्र द्वारा बनाये मार्ग पर चलता रहता है । राजावरुण उसके बीच भ्रमण करता है । ऋग्वेद में इसके ४ सूक्त हैं ।

गावः से सूर्य-किरणों का तात्पर्य है । परन्तु बाद में इससे गोलोक (वैकुण्ठलोक) की कल्पना कर ली गई है । सूर्य की सात किरणें (मं. २, सू. १२, ऋ. १२) या उसके रथ में ७ घोड़े जुड़े होना (मं. १, सू. ५०, ऋ. ८ और मं. ७, सू. ६०, ऋ. ३) कहा गया है ।

१. इसी से इसका सूर्य के करस्पर्श के पूर्व ही विलीन हो जाना कहा है ।

२. मं. १, सू. १२८, ऋ. ८ में उषा का सूर्य से ३० योजन (१२० कोस) आगे रहना कहा है । इसके आधार पर सायण ने उषोदय का सूर्योदय से आध घंटे पूर्व होना कहा है । मं. ५, सू. ४०, ऋ. ५ में सूर्य-ग्रहण का उल्लेख है ।

३. क्योंकि उसी समय वह यज्ञार्थ प्रज्वलित किया जाता है ।

४. मान्यता में अश्विनों का स्थान इन्द्र, अग्नि और सोम के बाद ही आता है । ऋग्वेद में इनके ५० सूक्त मिलते हैं । इन्हें प्रातःकाल और सायंकाल की अरुणिमा में उदय होनेवाले दो तारे माना जाता है । ये अरुणिमा के समय ही दिखाई देते हैं ।

५. मं. १, सू. ८९, ऋ. ३ । (यह सांख्यदर्शन में कही प्रकृति की सम-रूपा है) ।

अपां नपात्—यह देवता जल का पुत्र है। यह जल के बीच चमकता रहता है। सम्भवतः यह मेघों में छिपी बिजली का बोधक है। ऋग्वेद में इसका एक सूक्त है।^१

बृहस्पति—इसका दूसरा नाम ब्रह्मणस्पति भी है।^२ यह सुवर्णवर्ण, तीक्ष्ण-शृंग और कृष्णपृष्ठ वाला है। इसके हाथ में धनुष-बाण और परशु रहता है। इसके रथ के घोड़े रक्तवर्ण के हैं। यह मन्त्रों का प्रेरक है। अतः इसके बिना यज्ञ सफल नहीं हो सकता।

सोम—जब आर्यों को सप्तसिन्धु प्रदेश में उत्पन्न^३ होने वाले सोम के शक्ति और उल्लासवर्धक गुणों का परिचय मिला, तब उन्होंने सोमयाग का विधान तैयार किया। ऋग्वेद में सोमयाग का बड़ा महत्त्व है। यह सोम वर्षाऋतु में उत्पन्न होता था और शक्तिवर्धक भी था। अतः यह वर्षा के देवता और शत्रुओं की शक्ति के विनाशक इन्द्र को विशेष रूप से दिया जाने लगा, तथा उसका प्रिय पेय मान लिया गया। ऋग्वेद का ११४ सूक्तों का सारा ही नवाँ मण्डल सोम से संबन्ध रखता है।^४ चन्द्रमा से भी इसकी समानता की गई है। इसे पूर्णरूप से न तो देवता का ही और न मनुष्य का ही रूप दिया जा सका है। इसी से इसका उल्लेख लता या ओषधि के रूप में मिलता है। इसकी आल्लादकता आध्यात्मिक आनन्द का भौतिक रूप मानी जाती थी। यह सोम, श्येन पक्षी के द्वारा, इन्द्र के लिए, स्वर्ग से, यहां (पृथ्वी पर) लाया गया था।^५

१. मं. २, सू. ३५। (पारसियों की धर्मपुस्तक अवेस्ता में अपां नपात् को एक असुर कहा है। इसका निवास जल में है और यह स्त्रियों से घिरा रहता है, तथा तीव्रगामी घोड़ों पर सवारी करता है।)

२. ऋग्वेद में इसके ११ सूक्त हैं और अन्य दो सूक्तों में इसका इन्द्र के साथ वर्णन मिलता है (मं. ४, सू. ५०, ऋ. ११)। कुछ विद्वान् इसे यज्ञ का प्रचार होने के बाद का देवता मानते हैं। उनके मतानुसार यह पहले प्रार्थना का देवता था, परन्तु बाद में बलिदान का देवता हो गया।

३. ऋग्वेद में सोम का मूजवत् पर्वत पर उत्पन्न होना भी कहा है (मं. १०, सू. ३१ और ३४, ऋ. १)। यह पर्वत संभवतः बलख या कन्धार के पास था (अथर्ववेद का. ५, सू. २२, ऋ. ७ और १४)।

४. सब सूक्तों को मिलाकर ऋग्वेद में इसके करीब १२० सूक्त हैं। अतः महत्ता में यह अग्नि के बाद स्थान पाता है।

५. मं. ४, सू. २६-२७। मं. ८, सू. ८४, ऋ. ३ में श्येनरूपिणी गायत्री

त्वष्टा—यह सविता का ही दूसरा नाम है। इसी ने इन्द्र का वज्र, वृहस्पति का कुठार और देवों के सोम-पान का पात्र बनाया था। इसे ही जगत् का कर्ता और सब वस्तुओं को उनका रूप प्रदान करने वाला कहा है।

यम—यह मरकर स्वर्ग में निवास करने वाला प्रथम मनुष्य था। इसी ने पितृ-लोक के मार्ग का पता लगाया। यह यम-लोक का स्वामी और मृतात्माओं का उनके कर्मानुसार प्रबन्ध और शासन करता है।^१ यह विवस्वान् का पुत्र होने से वैवस्वत भी कहाता है।

ऋग्वेद में देवों के समान ही देवियों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें उपर्युक्त उषा और अदिति^२ मुख्य हैं। एक स्थान पर सिन्धु नदी का भी देवों की तरह उल्लेख मिलता है।^३ सरस्वती नदी को भी देवी माना है।^४ अरण्यानी को वन-देवी कहा है।^५

इसी प्रकार उस में कुछ अन्य देवताओं के साथ ही कतिपय भाववाचक देवता भी पाये जाते हैं। जैसे—मन्यु^६ (क्रोध), श्रद्धा^७ (आदरपूर्ण विश्वास) आदि।

इनके अतिरिक्त उक्त संहिता में कुछ गौण देवता भी मिलते हैं। जैसे—ऋभु (अङ्गिरावंशी सुधन्वा के पुत्र और सायङ्कालीन बलि के समय के इन्द्र के अनुचर)। ये तीन थे—ऋभु, विम्बा और वाज। इसी प्रकार उसमें गन्धर्व, अप्सरा आदि का उल्लेख भी मिलता है।

का सोम को द्युलोक से लाना कहा है और मं. ८, सू. ८९, ऋ. ८ में सुपर्ण (गरुड) का सोम को स्वर्ग से लाना बतलाया है।

१. मं. १०, सू. १४। (ऋग्वेद में इसके ३ सूक्त मिलते हैं)।

२. ऋग्वेद में इसका ८० बार उल्लेख आया है और इसके साथ दिति का उल्लेख तीन बार किया गया है, जहाँ उसे देवी ही कहा है।

३. मं. १०, सू. ७५, ऋ. २, ४ और ६.

४. मं. ६, सू. ६१। (अन्त में यही विद्या की अधिष्ठात्री—वाक्-देवता—हो गई)।

५. मं. १०, सू. १४६। कुछ विद्वान् इन देवियों के उल्लेख के आधार पर ही शाक्त धर्म की उत्पत्ति मानते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में गायत्री का आवाहन मिलता है (१०।२६।२६)।

६. मं. १०, सू. ८३-८४। (अधिकांश देवताओं के नाम ऋग्वेद के दशम मण्डल में मिलने से कुछ विद्वान् इन्हें पीछे की कल्पना अनुमान करते हैं)।

७. मं. १०, सू. १५१।

उपर्युक्त देवताओं में से वरुण, सूर्य, मित्र, सविता, पूषन्, विष्णु, उषा और अश्विन् द्युस्थानीय; पर्जन्य, मरुत्, रुद्र, आप और अपां नपात् अन्तरिक्ष-स्थानीय; और अग्नि, बृहस्पति (ब्रह्मणस्पति) तथा सोम पृथ्वी-स्थानीय देवता माने जाते हैं।

यद्यपि ऋग्वेद के समय के आर्य अनेक देवतावादी थे, तथापि उनमें एक देवतावाद की धारणा भी उत्पन्न हो गई थी। इसी से एक स्थान पर—‘महद् देवानामसुरत्वमेकम्’ कहकर सब देवताओं में एक ही महान् शक्ति का होना प्रकट किया है^१ और दूसरे स्थान पर अनेक देवताओं के नामों को एक ही सर्वशक्तिमान् देवता के भिन्न-भिन्न नाम होना कहा है।^२ अर्थात्—अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार कोई उसे इन्द्र कोई उसे मित्र, कोई उसे वरुण और कोई प्रजापति के नाम से पुकारते हैं। इसी प्रकार उक्त संहिता के दसवें मण्डल की एक ऋचा में सब के बीज रूप, समस्त सत्ता-सम्पन्न, एक ईश्वर का उल्लेख है।^३ यद्यपि रुद्र (शिव) और विष्णु को ऋग्वेद में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। तथापि उसके बाद के ग्रन्थों में यह सर्वशक्ति-संपन्न ईश्वर का पद उन्हें मिल गया है। इसके बाद ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में एकत्ववाद की झलक मिलती है। उसमें एकमात्र पुरुष को ही सारे विश्व का मूल बतलाया है।^४

जो विद्वान् आर्यों का मध्य एशिया से सप्तसिन्धु-प्रदेश में आना मानते हैं, वे कुछ देवताओं की उत्पत्ति मध्य एशिया में और कुछ की सप्तसिन्धु में आने पर होना मानते हैं। उनके मतानुसार इन्द्र आदि की उत्पत्ति सप्तसिन्धु में आने पर हुई थी; क्योंकि मध्य एशिया में विशेष वृष्टि नहीं होती। इसी प्रकार जो उनका उत्तरी घ्रुव से यहाँ आना मानते हैं, वे उषा देवता की उत्पत्ति घ्रुव प्रदेश में होना बतलाते हैं; क्योंकि वहाँ पर उषा का विशेष सुन्दर और दीर्घकाल-व्यापी रूप दिखाई देता है। परन्तु कुछ लोग इन्द्र आदि की उत्पत्ति पंजाब के सारस्वत प्रदेश में होना अनुमान करते हैं।

ऋग्वेद में कही गई बातों का तात्पर्य समझने के लिए अनेक मत प्रचलित हैं। (इसी विवाद के कारण कौत्स-संप्रदाय वालों ने मन्त्रों को अर्थहीन (अनर्थका हि मन्त्राः) कहकर उनके उच्चारण मात्र से सिद्धि का होना मान लिया। परन्तु यास्क ने (सार्थकाः हि मन्त्राः कहकर) इस मत का खण्डन किया है।)

१. मं. ३, सू. ५५.

२. मं. १०, सू. ११४, ऋ. ५.

३. मं. १०, सू. ३१, ऋ. ८.

४. मं. १०. ९०, ऋ. २.

उनमें प्राकृतिक मत वालों के विचार से इन्द्र-मेघ, विद्युत् गाज और वर्षा का देवता था। यह वृत्र (बादल) पर वज्र (विजली) का प्रहार कर जल (वर्षा) को मुक्त करता था।

ऐतिहासिक मत के अनुसार इन्द्र एक वास्तविक आर्य वीर था, जिसने वृत्र और दस्युओं का नाश कर आर्यों के गोधन की रक्षा की। नक्षत्रों से संबन्ध मानने वालों के मन्तव्यानुसार इन्द्र द्वारा वृत्र का सिर काटे जाने और वृत्र के मृग का रूप धारण कर प्रकट होने का आशय मृगशिरा नक्षत्र से है। इसी प्रकार वे मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त-संपात मानकर प्रेत-मार्ग में की वैतरणी नदी का तात्पर्य आकाशगङ्गा (MILKY WAY) से और यम मार्ग के रक्षक दो कुत्तों का तात्पर्य आकाश गङ्गा और मृगशिरा नक्षत्र के पास के श्वान पुञ्ज तारों (DOG STARS) से मानते हैं। लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने त्रिविक्रम और वृषाकपि की कथाओं का सम्बन्ध भी नक्षत्र-मण्डल से होना बतलाया है। आध्यात्मिक मत वाले वेद में केवल आध्यात्मिक बातों का होना ही अङ्गीकार करते हैं। परन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद में प्रत्येक देवता के स्थूल और सूक्ष्म रूपों के अतिरिक्त कहीं-कहीं कुछ देवताओं के आध्यात्मिक रूपों का भी उल्लेख मिलता है। जैसे—विष्णु का त्रिविक्रम रूप^१, विष्णु का परम पद वासी रूप^२ और विष्णु के जिस पद को ज्ञानी लोग ही जानते^३ हैं, वह रूप। ये क्रमशः विष्णु के स्थूल, सूक्ष्म और आध्यात्मिक रूप के उदाहरण हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में सूर्य-संबन्धी एक मन्त्र में^४ उत्, उत्तर और उत्तम शब्द मिलते हैं। इनसे भी वे सूर्य के स्थूल, सूक्ष्म और आध्यात्मिक रूपों का संकेत मानते हैं। परन्तु यह एक कल्पना^५ ही है।

ऋग्वेद में जहाँ पर प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति या प्रशंसा है, वहाँ पर वह

१. मं. १, सू. १५४, ऋ. १.

२. मं. १, सू. १५४, ऋ. ५.

३. मं. १, सू. २२, ऋ. २१.

४. मं. १, सू. २०, ऋ. १०.

५. जिसके लिए मन्त्र का प्रयोग निश्चित किया जाता है, उसे विनियोग कहते हैं। इस विनियोग के द्वारा मन्त्र का उससे असंबद्ध स्थान पर भी प्रयोग कर लिया जाता है। जैसे—‘शन्नो देवी०’ का शनि के लिए।

उनके स्थूल रूप की न होकर उनकी अधिष्ठात्री देवता या सूक्ष्म शक्ति की है, जो चेतन मानी गई है।

आगे ऋग्वेद में पाये जाने वाले कुछ देवताओं के नामों की सूची दी जाती है :

अग्नि, वायु, अश्विद्वय, इन्द्र, मरुद्गण, ऋतु, वरुण, ब्रह्मणस्पति, ऋभुगण, सविता, पूषा, रुद्र, उषा, सूर्य, विश्वेदेवगण (बहुदेवता), सोम, रात्रि, मित्रावरुण, विष्णु, आप्ती, द्यावापृथिवी, अश्व, वाक्, अप् (जल), शक्ररूप, काल, सरस्वती, स्वाध्याय, (संभोग), पितु (अन्न), वृहस्पति, (तृण), आप्री, आदित्यगण, राका, सिनीवाली, ६ देवियाँ, अपांनपात्, मधु, माधव, त्वष्टा, शुक्र, शुचि, नभ, नमस्य, द्रविणोदा, कपिञ्जल-रूपी इन्द्र, वैश्वानर, यूप, ब्रह्म (वैश्वानर अग्नि) (विश्वामित्र के उपाध्याय), पर्वत (रथांग), अहोरात्र, द्युनिशा, (दिक्), मित्र, रक्षोदाग्नि, (सोमक राजा), अदिति, वामदेव, ऋत, परमात्मा, सुपर्णात्मक परब्रह्म, (श्येन), दधिका (अश्व-रूपी अग्नि), (त्रसदस्यु), क्षेत्र-पति, शुन, शुनासीर, (सीता), (गो), (घृत), उशना, (ऋणञ्चय नृप), अत्रि, देवपत्नी, (नृप तरन्त भार्या—शशीयसी), (पुरुमील्ह), (तरन्त), (रथवीति), पर्जन्य, पृथिवी, देवगण, (सृञ्जय-पुत्र प्रस्तोक), (रथ), (दुन्दुभि), पृश्नि, (गर्ग), नाना देवता, (वर्म, धनु, ज्या, अरत्नि, इषुधि, सारथि, रश्मि, अश्व, रथ, रथगोपगण, स्तोता, सोम्य, इषु, प्रतोद, हस्तघ्न, युद्ध-भूमि, अदित (कवच), (सुदास), (वसिष्ठ-पुत्रगण), (वसिष्ठ), भग (नदी), वास्तोष्पति, (देव कुक्कुर के वंशज), आदित्य, (सरस्वान्), पर्जन्य (मण्डूक), देव, (ग्रावा), (कुर्यान्-पुत्र पाकस्थान नामक नरेश), कुरङ्ग-दान), (कशु राजा), (परशु-पुत्र तिरिन्दिर), (त्रसदस्यु का दान), (चित्रनरेश का दान), (सुषमा-पुत्र वरु का दान), ऋक्षों का यज्ञ, (यज्ञ-प्रशंसा), (कनीत-पुत्र पृथुश्रवा का दान), ऋक्ष, (अश्व मेध-दान-स्तुति), (श्रुतर्वादान-स्तुति), (ऋत्विक्) पवमान, सोम, अर्यमा, आयु, ऋभुक्षा, वाज, विधाता, अहिर्बुध्न, अज-एकपात्, समुद्र, भग, सारमेय, विभु, इला, मही, ग्ना, इन्द्राणि, अग्नयी, दीप्तिमती, अश्विनी, रोदसी, वरुणानी, आदि।

यम-यमी, हविर्धान शकटद्वय, (पितृलोक), यम सरण्यू, मृत्यु, धाता, त्वष्टा, (अग्नि-संस्कार), (कुरुश्रवण), (मित्रातिथि), (अक्ष, द्यूतकार), वैकुण्ठ, देववृन्द, मन, प्राण, निऋति, (असुनीति), (राजा असमाति), (पथ्या), स्वस्ति, (ब्रह्मज्ञान), देव, (सोमाभिषव का प्रस्तर), विश्वकर्मा, मन्यु, वृषा-कपि, रक्षोघ्न, अग्नि, पुरुष, (उर्वशी, पुरुश्रवा), (इन्द्राश्व), ओषधि, अप्वा,

प्रजापति-पुत्री दक्षिणा, (पणिगण, सरमा, दान), लवरूपी इन्द्र, 'क'— प्रजापति, वेन, प्रजापति, विश्वावसु, (सप्तनी-पीडन, अरण्यानी, श्रद्धा, मृतकावस्था, अलक्ष्मी-नाश), पुलोम-पुत्री शची, (गर्भ-रक्षण, यक्षमनाशन, दुःस्वप्ननाशन, शत्रु विनाशक, राजस्तुति), माया, ताक्ष्य, (यजमान यजमान पत्नी और होता का आशीर्वाद), सारपराज्ञी, (सृष्टि), (संज्ञान) ।

(मन्त्र में जिस का कथन हो, वही उस मन्त्र का देवता माना जाता है) ।

सर्वप्रथम मनुष्य का ध्यान उपा, सूर्य, मेघ आदि प्राकृतिक देवताओं की कल्पना दृश्यों की ओर आकृष्ट हुआ होगा और उसके बाद उनमें और उनके प्रसन्न देवत्व की भावना की गई होगी। इससे अनेक देवताओं करने के साधन का आविर्भाव हुआ ।

यद्यपि ये देवता दिव्य गुण संपन्न माने जाते थे, तथापि कल्पना करने वाले आर्यों ने इनकी आकृति और प्रकृति अपनी आकृति और प्रकृति के समान ही कल्पित की थी। अतः इनमें भी भोग-विलास और राग-द्वेष आदि की दुर्बलताएं आ गई थीं। इन देवों में अग्नि और बृहस्पति पुरोहित के रूप में, तथा इन्द्र, और मरुत् योद्धा के रूपमें माने गये थे। सोम आदि कुछ ऐसे भी देवता हैं जो अपने भौतिक रूप को त्यागाकर पूरी तौर से मनुष्य का रूप नहीं धारण कर सके हैं। कुछ विद्वान् इस वैदिक प्रकृति-पूजन में उपयोगितावाद की भावना देखते हैं। उनके मतानुसार केवल स्वार्थ और भय ही देव-प्रार्थना का कारण था। प्रत्येक देवता का कार्य भिन्न था। अतः विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट देवता से प्रार्थना की जाती थी।^१ ये प्रार्थनायें सरल और समान रूप वाली होती थीं। यद्यपि देवता शक्तिशाली माने जाते थे, तथापि मानवीय प्रकृति के होने के कारण इनमें भी कुछ दुर्बलताएं मान ली गई थीं। परन्तु फिर भी ये सदाचारियों के सहायक और दुराचारियों के दण्डक थे। ये देवता मनुष्य को सर्वोच्च सत्ता से अपना संबन्ध जोड़ने में सहायता देते थे।^२ दान भी यही कार्य करता था।^३ इस प्रकार की भावना प्राचीन समय से चली आती थी।

यद्यपि पहले देवताओं को प्रसन्न करने के लिए केवल उनकी प्रार्थना ही की जाती थी, तथापि बाद में उनकी प्रसन्नता के लिए, उन्हें अपनी प्रिय वस्तु की भेंट भी दी जाने लगी। यही बलिदान था। परन्तु उस समय भी प्रार्थना का महत्त्व

१. मं. १०, सू. २४, ऋ. १ और ४.

२. मं. १, सू. १२५, ऋ. ५.

३. मं. १०, सू. १०७, ऋ. २.

कुछ कम नहीं हुआ था ।^१ प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान में भक्ति और श्रद्धा की भी आवश्यकता समझी जाती थी ।^२

पहले लिख चुके हैं कि मनुष्य ने देवताओं को अपने समान रूप का ही कल्पित किया था । इससे उनको भोजन आदि से तृप्त करना ही उनकी पूजा मानी गई ।

यज्ञ के देवता अग्नि को देवताओं के लिए दी गई बलि को उन (देवताओं) के पास पहुंचाने का कार्य सौंपा गया था ।^३

नरमेघ यज्ञ का विषय विवादग्रस्त है ।^४ शुनःशेष के आख्यान में विशेष कारण होने से वह इस विषय का प्रमाण नहीं माना जा सकता ।^५ हाँ, अश्वमेध का उल्लेख अवश्य मिलता है ।^६

परन्तु कुछ काल बाद पशु-बलि का विरोध भी होने लगा था । इसका प्रमाण सामवेद, उपनिषद्, बौद्धशास्त्र, जैन आगम, भागवत, पुराण आदि में स्पष्ट तौर से मिलता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पहले देवाराधन प्रार्थना या ध्यान द्वारा किया जाता था । इसके बाद यज्ञ और बलि द्वारा, फिर पूजन द्वारा और अंत में पुनः प्रार्थना या स्तुति द्वारा किया जाने लगा ।

वैदिक काल में न तो देवता की मूर्ति का पूजन ही होता था, न उसके लिए मन्दिर ही बनता था । हाँ, ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र की प्रतिमा का (संभवतः तावीज के रूप में) उल्लेख मिलता है ।^७

१. मं. ६, सू. १४, ऋ. ४.

२. मं. १, सू. १०४, ऋ. ६.

३. ग्रीकों का मुख्य देवता भी अग्नि था । ग्रीस के प्रसिद्ध कवि होमर ने वहाँ के उस समय के देवाराधन के सरल विधान में—“प्रार्थना करना, अग्नि में घी अथवा भुने हुए मांस आदि का हवन करना, बचे हुए मांस का भोजन करना और मद्यपान करना”—लिखा है (HARRISON'S STAGE OF GRECIAN LIFE, P.P. 87-88) ।

४. हाँ, एक स्थान पर सर्वमेघ का उल्लेख अवश्य मिलता है (मं. १०, सू. ८८, ऋ. ९) ।

५. मं. १, सू. २४, ऋ. १३ और १५ । (विद्वान् शुनःशेष को हिमालय के दक्षिण के सुवास्तु (स्वात) प्रदेश का निवासी मानते हैं । हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित इसे खरीदकर सारस्वत प्रदेश में लाया था ।

६. मं. १०, सू. ९१, ऋ. १४.

७. मं. ४, सू. २४, ऋ. १०.

उस समय मनुष्य का देवताओं के साथ सीधा संबन्ध माना जाता था । ऋषि अथवा उपासक उन्हें अपने कुटुम्बियों अथवा मित्रों के समान मानते थे । प्रत्येक कामना के लिए उनसे प्रार्थना की जाती थी ।^१ धर्म का बड़ा प्रभाव था ।

ऋग्वेद में पितरों के भी दो सूक्त मिलते हैं ।^२ ये मृत पूर्वज बुलाये जाने पर यमलोक से, सूक्ष्म शरीर में आकर अपना भाग ग्रहण करते थे ।^३

ईश्वर से विमुख होना अथवा उसके बताये मार्ग का उल्लंघन करना ही पाप था ।^४ देवता लोग धार्मिकों के रक्षक और अधार्मिकों के दण्डक थे । पाप से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त का विधान था ।^५ अन्नदान का बड़ा माहात्म्य था ।^६ आचार का भी महत्त्व था ।^७ मनुष्य के समान ही देवता भी अपने उपासकों पर कृपा किया करते थे ।

पहले उद्धृत किये भाषाशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय आर्यों के समान ही ईरान (फारस) के पारसी अन्य जातियों और यूरोप की अधिकांश जातियां भी आर्य-सन्तान ही थीं ।
में भारतीय पाश्चात्यों के मतानुसार इन सब के पूर्वज एक कुटुम्ब के देवता समान एक ही स्थान पर रहते थे । इसीसे इनके धार्मिक विचारों में बहुत-कुछ समानता पायी जाती है, तथा इसी समानता के आधार पर पारसियों के साथ ही द्यूटैनिक, कैल्टिक, हैलैनिक, स्लाव, इटालियन और आरमीनियन जातियों का संबन्ध आर्य जाति से माना जाता है ।^८ इसी से इनके कुछ देवताओं आदि में भी समानता पायी जाती है ।

१. इसी से भक्तिमार्ग की उत्पत्ति हुई होगी ।
२. मं. १०, सू. १४ और १५.
३. परन्तु कुछ विद्वान् वेदों में पितृ-पूजन का होना नहीं मानते, और कुछ इसे परंपरागत संस्कृति का सम्मान समझते हैं ।
४. मं. ७, सू. ८६ और ८८, ऋ. ६.
५. मं. १, सू. २३, ऋ. २२ । (कुछ विद्वान् वरुण-संबन्धी सूक्तों में की पाप और क्षमा के रूप की झलक का प्रतिबिम्ब ही ईसा के सिद्धान्तों में देखते हैं) ।
६. मं. १०, सू. ११७.
७. मं. १०, सू. ११७ (संभवतः यही बौद्ध धर्म का बीज बना) ।
८. कुछ पाश्चात्य विद्वान् भारतीय आर्यों को द्यूटैनिक या नाडिक जाति का अनुमान करते हैं । परन्तु इस मत को विशेष मान्यता नहीं दी जाती है ।

जिस द्यावा-पृथिवी को भारतीय आर्य 'द्यौस्पतिर' (प्रकाशमान पितर) कहते हैं, उसे ग्रीक 'जु एस पेटर', लैटिन 'जुपिटर' और द्यूटैनिक जाति के लोग 'टायर' या 'टाई' कहते हैं। भारतीय आर्यों के 'वरुण' को ग्रीक 'यूरेनस' और पारसी 'अहुर-मज्द' (असुर महान्) के नाम से पुकारते हैं। भारतीयों के 'मित्र' (सूर्य) को पारसी 'मिथ्र' के नाम से पूजते हैं, और पहले ग्रीक जाति में भी सूर्य की उपासना होती थी। भारतीयों की 'उषा' को ग्रीक 'ए ओस' और लैटिन-भाषी 'अरोरा' कहते हैं। भारतीयों की 'अग्नि' को रूसी 'ओगोन', लिथुआनियन 'उग्निस' और लैटिन-भाषी 'इग्निस' बोलते हैं। भारतीय आर्यों के यहां यज्ञाग्नि अरणि-प्रमन्थन से उत्पत्ति की जाती है। ग्रीक प्रोमेथिअस (prometheous) का सबसे पूर्व स्वर्ग से अग्नि को चुरा कर लाना मानते हैं। संभवतः 'प्रोमेथिअस' 'प्रमन्थन' का ही विकृत रूप है। भारतीय आर्यों के पितर पारसियों के यहां 'फ़वशी' और लैटिन में 'पेरेंटीज' कहे जाते हैं। इसी प्रकार लिथुआनिया, रोम, ग्रीस तथा रूस में भी इन्हें दिव्य पितर मानकर इनका श्राद्ध के समान ही विधानपूर्वक पूजन किया जाता था। भारतीय 'आत्मन्' शब्द के लिए प्राचीन जर्मन भाषा में 'आतम्' और नवीन जर्मन भाषा में 'आतेम्' शब्द मिलने से उन भाषा-भाषियों का मरने के बाद आत्मा की अमरता में विश्वास होना प्रकट होता है। भारतीय आर्यों के 'सोम' को पारसी 'हौम' या 'हओम' और ग्रीक 'डायोसोस' कहते हैं, तथा ग्रीक लोग इसे सुरा और अंगूरों का देवता मानते हैं। भारतीयों के पर्जन्य को लिथुआनियन 'पर्कुन्स' कहते हैं। एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के 'बोगाज़कोइ' से मिले ईसवी सन् के प्रारम्भ से १४०० वर्ष पूर्व के ईंटों पर खुदे लेख में हिट्टाइट (हित्तिती) और मिटानि (मितानि) जाति के नरेशों के बीच की संधि का उल्लेख है। इसके संरक्षक के रूप में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यों (अश्विनों) का उल्लेख है। ये भारतीय आर्यों के ही प्रसिद्ध देवता हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र से असुर-शत्रु त्रित और असुर-बल का उल्लेख है। इटली, ग्रीस और जर्मनी में भी इसकी कथा प्रचलित है, और वहां के लोग भी

१. इसी प्रकार वे उषा के पर्यायवाची शब्द अर्जुनि को 'अर्जिनोरिस', त्रिसया को त्रिसिस, दहना को डैन्फे, सरमा को हेल्लेन, अहना को ऐथेना और सरण्यू को इरिन्स कहते हैं।

२. मं. १, सू. ५२, ऋ. ५.

उसे उपास्य मानते थे। ग्रीकों के यहां त्रितन (Triton) नामक जल के देवता भी हैं और उनके जियस की कन्या का नाम भी त्रिलोजेनीया (Trilogenia) था। कुछ विद्वान् ऋग्वेदोक्त बल को ही बैबिलोनिया का राजा बेल मानते हैं।

जिस प्रकार आर्य-उपाख्यानों में सरण्यू का घोड़ी का रूप धारण कर अश्विनीकुमारों^१ को जन्म देना कहा है, उसी प्रकार ग्रीक कथाओं में इरिनिस (एरिनिज) देवी का घोड़ी का रूप धर अरियेन और डिस्पोना को जन्म देना सूचित किया है।

विद्वानों का अनुमान है कि भारतीय और ईरानी आर्यों के पूर्वज, यूरोपीय आर्यों के पूर्वजों से, अधिक समय तक एक साथ रहे थे। इसी ऋग्वेद और से भारतीय आर्यों के ऋग्वेद और ईरानी आर्यों (पारसियों) अवेस्ता की की अवेस्ता की भाषा^२ और भावों में, ग्रीक, लैटिन या अन्य समानता इण्डो-जर्मनीय जातियों के प्राचीन ग्रन्थों की भाषा और भावों से, अधिक समानता पाई जाती है।

यह बात इनकी भाषा के व्याकरण, धातुओं, शब्दों, पुरावृत्तों और उपाख्यानों से भी सिद्ध होती है।

१. अवेस्ता की गाथाओं की जेन्द्र (पुरानी ईरानी भाषा) का रूपः—

“अएवो पन्ताओ यो अश हे, वीप्से अन्य एसौ अपन्ताम् ।” (यस्त) ।

अर्थात्—(जगत् में) एक ही पन्थ है, जो अश का है। इससे अन्य सब झूठे हैं। यह पारसियों का ‘अश’ वैदिक ‘ऋत’ का ही पर्यायवाची शब्द प्रतीत होता है

“ह्यत ता ऊर्वाता सशया बा मज्जदाओं ददता खीतिचा ।

अनीतिचा.... अत ऐपि ताईश अंघहती ऊश्ता ।”

अर्थात्—मज्ज ने हमें जो ये दो स्व (आत्माएं दी हैं) इनमें जो ऊंची है, वह धर्म की तरफ इशारा करती है; और जो नीची है, वह अनीति की तरफ ले जाती है। हमारे सारे कार्य इन्हीं दो के द्वारा होते हैं।

अवेस्ता की भाषा से उसमें की गाथाओं की भाषा के अधिक प्राचीन होने से वह वैदिक भाषा से अधिक समानता रखती है। यह (जेन्द्र) भाषा ईरानी की पहलवी भाषा से मिलती होने पर भी उससे भिन्न है।

२. ग्रीक अश्विनीकुमारों को कैस्टर और पोलक कहते हैं।

आगे ऋग्वेद और अवेस्ता के कुछ समानार्थवाची शब्द दिये जाते हैं—

ऋग्वेद	अवेस्ता	ऋग्वेद	अवेस्ता
असुर	अहुर	वृत्र (वृत्रघ्न)	वेरेथ्रघ्न
इन्द्र	इन्द्र	वैवस्वत यम	विवनघत्थिम
मित्र	मित्र		
वायु	वायु	सोम	हौम (हउम)
नासत्य	नौ (नाओ)न्हैथ्य	अथर्वन्	अथ्रवन्
वष्मि	वश्मी	तत्त्व	तथ्व
अर्यमन्	एर्यीमन्	नाराशंस	नैर्योसंध
ऋत	अश	भग	वग
		पितर	फ्रवशी
इष्टि	इष्टी	शर्व (शिव) ^१	शौर्व
यातुघान	यातुमान	काव्य उशना	काव्य उषन्
होता	जौत	आहुति	अजूहति
वरुण	वरण	अध्वर्यु	रथवि (रस्वि)
सूर्य (खररश्मि)	खोरशीद	असुर	अहुर

ऋग्वेद में पहले असुर शब्द का अर्थ शक्तिशाली माना जाता था और देव का द्युतिशाली। इसी से ऋग्वेद में इन्द्र^१, वरुण^२, सूर्य^३ और अग्नि^४—इन देवों के लिए विशेषण के रूप में असुर^५ शब्द का प्रयोग मिलता है। परन्तु कालान्तर में आर्यों के दो दलों (भारतीय आर्यों और ईरानी आर्यों) के बीच किसी धार्मिक मन्तव्य के विषय में महान् मतभेद हो जाने से भारतीय आर्यों ने 'असुर' शब्द

१. यजुर्वेद १६।४१.

२. मं. १, सू. ५४, ऋ. ३.

३. मं. १, सू. २४, ऋ. १४.

४. मं. १, सू. ३५, ऋ. ७.

५. मं. ४, सू. २, ऋ. ५.

६. ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ५५वें सूक्त के प्रत्येक मन्त्र का अन्तिम पाद 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' ही है। ईरानी आर्य (पारसी) अहुर (असुर) को सबसे बड़ा देवता मानते हैं।

का अर्थ दानव (राक्षस) मान लिया और ईरानी आर्यों ने 'देव' का अर्थ नीचात्मा (भूत या पिशाच) कर दिया; तथा वे अहुर (असुर) भक्त हो गये। उनके यहाँ भारतीयों का वृत्र (वृत्रघ्न) तो 'वेरीथाजओ' या 'वेरेथाघ्न'^१ के नाम से पूज्य माना गया है; परन्तु भारतीयों के विशेष रूप से प्रिय इन्द्र को उन्होंने नारकीय या शैतान कहा है। फिर जोरो आस्टर ने अहुर मज्द (असुर महत् या असुर मेधा) के अनुयायियों को देव-पूजन का परित्याग^२ कर, देवों के शत्रु और असुर के भक्त होने का आदेश दिया।^३ सोम की और सोमपान करने वाले पुरोहितों की निन्दा की।^४ परन्तु बाद में सोमपान की प्रशंसा की और सोम के पूजन को फिर से अङ्गीकार करने का भी कहा है।^५

भारतीय और ईरानी आर्यों के यहाँ सोमरस निकालने और आहुति देने की विधि में भी समानता है। इसी प्रकार भारतीयों के यज्ञोपवीत संस्कार और पारसियों के कास्ती संस्कार में, दोनों की अन्त्येष्टि-क्रियाओं में और दोनों के यहाँ पञ्चगव्य से शरीर की शुद्धि मानने में बहुत-कुछ समानता है। भारतीय आर्य जगत् को सात द्वीपों में विभक्त मानते हैं, और पारसी उसे सात 'किश्वरों' (कटिवन्धों) में। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में^६ कहे ३३ देवताओं के समान ही जिन्द अवेस्ता में भी ३३ रितु या प्रधान माने गये हैं।^७

इन बातों से निर्विवाद सिद्ध होता है कि—पारसी भी आर्य ही थे और आपस के मतभेद के कारण आर्यावर्त से बाहर जाने को बाध्य किये जाने के बाद उन्होंने जरथुश्त्र द्वारा चलाया अहुर मज्दी धर्म अङ्गीकार कर लिया था।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पारसियों के वेन्दिदाद^८ में मिलने वाला,

१. बहराम यश्न, २१.

२. यश्न, १२.

३. यज्द यश्न.

४. यश्न, ३२ और स्पैण्टा मैन्यूस गाथा (४८) १०।

५. यश्न, ९.

६. मं. १, सू. ४५, ऋ. २.

७. यश्न १. १०.

८. अवेस्ता में अहुर मज्द द्वारा जरथुश्त्र को दिये उपदेश हैं। अतः जरथुश्त्र अवेस्ता का ऋषि समझा जा सकता है।

९. फर्गद १। (पारसियों के वेन्दिदाद (धार्मिक निबन्ध) का अर्थ भी 'वी—दैवो—दात्त' (देव-विरोधी) किया जाता है।

उनके निवासस्थान का 'एरियन वैंजो' (आर्याणां बीजं) नाम उनका रक्खा, प्राचीन नाम है, और इसी का बिगड़कर ईरान हुआ।

ऋग्वेद में वर्ष की ६ ऋतुओं का उल्लेख है।^१ सप्तसिन्धु के निवासी होने के कारण ईरानी आर्य भी इनसे परिचित थे। उनके धर्म-ग्रन्थ 'विस्परद' में इनके स्थान पर वर्ष के ६ सिरों का उल्लेख है।^२ ये 'ऋतु' को 'रतु' कहते थे।^३

ऋग्वेद में जिन सरस्वती, रसा और सिन्धु नदियों का उल्लेख है,^४ पारसियों के वेन्दिदाद (के पहले फगादि) में उन्हें ईरानियों के प्रधान देवता अहुरमज्द के बनाये १६ देशों में माना है और उनके नाम क्रमशः 'हरव्हेती', 'रंघा' और 'सप्त हेन्दु' दिये हैं।

जिस प्रकार भारतीय आर्यों में सत् और असत् की शक्तियों के या इन्द्र और वृत्र के बीच के युद्ध का उल्लेख मिलता है, उसी प्रकार पारसियों के यहाँ भी स्तेन्तोमैन्यु और अंग्रो मैन्यु के बीच के विरोध का वर्णन मिलता है।

कुछ विद्वान् ऋग्वेद^५ में के भरतों का वैमनस्य इन्हीं पारसियों के पूर्वजों से होना अनुमान करते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में भी यज्ञ के लिए देवों और असुरों के बीच संग्राम होना लिखा है।^६ पारसियों की उस्नवैती गाथा में के जोरो-आस्टर के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है।^७

पारसियों की धार्मिक पुस्तकों में उनके आचार्य जरथुस्त्र को 'दख्युमा' या 'दख्युनाम सूरु (दस्यु)'^८ कहा है। ऋग्वेद के तीन मन्त्रों में अग्नि द्वारा जरथुस्त्र के जलाने का उल्लेख है।^९ पारसियों की धर्म-पुस्तकों में भी जरथुस्त्र की मृत्यु का अग्नि द्वारा होना लिखा है।^{१०} श्री होडीवाला का मत है कि ऋग्वेद का यह जरथुस्त्र पारसी धर्म का आचार्य जरथुस्त्र ही था।

अन्य
समानताएँ

१. मं. १, सू. १६४, ऋ. १२.
२. Dr. Haug's Parsee religion, (1862), P. 204.
३. इसी का बिगड़ा हुआ रूप 'यार' (Year) माना जाता है।
४. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५-६.
५. मं. ३, सू. ५३, ऋ. २४.
६. २।२१ और ३, ३९.
७. २(४४)—१५; २(४६)—१-२ और ११.
८. पारसियों के ग्रन्थों में 'दस्यु' का अर्थ सम्मानास्पद होता है; परन्तु वैदिक साहित्य में यह असम्मानास्पद भाव का सूचक है।
९. मं. ७, सू. १, ऋ. ७; मं. ७, सू. ९, ऋ. ६; मं. १०, सू. ८०; ऋ. ३.
१०. वेहरामयश्त, दीनकर्द, दाहेस्तान आदि।

इसी प्रकार कुछ लोग ऋग्वेद^१ में मिलने वाले इष्टाश्व और इष्टरश्मि को क्रमशः पारसियों की अहुनवद-गाथा^२ में मिलने वाले वीस्तास्प और उसके वंश गुश्तहम का सूचक मानते हैं ।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में^३ वृषागिरि के पुत्र ऋजाश्व,—अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुराधा का उल्लेख है । श्री शैहरयार^४ जी उपर्युक्त ऋजाश्व को पारसियों के साहित्य का अरजास्प मानते हैं और भयमान से अरजास्प के पिता बानदरे मैनी का तात्पर्य लेते हैं; क्योंकि बानदरे मैनी का अर्थ निर्भय होता है । इसी प्रकार सुराधा को अरजास्प के भाई हुमयक का बोधक समझते हैं; क्योंकि सुराधा और हुमयक दोनों का अर्थ धनवान् है । ऋग्वेद^५ के वेतसु नामक असुर को वही विद्वान् पारसियों के यहाँ का जामास्प वणतस बतलाते हैं ।

ऋग्वेद में त्रित का उल्लेख मिलता है ।^६ अवेस्ता से पारसियों का थ्रोतन की उपासना करना पाया जाता है ।

ऋग्वेद में बल नामक असुर का उल्लेख है ।^७ इसे इन्द्र ने मारा था ।^८ कुछ विद्वान् इस बल को ही बेबिलोन-नरेश बेल मानते हैं ।^९

अवेस्ता में वृत्र का, बैबिलोन को आर्य-विहीन करने के लिए अद्विशूर देवी की उपासना करना कहा है । इस प्रयत्न में वह असफल रहा था । ऋग्वेद में इन्द्र का वृत्र को, दधीचि की अस्थियों से बने वज्र से मारना सूचित किया है ।^{१०}

“ऋग्वेद के देवता” नामक प्रकरण में ऋग्वेद में कही बातों को समझने

१. मं. १, सू. १२२, ऋ. १३.

२. “दाइदी तू आम इन्ते वीस्तास्पाइ इषम मइ व्यायो ।”
(हा. २८७).

३. मं. १, सू. १००, ऋ. १७.

४. कामा-स्मारक ग्रन्थ ।

५. मं. ६, सू. १९, ऋ. ८.

६. मं. १, सू. ५२, ऋ. ५.

७. मं. १, सू. ११, ऋ. ५.

८. मं. १, सू. ५२, ऋ. ५.

९. K. M. Banerji's : Aryan Witness

१०. मं. १, सू. ८५, ऋ. १३; मं. १, सू. ४, ऋ. ८.

के लिए प्रचलित अनेक मतों का उल्लेख करते हुए नक्षत्रों से संबन्ध मानने वालों का भी उल्लेख किया गया है तथा वहीं पर उनकी कल्पनाओं के कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं। यहाँ पर उसी प्रकार के का नक्षत्रों से संबन्ध कुछ और उदाहरण दिये जाते हैं।

ऋग्वेद में लिखा है कि इन्द्र ने नमुचि को जल के फेन से मारकर^१ देवलोक का मार्ग खोल दिया। यहाँ पर वृत्र के समान ही नमुचि से भी मृगशीर्ष नक्षत्र का तात्पर्य लिया जाता है; क्योंकि वहीं पर वृत्र का मृगरूप धरकर प्रकट होना लिखा है।^२ जल के फेन से आकाश गङ्गा (Milky way) का संकेत है।^३ देवलोक का मार्ग खोलने से मृगशीर्ष का आकाश गङ्गा के निकट होना सूचित होता है।

यज्ञोपवीत वाले प्रजापति की कल्पना^४ भी इन्वका (के तीन तारों) से युक्त मृगशीर्ष नक्षत्र को देखकर ही की गई है। ऋग्वेद में चार आँखों वाले दो कुत्तों का यम-मार्ग की रक्षा करना कहा है।^५ पुराणों में मृत मनुष्य की आत्मा का वैतरणी नदी पारकर के यमलोक में जाना कहा है। इसी प्रकार ऋग्वेद में उस (आत्मा) का नौका से नदी को पार कर उत्तम लोक में जाना सूचित किया है।^६ ये कल्पनाएँ संभवतः वसन्त-संपात के मृगशीर्ष में रहने के समय की हैं; क्योंकि इनमें उस समय के आकाश के उस भाग का स्वरूप वर्णित है। यहाँ पर वैतरणी नदी और यम-मार्ग^७ से आकाशगङ्गा (Milky way) का, तथा दो कुत्तों से श्वन् तारे (केनिस मेजर Canis major) और प्रश्वन् तारे

१. मं. ८, सू. १४, ऋ. १३.

२. मं. १, सू. ३३, ऋ. १२ और मं. ८, सू. २८, ऋ. १४०.

३. आकाश में समुद्र की और तारों में फेन की उत्प्रेक्षा की परिपाटी संस्कृत में अब तक चली आती है—“नैतन्नभोमण्डलमम्बुराशिनैताश्च तारा नवफेन-भङ्गाः।”

४. “यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।”

५. मं. १०, सू. १४, ऋ. ११.

६. मं. १०, सू. ६३, ऋ. १०। (ग्रीक कथाओं में भी नदी को पार करने के लिए नौका का रहना कहा गया है। यह नौका अर्गोनेविस (Argonavis) नक्षत्रपुञ्ज है)।

७. मं. १०, सू. १४, ऋ. १ और ७.

(केनिस माइनर *Canis minor*) का तात्पर्य है ।^१ साथ ही स्वर्ग के और यम-लोक के द्वार से क्रमशः वसन्त-संपात और शरत्-संपात का संकेत है । इसी प्रकार संभवतः प्रकाश और अन्धकार के आधार पर देवयान और पितृ-यान की कल्पना^२ की गई है । तथा वसन्त-संपात और शरत्-संपात को इन्हीं देवयान और पितृयान के रूप में विभक्त किये खगोल के दोनों भागों को जोड़ने वाले मार्ग मानते हैं ।

वेदों में एक कथा है कि—एक समय इन्द्र ने—सरमा नाम की देवशुनी (कुतिया) को, पणियों द्वारा चुराकर छिपायी हुई गायों का पता लगाने को भेजा था ।^३ परन्तु उसके वहाँ पहुँचने पर पणियों ने उसे दूध पिला दिया । इससे वह लौटने पर गायों को देखने के विषय में इनकार करने लगी । इस पर इन्द्र ने उसे एक ठोकर लगाई । इससे उस को पिया हुआ दूध उगलना पड़ा । इस कथा में सरमा से श्वन्तारे का और दूध उगलने से आकाश गङ्गा (*milky way*) का संकेत है :

ऋग्वेद में एक स्थान पर^४ शुन और सीर देवताओं से दूध की वृष्टि करने की प्रार्थना है । यहां पर भी शुन और सीर से क्रमशः श्वन् और प्रश्वन् तारों का और दूध से आकाशगङ्गा का तात्पर्य है, तथा साथ ही इससे उन दोनों तारकाओं का आकाशगङ्गा (तारापथ) के निकट होना भी सूचित होता है ।

इसी प्रकार त्रिविक्रम की कथा से भी सूर्य की प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल की स्थितियों का तात्पर्य माना जाता है ।

१. ग्रीक-ज्योतिषशास्त्र में इस तारा-पथ (आकाशगङ्गा) के एक तरफ केनिस मेजर (*Canis major*) और दूसरी तरफ केनिस माइनर (*Canis minor*) का होना कहा है । तथा उनकी कथाओं में तीन सिर वाले 'कर्वेरास' और 'अर्थनास' नामक दो कुत्तों का यमलोक या स्वर्ग के द्वार के रक्षक होना बतलाया है । पारसियों की कथाओं में 'संपात' को देवलोक और पितृ-लोक के बीच का पुल माना है और उसका नाम चित्त्वत् बतलाया है । उस (पुल) के रक्षा करने वाले कुत्ते मृत पुरुषों की आत्माओं को उसे पार करने में सहायता देते हैं ।

२. उत्तरी ध्रुवप्रदेश पर देवयान के समय सूर्य के क्षितिज के ऊपर रहने से बराबर प्रकाश रहता है और पितृयान के समय सूर्य के क्षितिज के नीचे रहने से बराबर अन्धकार रहता है ।

३. मं. १०, सू. १०८.

४. मं. ४, सू. ५७, ऋ. ५.

बैबिलोनिया, असीरिया और मिस्र (इजिप्ट) में मिले भग्नावशेषों (खण्डहर) तथा ईंटों^१ और एक प्रकार के कागज^२ पर लिखे लेख वहाँ की सभ्यता और इतिहास को आज से ४,००० से ६,००० वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं। परन्तु भारत में, आज से ४५ वर्ष पूर्व तक ऐसी कोई सामग्री प्राप्त न होने से पाश्चात्य विद्वान् बैबिलोनिया, असीरिया और मिस्र को ही सभ्यता की आदि जननी मानते थे।^३ किंतु आज से ४५ वर्ष पूर्व पंजाब-प्रान्त के हरप्पा और सिन्ध के लरकाना जिले के मोहंजोदरो नामक स्थानों में भूगर्भ से निकले भग्नावशेषों और उनमें की सामग्री भारत की सभ्यता को भी सुमेरियन सभ्यता की समकालीन अथवा ५,००० से ६,००० वर्ष पुरानी सिद्ध करती है।^४

ऋग्वेद के मन्त्रों की भाषा^५ और भावों के आधार पर विद्वान् लोग उनका भिन्न-भिन्न समयों पर बनाया जाना अनुमान करते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं ऋग्वेद के मन्त्रों में ही पुराने और नये मन्त्रों का या ऋषियों द्वारा पुराने मन्त्रों के समान ही नये मन्त्रों के बनाने का उल्लेख है।

आगे वैदिक मन्त्रों की प्राचीनता पर विचार किया जाता है।

पाश्चात्यों का मत

प्रोफ़ेसर मैकडानल ऋग्वेद-संहिता का संकलन पहले-पहल ईसा से १,००० वर्ष पूर्व और दूसरी बार संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यथास्थान सन्धियाँ आदि करके ईसा से ६०० वर्ष पूर्व किया जाना मानते हैं।

१. असीरियन नरेश अश्शुर बेनिपाल के निनवेह के पुस्तकालय से ऐसी बहुत-सी ईंटें मिली हैं, जिन पर के लेखों से—मैसो पोटामिया के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ा है।

२. Papyrus.

३. Historian's History of the World, Vol. 1, p. 59.

(पाश्चात्यों के मतानुसार मिस्र के तुतन-खामन आदि प्राचीन वंश, चेल्डिया के सुमेरियन और निनवेह के असीरियन ही सबसे पुरानी सभ्य जातियों के लोग थे।

४. परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इस सभ्यता को आर्य सभ्यता न मानकर द्रविड सभ्यता मानते हैं।

५. ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ ईरानियों (पारसियों) की धर्म-पुस्तक अवेस्ता की गाथाओं से बहुत मिलती हैं। इससे भारतीय आर्यों और ईरानी आर्यों के पूर्वजों का इन ऋचाओं की रचना के बाद अलग होना अनुमान किया जाता है।

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ऋग्वेद का रचना-काल ईसा से १२०० वर्ष पूर्व बतलाते हैं। उनका कहना है कि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बुद्ध ने अपना बौद्ध धर्म चलाया था। उसमें ब्राह्मणों तथा श्रौत सूत्रों में वर्णित यज्ञानुष्ठान की समालोचना के कारण, उस समय सारे ही वैदिक साहित्य का विद्यमान होना प्रकट होता है।

इसके बाद उन्होंने सारे वैदिक युग को चार भागों में विभक्त किया है— छन्दःकाल, मन्त्र-काल, ब्राह्मण-काल और सूत्रकाल। इसके साथ ही उन्होंने प्रत्येक काल की विचारधारा के उदय होने और परिमार्जित होकर लिपिवद्ध होने के लिए २०० वर्ष का समय रखा है। इस तरह उनके मतानुसार सूत्रकाल का प्रारम्भ ईसा से ६०० वर्ष पूर्व रहता है। इसी में श्रौत सूत्रों की रचना हुई थी। इसके पूर्व के ब्राह्मण काल में ब्राह्मण बने, मन्त्र काल में यज्ञ विधान के विचार से मन्त्रों का चार संहिताओं में संकलन किया गया और छन्दःकाल में मन्त्रों की रचना की गई। इसके अनुसार ऋग्वेद की रचना का आज से करीब १२०० वर्ष पूर्व होना प्रकट होता है।

इस मत के प्रकट करने के ३० वर्ष बाद स्वयं डॉ. मैक्समूलर ने वैदिक मन्त्रों का रचना-काल ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व तक होना संभव मान लिया था।

जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जैकोबी वेदों का समय ईसा से ४,००० वर्ष के पूर्व अनुमान करते हैं।

लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक का मत

ईसा से ५०० वर्ष पूर्व के बौद्ध साहित्य से सिद्ध होता है कि उस समय के बहुत पहले से ही वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और सूत्र आदि के रूप में मिलने वाला सारा ही वैदिक साहित्य पूर्ण रूप से प्रचलित था।

ईसा के करीब ७०० वर्ष पूर्व के असुर बेनिपाल के पुस्तकालय से असीरिया में पूजे जाने वाले देवताओं के नामों की सूची मिली है। उसमें एक नाम 'अस्सर मजस्' (असुर मेधावी) भी है। यद्यपि यह नाम पारसियों की धर्म-पुस्तक 'जिन्द अवेस्ता' के मुख्य देवता 'अहुरमज्द' का सूचक है, तथापि इसके प्रथम भाग 'अहुर' में 'ह' के स्थान पर 'स' का प्रयोग होने से यह भाग वेद के (शक्तिमान् अर्थ वाले) 'असुर' शब्द से अधिक मिलता है।

एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के 'बोधाजकोई' स्थान से ईंटों पर खुदा एक लेख मिला है। यह ईसा से १,४०० वर्ष पूर्व का है। इसमें 'हिट्टाइट'

१. जो आर्य आपसी विरोध के कारण सप्तसिन्धु देश को छोड़ कर ईरान (फारस या पर्सिया) में जा बसे थे, वे ही बाद में पारसी कहलाये।

(हित्ति) और मिटानि (मितानि) जातियों के बीच हुई एक सन्धि की शर्तों का उल्लेख है, तथा इस सन्धि के संरक्षक-रूप से कुछ देवताओं के नाम भी दिये हैं। इनमें मिटानि (मितानि) जाति^१ के देवताओं में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनों) के नाम मिलते हैं। पारसियों की धर्म-पुस्तक अवेस्ता में भी इन नामों के मिलने से कुछ लोग इन्हें आर्यों के दो दलों के विभक्त होकर भारत और ईरान में जा बसने के पूर्व के उनके संयुक्त दल के देवता मानते हैं। परन्तु मैसोपोटेमिया के उक्त लेख में के नामों के अक्षर-विन्यास से प्रकट होता है कि ये नाम—अवेस्ता^२ से न लिये जाकर ऋग्वेद से ही लिये गये हैं; क्योंकि इनमें भी यथास्थान 'ह' का प्रयोग न किया जाकर 'स' का ही उपयोग किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह ऋग्वेदीय सभ्यता भारत में इस समय से बहुत पहले से विद्यमान थी और इसी से इसका प्रभाव पश्चिमी एशिया तक फैल चुका था।^३

इसके अतिरिक्त 'तेल-एल-अमर्ना' से उसी समय के कुछ पत्र मिले हैं। उनमें दिये मिटानि (मितानि) नरेशों के आर्ततम, तुस्रत्त, सुतर्न आदि नाम भी संस्कृत से बिगड़े हुए ही प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार ईसा से पूर्व के १७४६ और ११८० वर्षों के बीच बैबिलोनिया (बाबुल) पर राज्य करने वाले करसाइट जाति वालों के शुरिअ (सूर्य), मर्यत (मरुत) आदि नाम भी संस्कृत नामों के अपभ्रंश रूप ही हैं।

वेदाङ्ग ज्योतिष में लिखा हैः—

“प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसाबुदक् ।

सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥६॥

अर्थात्—सूर्य और चन्द्रमा श्रविष्ठा (नक्षत्र) के प्रारंभ में उत्तर की तरफ

१. उक्त संधि करने वाले मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउजा' (मत्यौजा) था। इससे सिद्ध होता है कि यह मितानि जाति भी आर्यों की ही एक शाखा थी।

२. अवेस्ता में इन्द्र को शैतान मानने से भी इन देवताओं के नामों का ऋग्वेद से लिया जाना ही सिद्ध होता है।

३. ऋग्वेद (मं. १०, सू. १०६, ऋ. ६) में आये 'पर्फरी', 'तुर्फरी' आदि शब्द चैल्डियन भाषा के माने जाते हैं। लोकमान्य तिलक हिब्रू भाषा के 'जैहोव' शब्द को आर्यों के यहाँ के 'यह्व' शब्द का ही (जिसका अर्थ समर्थ या देवता होता है) रूपान्तर मानते हैं।

४. ऋग्वेद ज्योतिष Vaidya's History of the Vedic literature Vol. I, pp. 35-37.

जाते हैं। आधे आश्लेषा में सूर्य का दक्षिणायन होता है। ये सदा क्रम से माघ और श्रावण में होते हैं।

वेदाङ्ग ज्योतिष के उपर्युक्त वाक्य में वर्तमान काल का प्रयोग होने से श्रीशङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने^१ सूक्ष्म गणित द्वारा उक्त पुस्तक का रचना-काल ईसा से १४०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के पूर्व ही वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् अस्तित्व में आ चुके थे। वेदाङ्ग-ज्योतिष की भाषा भी पीछे की होने से इस बात की पुष्टि करती है।

मैत्रायणीय उपनिषद् के तीन भाग हैं। इनमें का पहला प्राचीन, दूसरा मध्य-कालिक और तीसरा अर्वाचीन है। दूसरे भाग में उत्तरायण का श्रविष्ठा (धनिष्ठा) नक्षत्र के मध्य में होना लिखा है। परन्तु इस समय उत्तरायण पूर्वाषाढा में होता है। इससे इसके द्वितीय भाग का ईसा से १,९०० वर्ष पूर्व और प्रथम भाग का २,००० वर्ष पूर्व बनना अनुमान किया जाता है।

शतपथब्राह्मण^२ में कृत्तिका नक्षत्र के विषय में लिखा है —

“एकं द्वे त्रीणि चत्वारोति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति तस्मात् कृत्तिका स्वादधीत। एता ह वै प्राच्यं दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यं दिशश्च्यवन्ते।”

अर्थात्—कृत्तिका पूर्वदिशा से विचलित नहीं होतीं। (ठीक पूर्व के बिन्दु पर ही उदय होती हैं।) परन्तु अन्य सारे नक्षत्र पूर्व से हटते हैं। (हटकर उदय होते हैं)। यहाँ पर भी वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग होने से यह उस समय की स्थिति बतलाता है। परन्तु आजकल यह (कृत्तिका) पूर्वी बिन्दु से कुछ हटकर (उत्तर^३ की ओर) उदय होती है।

सूर्य के संक्रमण के आधार पर वर्ष में ६ ऋतुओं का होना माना गया है : सूर्य का यह संक्रमण-वृत्त ३६० अंश का है, और इसे २७ भागों में बाँटा गया है।

१. श्री कोलब्रुक (Mr. Colebrooke) ने आकाश में निश्चित धनिष्ठा नक्षत्र के प्रदेश के प्रारम्भ को लेकर इस स्थिति का ईसा से १,२०० वर्ष पूर्व होना माना है। श्री दीक्षित ने धनिष्ठा नक्षत्र के प्रथम तारे को आधार मानकर अपनी गणना की है।

२. २।१।२.

३. इस समय वह क्रान्ति-वृत्त से कुछ उत्तर ४°२ अंश पर है।

४. वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर।

ये विभाग नक्षत्र कहाते हैं। इनमें का प्रत्येक विभाग $(360 \div 27) = 13.20$ अंश का है।

आजकल वसन्त¹ संपात (vernal equinox) मीन संक्रान्ति से प्रारंभ होता है तथा इस संक्रान्ति का प्रारम्भ पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र के चतुर्थ चरण से माना जाता है। परन्तु यह सूर्य का संक्रमण-बिन्दु बराबर पीछे हटता रहता है। इस को एक अंश पीछे हटने में ७२ वर्ष और पूरे १ नक्षत्र पीछे हटने में मोटे तौर पर $(72 \times 13\frac{1}{2})$ ९७२ वर्ष लगते हैं। आजकल वसन्त-संपात पूर्वा भाद्र-पदा नक्षत्र में होने से, यह संक्रमण-बिन्दु कृत्तिका में होने वाले वसन्त-संपात-काल से करीब $4\frac{1}{2}$ नक्षत्र पीछे हट चुका है। इसे इतना पीछे हटने में करीब $(972 \times 4\frac{1}{2})$ ४३७४ वर्ष लगे होंगे। इस गणना से वह काल ईसवी सन् से करीब २५०० वर्ष पूर्व रहा होगा। श्रीशङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने अपनी गणना से ऐसे समय का ईसवी सन् से ३,००० वर्ष पूर्व होना सिद्ध किया है।^२

१. करीब २,००० वर्ष पूर्व संपात-बिन्दुओं के अयनांशों (Precession of the equinoxes) का पता चला था। वसन्त-संपात (vernal equinox) को भूकक्षा-वृत्त (ecliptic) का चक्कर लगाने में करीब २६,००० वर्ष लगते हैं। यह एक लंबा नक्षत्र-युग है। इसी संपात का यथाक्रम नक्षत्रों (और राशियों) में से होकर आगे बढ़ना नक्षत्र-युग के छोटे-छोटे भागों को प्रकट करता है। यद्यपि इस वसन्त-संपात के अयनांशों का ज्ञान हर एक पुरुष को नहीं हो सकता, तथापि वसन्त-संपात का ज्ञान सुगमता से हो जाता है।

उत्तरीय गोलार्ध में इससे वसन्त ऋतु का आगमन सूचित होता है। पंजाब में अनाज के पकने से वसन्त के प्रारम्भ का ज्ञान होता है। कहीं पतझड़ होकर नवीन पल्लवों के आने से इसकी सूचना मिलती है। ऊँचे अक्षांश (latitude) वाले प्रदेश में, जहाँ सूर्य कुछ महीनों के लिए क्षितिज (horizon) के नीचे चला जाता है, वहाँ सूर्य के क्षितिज से ऊँचे उठने से इस का बोध होता है। इससे ज्ञात होता है कि आर्य ऋषि ताराओं की ओर उनके पास से होकर भ्रमण करते हुए चन्द्रमा की गति का तथा सूर्य के उत्तर के दूरतम बिन्दु से दक्षिण के दूरतम बिन्दु तक की ओर वहाँ से लौटकर आने की गति का बराबर निरीक्षण करते रहते थे। उन्होंने सूर्य की इसी गति के मार्ग के मध्य-बिन्दु को पूर्व दिशा माना था।

२. भारतीय ज्योतिःशास्त्र, (१८९६), पृ. १३६-१४०। (विषुवद्वृत्त की अग्रगति भूकक्षा की स्थिति को क्रान्ति-मण्डल की स्थिति के साथ स्थिर नहीं रहने देती। इसी गति के आधार पर यह गणना की गई है।

यह शतपथ ब्राह्मण का निर्माणकाल माना जा सकता है। अतः ऋग्वेद का काल इससे पूर्व ही होना चाहिए।

ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा वृत्र का सिर काटना और वृत्र का मृग-रूप धारण कर प्रकट होना लिखा है।^१ उक्त संहिता में प्रजापति की कथा भी मिलती है।^२ शतपथब्राह्मण^३ में रुद्र द्वारा प्रजापति का बाण से भेदन किया जाना लिखा है। सायणाचार्य ने वहाँ पर के अपने भाष्य में लिखा है कि रुद्र का वह बाण और प्रजापति का वह सिर आकाश में पहुँच नक्षत्र-रूप से चमकने लगे। इसी प्रकार ग्रीक कथा में अपोलो का ओरियन (Orion) के मस्तक को बाण से छिदवाना कहा है।^४ ये कथाएँ मृगशीर्ष नक्षत्र के आकार के कारण ही प्रचलित हुई हैं। इसका आशय इस प्रकार है :—रोहिणी (नक्षत्र) रूपी कन्या के कामुक मृगशीर्ष^५ (नक्षत्र) रूपी प्रजापति को व्याध (Sirius) रूपी रुद्र ने इन्वका (Belt of orion) रूपी तीन तारों के बाण से मारा था।^६

उस समय कृत्तिका से ही नक्षत्र-गणना का प्रारम्भ होता था, और कृत्तिका में ही वसन्त-संपात होता था। आजकल २१ मार्च (और २३ सितम्बर) को दिन-रात बराबर होता है।

१. मं. १, सू. ३३, ऋ. १२ और मं. १, सू. ८०, ऋ. ७.

२. मं. १०, सू. ६१, ऋ. ५-७.

३. २।१।२, ८.

४. ग्रीक कथा में कहा गया है कि अपोलो देवता को जब अपनी बहिन का ओरियन (Orion) से प्रीति करना ज्ञात हुआ, तब उस (अपोलो) ने उसी (बहिन) के द्वारा समुद्र में तैरते हुए ओरियन के मस्तक को बाण से छिदवा डाला।

५. मृगशीर्ष नक्षत्र में व्याध (Sirius) सहित ५ तारे प्रथम वर्ग के (अधिक प्रकाश वाले) और अनेक तारे द्वितीय वर्ग के हैं। यह तारका पुञ्ज आकाश-गङ्गा के एक ओर आया हुआ है। वैदिक साहित्य में इस (मृगशीर्ष तारका पुञ्ज) के विषय में अनेक कल्पनाएँ मिलती हैं।

६. अथवा वर्षारम्भ के समय प्रजापति अर्थात् सूर्य के मृगशीर्ष नक्षत्र से पीछे हटते हुए रोहिणी नक्षत्र की ओर उदय होने को अपनी कन्या की कामना कर उसकी तरफ जाना और आर्द्रा नक्षत्र के देवता रुद्र का या मृगव्याध (sirious) का इन्वका के तीन तारों-रूपी बाण (त्रिकाण्ड शर) से मृगशीर्ष नक्षत्र-रूपी प्रजापति के मस्तक को छेदना सूचित किया है।

इसके अतिरिक्त उसमें यममार्ग के रक्षक दो कुत्तों का भी उल्लेख है।^१ पारसियों के यहाँ इन्हें 'चिन्वत' पुल के रक्षक श्वान कहा है। ये भारतीयों के श्वान तारे हैं, जिन्हें ग्रीक Canis major और Canis minor कहते हैं।

ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है :^२— “नींद से उठे ऋभुओं ने पूछा कि— हे सूर्य ! हम को किसने जगाया ? सूर्य ने श्वान (कुत्ते) को जगाने वाला बतलाया और कहा कि आज वर्ष समाप्त हो गया है।”

लोकमान्य वाल गङ्गाधर तिलक यहाँ पर ‘ऋभु’ का अर्थ ‘ऋतु’ और श्वान का अर्थ मृगशिरा नक्षत्र के पास का श्वान तारका-पुञ्ज मानते हैं। उनके मतानुसार इस ऋचा का तात्पर्य इस प्रकार है :—

ऋतु देवता वर्ष-पर्यन्त कार्य करते रहकर अन्त में १२ दिनों तक ‘अगोह्य’ अर्थात् सूर्य के घर में सो जाते थे। (ये १२ दिन सौर और चान्द्र वर्ष के अन्तर के (अधिक) दिवस थे।^३ इसके बाद सूर्य के श्वान तारका-पुञ्ज में आते ही वसन्त ऋतु का और नववर्ष का प्रारम्भ हो जाता था; तथा ऋतु देवता जागकर फिर से अपना कार्य प्रारम्भ कर देते थे। अर्थात् उस समय वसन्त-संपात^४ सूर्य के श्वान-पुञ्ज के निकट आने पर होता था।^५ अथवा उत्तरायण या देवयान का प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा से^६ होता था और नक्षत्र-माला का प्रारम्भ मृगशीर्ष नक्षत्र से माना जाता था।^७

इसी प्रकार ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ८६वें सूक्त में इन्द्र, इन्द्राणी और

१. मं. १०, सू. १४, ऋ. १०-११.

२. मं. १, सू. १६१, ऋ. १३.

३. मं. १, सू. २५, ऋ. ८.

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण में वसन्त को ऋतुओं का मुख कहा है (१।१।२।६)।

५. इससे पितृयान के अन्त और संवत्सर के प्रारम्भ में श्वन् तारका-पुञ्ज का सूर्योदय के पहले पूर्व दिशा में उदय होना सूचित होता है।

६. “एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्या फाल्गुनी पूर्णमासी” (शतपथ ब्राह्मण, ६।२।२।१८)।

७. इसी से इसका दूसरा नाम ‘आग्रहायणी’ (वर्षारम्भ का नक्षत्र) भी है। ग्रीक लोग इस ‘आग्रहायण’ को ‘ओरायन’ कहते हैं।

वृषाकपि का संवाद^१ है। वहाँ पर वृषाकपि से शरत्-संपात में आये सूर्य का संकेत मानकर यह तात्पर्य लिया जाता है—

उस समय दक्षिणायन या पितृयान के प्रारम्भ होने से यज्ञ बंद हो जाते थे। इससे क्रुद्ध होकर इन्द्राणी ने उस (वृषाकपि) के पीछे कुत्ता लगा दिया। अतः वृषाकपि अपने घर (नीचे पितृयान या दक्षिण की ओर) चला गया। इसके बाद इन्द्र और इन्द्राणी ने वृषाकपि को, यज्ञ के लिए, वापस (उत्तर में अपने घर देवयान में) बुलवाया। परन्तु उस समय उसके पास मृग नहीं था। अर्थात्—जब श्वानपुञ्ज के पास वाले मृगशिरा नक्षत्र के उदय होने पर सूर्यास्त होने लगा, तब दक्षिणायन के कारण यज्ञ बंद हो गये। परन्तु वृषाकपि के वापस घर लौट आने अर्थात्—सूर्य के मृगशिरा नक्षत्र में उदय होने पर, उत्तरायण या वर्षारम्भ के कारण, यज्ञ फिर से प्रारम्भ हो गये। साथ ही सूर्य के मृगशिरा नक्षत्र में उदय होने के कारण यह नक्षत्र-रूपी मृग भी दिखना बन्द हो गया।

गणना के आधार पर वसन्त संपात के कृत्तिका और रोहिणी दो नक्षत्रों को पार कर मृगशिरा नक्षत्र में^२ आने में (९७२ × २) १९४४ या मोटे तौर से करीब २,००० वर्ष लगे होंगे। अतः मृगशिरा नक्षत्र से वर्षारम्भ होने का काल

१. कुछ लोग इस वृषाकपि सूक्त का ईसा से करीब १६,००० वर्ष पुराना होना अनुमान करते हैं। इसी प्रकार—

सूर्याया बहनुः प्रागात्सविता यमवासृजत् ।

अघासु हन्यन्ते गावोर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

(मं. १०, सू. ८५, ऋ. १३)

अर्थात्—सूर्य ने (विवाह के समय) सूर्या को जो चादर दी थी, वह आगे-आगे चली और (उसे ढोने को) जो गायें दी थीं, मघा नक्षत्र में उन्हें डंडे से पीटा जाता है और पूर्वा और उत्तरा फाल्गुनी में उस चदर को रथ पर ले जाते हैं। इस का भावार्थ यह लिया जाता है कि सूर्य की गायों रूपी किरणों को, मघा में उनकी गति धीमी हो जाने से, डंडे से पीटते हैं और फाल्गुनी नक्षत्र में उनके साथ के चादर-रूपी प्रकाश को रथ पर ले जाते हैं। अर्थात्, उसकी गति तेज हो जाती है। इससे यह माना जाता है कि इस मन्त्र की रचना के समय मघा में सूर्य की दक्षिणायन-यात्रा समाप्त होकर फाल्गुनी में उत्तरायण-यात्रा प्रारम्भ होती थी। गणित द्वारा ऐसा समय ईसा से करीब १५,००० वर्ष पूर्व रहा बतलाया जाता है।

२. इसी से गीता में 'मसानां मार्गशीर्षोऽहम्' कहा गया है।

ईसा से ४,५०० वर्ष पूर्व आता है।^१ लोकमान्य वाल गङ्गाधर तिलक के मतानुसार, आर्यदलों के विभक्त होने के पूर्व,^२ उपर्युक्त समय में, वेदों की अनेक ऋचाएँ और सूक्त तैयार हो चुके थे।^३

तैत्तिरीयसंहिता में 'गवामयनम्' जैसे वार्षिक यज्ञ की दीक्षा लेने के समय पर विचार करते हुए फाल्गुनी पूर्णिमा^४ और चित्रा (चैत्री) पूर्णिमा का उल्लेख किया गया है। फाल्गुनी पूर्णिमा का विचार ऊपर किया जा चुका है। आगे चैत्री पूर्णिमा पर विचार किया जाता है।

चैत्री पूर्णिमा के दिन उत्तरायण का प्रारम्भ मानने से वसन्त-संपात पुनर्वसु नक्षत्र में मानना होगा। पुनर्वसु की अधिष्ठात्री देवता अदिति है। इसे देवताओं की माता माना है। ऐतरेयब्राह्मण^५ और तैत्तिरीयसंहिता में^६ अदिति से ही सब यज्ञों का प्रारम्भ और अन्त होना कहा है। वाजसनेयी संहिता में^७ अदिति को दोनों ओर मुख वाली कहा है। इससे ज्ञात होता है कि अदिति देवता वाले पुनर्वसु नक्षत्र से प्रारम्भ होने वाले यज्ञ वर्ष-भर बाद उसी नक्षत्र के लौटकर आने

१. Arctic Home in the Vedas, p. 420.

२. लोकमान्य तिलक इस समय में ही भारतीय और ईरानी आर्यों का पृथक् होना मानते हैं; क्योंकि वसन्त-संपात के मृगशिरा नक्षत्र में होने पर देवयान का प्रारम्भ मानने से (इस समय सूर्य उत्तरी गोलार्ध में रहता है) शरत्-संपात मूला नक्षत्र में आता है और पितृयान (दक्षिणायन) भादों में प्रारम्भ होता है। पारसियों का पितृयान भी भादों से ही प्रारम्भ होता है और उनका पितृपक्ष भी इसी (भादों के) मास में आता है। यदि शुक्ल पक्ष से महीनों का प्रारम्भ माना जाय तो भारतीयों का पितृपक्ष भी भाद्रपद कृष्ण में आयगा। कृष्ण पक्ष से महीनों का प्रारम्भ मानने वाले इसी को आश्विन कृष्ण कहते हैं।

३. जर्मन विद्वान् प्रोफेसर हर्मन जैकोबी भी गृह्य सूत्रों में कहे ध्रुव दर्शन के आधार पर मन्त्रों का रचना-काल ईसा से पूर्व की चौथी सहस्राब्धि मानते हैं (विन्टर-निट्स हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ. २९६-२९७)।

४. "फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष का मुख है।" (७।४।८)। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी यह बात मिलती है (७।१०)। लोकमान्य तिलक का कथन है कि यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुनी में था, तो सूर्य और वसन्त-संपात का मृगशिरा में होना आवश्यक था।

५. १।७.

६. ४।१।५।१.

७. ४।१९.

पर समाप्त होते थे। अर्थात्—जिस समय यह नियम प्रचलित था, उस समय वसन्त-संपात पुनर्वसु नक्षत्र में होता था, और उसी समय से यज्ञ का और संवत्सर का प्रारम्भ माना जाता था; तथा पुनर्वसु नक्षत्र ही नक्षत्रमाला का प्रथम नक्षत्र समझा जाता था। यह काल मृगशीर्ष नक्षत्र से २ नक्षत्र आगे होने से मोटे तौर पर उस काल से करीब २,००० वर्ष पहले जाता है। अर्थात्—ऐसा समय ईसा से ६,५०० या ६,००० वर्ष पूर्व रहा था।^१ लोकमान्य तिलक इसी काल को भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम काल मानते हैं। सम्भवतः उस समय परिष्कृत सूक्त अज्ञात थे। केवल गद्य-पद्यमय निविद् (छोटे-छोटे वैदिक सन्दर्भ) या यज्ञ के नियम, जिनमें उन देवताओं के, जिन का आह्वान किया जाता था, नामों, उपाधियों और कार्यों की सूचना रहती थी, प्रचलित थे।^२ इनका प्रयोग अनुष्ठानों के समय किया जाता था। ग्रीकों (यवनों) और पारसियों आदि में इस समय की स्मृतियाँ और

१. Arctic Home in the Vedas, p. 420. ऊपर दी हुई सारी ही नक्षत्र-गणना स्थूल रूप से की हुई है। परन्तु इसमें १००-२०० वर्षों के अन्तर से विशेष भेद नहीं पड़ता।

२. ऋग्वेद में प्राचीन सूक्तों, देवताओं के प्राचीन पराक्रमों और प्राचीन पूर्वजों का उल्लेख मिलने से आर्य सभ्यता का आज से ६,००० से १०,००० वर्ष पूर्व की होना कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में एक मन्त्र में कहा है —

दिविश्चिदा पूर्व्या जायमाना विजागृर्विदधे शस्यमाना ।

भद्रा वस्त्राभ्यजुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्याधीः ॥

(मं. ३, सू. ३९, ऋ. २)

अर्थात्—पूर्वज लोग प्राचीन समय में वेद-मन्त्रों का गान करते थे। वे उस काल से ही चले आते हैं। इससे कुछ मन्त्रों का और भी अधिक प्राचीन होना सिद्ध होता है।

प्रोफेसर ब्लूमफील्ड भी आर्य सभ्यता का वास्तविक प्रारम्भ वैदिक साहित्य से कई हजार वर्ष पूर्व होना मानते हैं (हॉपकिन-विश्वविद्यालय के १८वें वार्षिकोत्सव पर का उनका भाषण)।

श्री थोर्टन आर्य सभ्यता को नील नदी के निकट के मिस्री पिरामिडों से पहले की अनुमान करते हैं (History of India)।

श्री ऐम्मुइ निकोलाइट मिस्री, हिब्रू, यूनानी और रोमन कानूनों पर मनु का प्रभाव होना मानते हैं (La Bible Dans L'Inde, 1890, p. VIII.)

रुधिराँ लोप हो चुकी हैं।^१ परन्तु मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त-संपात होने का समय, जो ईसा से करीब ४,५०० वर्ष पूर्व था, आयों का महत्वपूर्ण युग था। इस समय ऋग्वेद में के वृषाकपि आदि सूक्तों की रचना की गई थी, तथा प्राचीन आख्यानों का विस्तार और नवीन आख्यानों की उत्पत्ति हुई थी।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर लोकमान्य वाल गङ्गाधर तिलक ने वैदिक काल को चार युगों में बाँटा है —

१. पुनर्वसु (अदिति) काल—(६,००० से ४,००० वर्ष ईसवी सन् पूर्व)।

यद्यपि उस समय तक वेदों में के पद्यमय सूक्तों की रचना नहीं हुई थी, तथापि गद्य-पद्यमय वचनों में उपास्य देवताओं के नाम, उनके विशेष गुण और उनके पराक्रम आदि का वर्णन करने वाले निविदों (यज्ञ-संबंधी विविध वाक्यों) की रचना की गई थी। इनका प्रयोग अनुष्ठानों के समय किया जाता था।

२. मृगशिरा-काल—(करीब ४,००० से २,५०० वर्ष ईसवी सन्-पूर्व)।

इसी काल में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र बने।

३. कृत्तिका-काल—(करीब २,५०० से १,४०० वर्ष ईसवी सन् पूर्व)।

इस काल में तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मण रचे गये। इसी युग के अन्तिम भाग में वेदाङ्ग ज्योतिष बनाया गया था; क्योंकि उसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर की तरफ घूम जाने का उल्लेख है। गणना से ऐसा समय ईसवी सन् से १४०० वर्ष पूर्व होना माना जाता है।

४. अन्तिम काल—(करीब १,४०० से ५०० वर्ष ईसवी सन् पूर्व)।

इसमें श्रौत और गृह्यसूत्र तथा दर्शन रचे गये। इसी के अन्तिम भाग में वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई।

आगे इस विषय में श्री अविनाशचन्द्र दास आदि अन्य भारतीय विद्वानों के मत उद्धृत किये जाते हैं।

ऋग्वेद में एक मन्त्र है।^२ उसमें सरस्वती नदी का पर्वत से निकलकर समुद्र में गिरना प्रकट किया है। इससे ज्ञात होता है कि जो सरस्वती इस समय राजस्थान के रेतीले भाग में लुप्त हो जाती है,^३ वह उक्त मन्त्र की रचना के समय हिमालय

१. Orion (or Research into the antiquities of the Vedas (1893) p. 206.

२. मं. ७, सू. ९५, ऋ. २। दूसरे स्थान पर सरस्वती और शुतुद्रि नदियों का गर्जन कहते हुए समुद्र में गिरना कहा है (मं. ३, सू. ३३, ऋ. २)।

३. ताण्ड्य ब्राह्मण में सरस्वती का विनशन में विलुप्त होकर प्लक्ष-प्रसवण में पुनः प्रकट होना कहा है (२५।१०।६)।

से निकलकर राजस्थान की भूमि पर स्थित समुद्र में गिरती थी। अर्थात्—उस समय राजस्थान समुद्र-गर्भ में था। यह बात भूगर्भशास्त्र से भी प्रमाणित हो चुकी है। अध्यापक मैकडौनल आदि इस कथन से सरस्वती का सिन्धु नदी से मिलना मानते हैं। परन्तु सरस्वती की धारा के मिलने वाले प्राचीन तल-चिह्नों से उसका सिन्धु में मिलना सिद्ध नहीं होता। श्री वी. बी. केतकर ने राजस्थान का ईसा से ७,५०० वर्ष पूर्व समुद्र-गर्भ से बाहर आना प्रमाणित किया है।^१ अतः इस मन्त्र की रचना इसके पूर्व ही की गई होगी।

उस समय आर्य सात नदियों वाले सप्तसिन्धु देश में रहते थे। इन सात नदियों में सिन्धु और उसके पश्चिम की उसकी मुख्य सहायक नदियाँ और उसके पूर्व की सरस्वती नदी शामिल थी। ऋग्वेद में गङ्गा और यमुना का उल्लेख गौण रूप से एक-दो बार ही आया है।^२ ये सप्तसिन्धु की नदियों से भिन्न थीं। परन्तु उक्त संहिता में गङ्गा और यमुना के आगे की उत्तरी भारत की न तो किसी नदी का, न पञ्चाल, कोसल, मगध,^३ अङ्ग या वङ्ग प्रदेश का नाम ही मिलता है। इसी प्रकार उसमें न तो दक्षिण की तरफ की किसी नदी का, न दक्षिणापथ या विन्ध्य-पर्वत का नाम ही मिलता है। अतः उस समय सप्तसिन्धु की अथवा आर्यों के देश की सीमा उत्तर-पश्चिम में गन्धार (कंधार और काबुल) तक तथा उत्तर में हिमालय के उस पार बैक्ट्रिया और पूर्वी तुर्किस्तान तक थी। इन्हीं सीमाओं के बीच सप्तसिन्धु अथवा बृहत् सप्त-सिन्धु देश था। यहीं पर प्राचीनतम मन्त्र रचे गये थे, और यहीं पर आर्य सभ्यता का विकास हुआ था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि सप्तसिन्धु और गङ्गा तथा यमुना के परे के इन प्रदेशों के बीच कोई पर्वतीय रुकावट न होने पर भी आर्यों को पञ्चाल, कोसल आदि का परिचय न हो सका। यही अवस्था दक्षिणापथ की भी थी; क्योंकि जो लोग हिमालय और सुलेमान पर्वत-श्रेणियों को, उन की तंग और ऊँची-नीची घाटियों के मार्ग से, पार करने के अभ्यस्त थे, उनके लिए विन्ध्य की पर्वत श्रेणी अलङ्घ्य नहीं हो

१. First Oriental Conference, Poona, 1919 A.D.

२. मं. १०, सू. ७५.

३. मं. ३, सू. ५३, ऋ. १४ में कीकट देश का नाम आया है। परन्तु यहाँ पर कीकट से मगध या दक्षिणी बिहार का तात्पर्य न होकर सप्तसिन्धु के ही किसी अनुर्वर पहाड़ी प्रदेश का तात्पर्य था। यहाँ अनार्य बस्ती होगी। कालान्तर में प्रवासी आर्यों ने पूर्व की तरफ आगे बढ़कर यही (कीकट) नाम दक्षिणी बिहार का भी रख दिया होगा।

सकती थी। अतः ऋग्वेद में इन प्रदेशों के उल्लेख न होने का कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में^१ पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का उल्लेख है। इसमें उन समुद्रों से मुनि (सूर्य) का (उदयास्त के समय का) संबन्ध बतलाया है। भूगर्भ-शास्त्रज्ञ भी इन समुद्रों के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। उनके मतानुसार सप्त-सिन्धु के पूर्वी किनारे से आसाम तक समुद्र फैला हुआ था। गङ्गा और यमुना अपने उद्गम से थोड़ा आगे बढ़कर इसी समुद्र में गिरती थीं। इसी प्रकार राजस्थान पर के समुद्र के तथा मध्य और पूर्वी हिमालय से विन्ध्य-पर्वतश्रेणी के बीच के समुद्र के विद्यमान होने के कारण सप्त सिन्धु से दक्षिणापथ का मार्ग अवरुद्ध था।^२

ऋग्वेद में उषाकाल के पूर्व उदय होने वाले अश्विनों को भी 'समुद्रमातरः'^३ कहकर इनका पूर्वी समुद्र की ओर से आना प्रकट किया है।^४ इसी प्रकार उषा^५ और सूर्य^६ का भी इसी (पूर्वी) समुद्र से प्रकट होना बतलाया है। ऐसे ही एक मन्त्र में समुद्र में छिपे सूर्य के बाहर निकलने का उल्लेख है।^७ पश्चिमी समुद्र, जिसमें सूर्य सायङ्काल के समय डूब जाता था, अरब सागर की ही एक शाखा था, जो उस समय पश्चिमी घाट के सहारे सिन्धु की नीचे की घाटी तक फैला हुआ था, तथा आधुनिक सिन्धु प्रान्त का बड़ा भाग, सम्भवतः लाट तक, इसीके गर्भ में था। इस भूगर्भशास्त्रीय सूचना की ऋग्वेद से भी पुष्टि होती है। उसमें एक स्थान पर चार समुद्रों का उल्लेख है।^८ यही बात उसके दसवें मण्डल में भी कही

१. मं. १०, सू. १३६, ऋ. ५.

२. श्री एच. जी. वैंस (Outline of History, pp. 39 & 45 में) इस समुद्र का आज से पूर्व ५०,००० और २५,००० वर्षों के बीच विद्यमान होना मानते हैं।

३. मं. १, सू. ४६, ऋ. २.

४. मं. १, सू. ४६, ऋ. ८ और मं. ४, सू. ८०, ऋ. ५.

५. मं. ४, सू. ८०, ऋ. ५.

६. मं. ३, सू. ५५, ऋ. १; मं. ५, सू. ४५, ऋ. १०; मं. ७, सू. ५५, ऋ. ७ और मं. १०, सू. १३६, ऋ. ५.

७. मं. १०, सू. ७२, ऋ. ७.

८. मं. ९, सू. ३३, ऋ. ६ और मं. ७, सू. ३३, ऋ. ६.

गई है।^१ आर्य लोग इन समुद्रों में नावों द्वारा व्यापार करते थे।^२ परन्तु इस समय केवल अरब सागर ही सप्तसिन्धु के दक्षिण-पश्चिम में रह गया है। पुनश्च यह बात सर्व सम्मत है कि ऋग्वेदकालीन आर्य सप्तसिन्धु से बाहर नहीं गये थे। अतः पूर्व की बंगाल की खाड़ी और दक्षिण का भारत सागर बहुत दूर होने के कारण सप्तसिन्धु से सम्बन्ध नहीं रखते थे। परन्तु अब भूगर्भशास्त्र से भी सिद्ध हो चुका है कि सप्त सिन्धु के पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र थे। उत्तर का समुद्र हिमालय के पीछे की आर्य वस्ती के पास किसी स्थान पर था। भूगर्भ-शास्त्र से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में ऐसा समुद्र एक ओर आधुनिक तुर्किस्तान की साइबेरिया की तरफ की उपत्यका से और दूसरी ओर मंगोलिया की सीमा से कृष्णसागर तक के लंबे-चौड़े भूभाग पर फैला हुआ था। यह 'एशियाई भूमध्यसागर' कहा जाता है। परन्तु पीछे से यह समुद्र लुप्त हो गया। इस समय उसके स्थान पर कृष्णसागर, कैस्पियनसागर, अरालसागर, बाल्कश झील और एक लंबा-चौड़ा सूखा निम्न घरातल रह गया है। उस समय काला समुद्र मैडिटरेनियन (भूमध्यसागर) से मिला हुआ न था। इसका पश्चिमी किनारा बौस फ़रस (Bosphorus) का स्थल डमरू मध्य बनता था, और यह एशिया को यूरोप से मिलाता था। प्राचीन काल में पूर्वी तुर्किस्तान की सीमा पर भी एक बड़ा समुद्र था। इस समय इसका अवशेष लोबनोर झील के रूप में विद्यमान है। ये भूगर्भशास्त्र से प्रमाणित तथ्य हैं, इनसे ऋग्वेद-काल की अति प्राचीनता सिद्ध होती है।

ऋग्वेद और अवेस्ता के अनुसार प्राचीन काल में सप्तसिन्धु में वर्ष के अधिकांश भाग में शीत बना रहता था। इससे आर्यों के शारीरिक और मानसिक विकास में सहायता मिलती थी। इसी शीत के कारण सप्तसिन्धु के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में होने वाली ऋतु की प्रधानता के अनुसार कहीं वर्ष को शरद् के नाम से और कहीं हेमन्त के नाम से प्रकट किया गया है। इन शब्दों के प्रयोग से उस

१. मं. १०, सू. ४७, ऋ. २.

२. मं. १, सू. ४८, ऋ. ३; मं. १, सू. ५६, ऋ. २; मं. १, सू. ११६, ऋ. ३; मं. ४, सू. ५५, ऋ. ६; मं. ५, सू. ८५, ऋ. ६ और मं. ७, सू. ८८, ऋ. ३.

३. मं. ७, सू. ६६, ऋ. १६.

४. मं. १, सू. ६४, ऋ. १४; मं. २, सू. १, ऋ. ११; मं. २, सू. ३३, ऋ. २; मं. ५, सू. ५४, ऋ. १५; मं. ६, सू. १०, ऋ. ७ और मं. ६, सू. ४८, ऋ. ८.

समय सप्तसिन्धु में शीतल^१ या मृदु जलवायु का रहना सिद्ध होता है । परन्तु उपर्युक्त चार समुद्रों में से तीन समुद्रों के लुप्त हो जाने से अब मौसम में बड़ा अन्तर हो गया है ।

अवेस्ता में भी लिखा है कि हप्त हेन्दु का मौसम पहले आनन्ददायक और शीतल था । परन्तु दुष्ट ऐंग्रमैन्यु ने उसे उष्ण कर दिया । श्री मैडलि कौट (Medlicott) लिखते हैं कि प्राचीन काल में भारत में गर्मी बहुत कम होती थी, ऐसा आभास मिलता है ।^३ श्री एच. एफ. ब्लेनफोर्ड (H. F. Blanford) भी इस बात की पुष्टि करते हैं ।^३ इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में भी ऐसा ही अनुमान प्रकट किया गया है ।^५ परन्तु आजकल सप्तसिन्धु (पंजाब) का मौसम सदियों में अति शीत और अन्य ऋतुओं में अति उष्ण रहता है ।

ऋग्वेद से यह भी आभास मिलता है कि सप्तसिन्धु में ३-४ महीने की वर्षा ऋतु में घोर वृष्टि होती थी, और बादलों और घटाओं के कारण सूर्य और उषा के दर्शन ही नहीं होते थे । दिन को भी रात्रि का-सा अन्धकार फैल जाने से मनुष्यों और पशु-पक्षियों को बड़ा कष्ट होता था । नदियों में खूब बाढ़ आती थी और बाढ़ का पानी बहुत दूर तक फैल जाता था । परन्तु इस समय सप्त सिन्धु में साधारण वर्षा होती है, और मौसम सूखा रहता है । इसका कारण पहले कहा सप्त सिन्धु के तीन ओर के समुद्रों का सूख जाना, और उसके दक्षिण में लंबे-चौड़े रेगिस्तान का प्रकट होना ही है । उस समय उन समुद्रों से अधिक मात्रा में भाप उठा करती थी और वह हिमालय के शिखरों और घाटियों में हिम^४ के रूप में, तथा मैदानों में वर्षा के रूप में गिरती थी । वर्षा ऋतु में वर्षा का और ग्रीष्म ऋतु में गलने वाली बरफ का जल नदियों को भरी-पूरी रखता था । उस समय सरस्वती और दृषद्वती, जो संभवतः हिमालय के दक्षिणी ढाल पर की, धीरे-धीरे सरकने वाली बरफ की चट्टानों (Glaciers) से निकलती थीं, विशाल नदियां थीं । इसी से ऋग्वेद में उनकी इतनी प्रशंसा मिलती है । परन्तु

१. इसी से ऋग्वेद में वर्ष को हिम के नाम से प्रकट किया है (मं. २, सू. १, ऋ. ११ और मं. ६, सू. १०, ऋ. ७) ।

२. Manual of the Geology of India (Preface p. XXI).

३. Quarterly Journal of the Geological Society, vol. XXXI, (1875), pp. 534 & 540.

४. Encyclopaedia Britannica, vol. II, (IX Edition) p. 68 and Wadia's Geology of India, p. 5).

५. Wadia's Geology of India, (1919), pp. 15-16 & 245.

समुद्रों के सूख जाने से बरफ की चट्टानें लुप्त हो गईं और इसीसे ये नदियां भी नामशेष रह गईं।^१

ऋग्वेद से उद्धृत इन बातों से, और भूगर्भशास्त्र द्वारा होने वाली उनकी पुष्टि से ऋग्वेद की प्राचीनता बहुत बढ़ जाती है, और मिस्र और मेसोपोटामिया आदि की सभ्यता उसके सामने नवजात शिशु जैसी प्रतीत होने लगती है।

भूगर्भ शास्त्री ऊपर कहे भूमि और जल के विभिन्न विभागों का तथा पञ्जाब में शीतकाल के प्राबल्य का तृतीय चट्टान के नवीनतम भाग वाले (Pleistocene) या उसके पूर्व के (तृतीय चट्टान के अति आधुनिक भाग वाले (Pliocene) काल में होना मानते हैं। यह काल ईसा से ५०,००० से २५,००० वर्ष पूर्व होना माना जाता है। ऋग्वेद में इन्द्र के पूर्व के कार्यों के विषय में लिखा है :—^२

“यः पृथिवीं व्यथमानामदृहद् यः पर्वतान् प्रकुपितानरभ्णात्, स जना स इन्द्रः”

(हे पुरुषो ! इन्द्र वह है, जिसने व्यथित (दुःखित-हिलती) हुई पृथ्वी को स्थिर किया, जिसने अति कुपित (हलचल मचाते) हुए पर्वतों को शान्त किया।)

इससे भी उस समय की भूमण्डल की स्थिति का संकेत मिलता है, जिस समय पृथ्वी पर भूकम्पों की अधिकता थी। भूगर्भशास्त्री यह भी स्वीकार करते हैं कि इस काल के बाद राजपूताना के समुद्र-गर्भ से बाहर आ जाने और गङ्गा, यमुना आदि द्वारा लायी मिट्टी से उधर के समुद्र के पट जाने से पंजाब का जलवायु उष्ण हो गया। इसी प्रकार के परिवर्तन से हिमानियों (ग्लेशियरों) और वृष्टि के कम हो जाने से सरस्वती का प्रवाह कम होकर, वह राजपूताने की बालुका-राशि में विलुप्त हो गई।

इसके अनुसार आर्य सभ्यता का आरम्भ और ऋग्वेद की रचना का काल कम-से-कम ईसा से २५,००० वर्ष पूर्व माना जाता है।^३ परन्तु अभी यह मत सर्वग्राह्य नहीं हुआ है। इसलिए यदि पूर्वोद्धृत सारे ही मतों के आधार पर ऋग्वेद के समय का आज से १०,००० वर्ष पूर्व रहना अनुमान किया जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

१. Encyclopaedia Britannica, vol. II, (IX Edition), p. 688

२. मं. २, सू. १२, ऋ. २.

३. Dr. Avinash Chandradas's Rigvedic India (1922).

एच. जी. वेल्ल्स ने भी इन समुद्रों का ५०,००० से २५,००० वर्ष पूर्व के काल के बीच रहना माना है (The Outlines of History).

अध्यापक मैकडानल (A. A. Macdonell) और हीपकिन्स (E. W. Hopkins) ऋग्वेद में आये समुद्र शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर जल का समुदाय करके इससे सिन्धु की नीचे वाली धारा का तात्पर्य लेते हैं; क्योंकि कि यह धारा पंजाब की अन्य नदियों का जल आ मिलने से बहुत चौड़ी हो जाती है।^१ यदि उनका अर्थ मान लिया जाय, तो भी ऋग्वेद में कहे गये पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों की स्थिति, जिनमें केशी (सूर्य) रहता था^२, कैसे सिद्ध होगी ? फिर यदि पूर्वोक्त सिन्धु को पश्चिमी समुद्र मान लें, तो भी पूर्वी समुद्र किसे मानेंगे ? उधर की सरस्वती और सप्तसिन्धु के पास की गङ्गा और यमुना की धाराएँ सिन्धु से बहुत छोटी थीं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में तो चार समुद्रों का उल्लेख है।^३ इसी प्रकार उसमें सिन्धुओं (नदियों) की संख्या सात और समुद्रों की चार कही है। तथा एक स्थान पर 'समुद्रायेव सिन्धवः'^४ कहकर समुद्र और नदी का भेद प्रकट कर दिया है ; और नदियों का समुद्र में गिरना भी कहा है।^५ इसी प्रकार और भी अनेक स्थानों पर सिन्धु (नदी) और समुद्र में भेद बतलाया है।^६ पुनश्च ऋग्वेद में अश्विनो को 'सिन्धुमातरः'^७ कहकर सिन्धु शब्द से भी समुद्र का तात्पर्य प्रकट किया है। यहाँ सिन्धु शब्द से सिन्धु नदी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि वह सप्तसिन्धु के पश्चिम में है और अश्विन पूर्व में उदय होते हैं। इसके अतिरिक्त सप्तसिन्धु के पूर्व में सिन्धु जैसी कोई बड़ी नदी भी नहीं थी। ऐसा अनुमान होता है कि आर्य लोग पहले सिन्धु के निम्न भाग में फँले समुद्र को ही सिन्धु कहते होंगे। परन्तु जब

१. अध्यापक मैकडानल ने आर्यों को समुद्र से अपरिचित सिद्ध करने के लिए यह भी लिखा है कि ऋग्वेद में मत्स्य (मछली) का नाम केवल एक बार ही आया है; क्योंकि पंजाब और पूर्वी अफगानिस्तान की नदियों में मछलियाँ बहुत-कम होती हैं। हाँ, सिन्धु के नीचे के तट पर आजकल मछलियाँ खूब पकड़ी जाती हैं। सम्भवतः आर्यों को इस का ज्ञान न रहा होगा। परन्तु ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ६७वें सूक्त में जाल में फँसी मछलियों की हृदयस्पर्शी प्रार्थना दी है। इसी प्रकार दसवें मण्डल के ६८वें सूक्त के ८वें मन्त्र में भी मत्स्य का उल्लेख है।

२. मं. १०, सू. १३६, ऋ. ५।

३. मं. ९, सू. ३३, ऋ. ६ और मं. १०, सू. ४७, ऋ. २।

४. मं. ८, सू. ६, ऋ. ४।

५. मं. १, सू. ७१, ऋ. ७ और मं. १, सू. १९०, ऋ. ७।

६. मं. ८, सू. ९२, ऋ. २२ और मं. ३, सू. ३६, ऋ. ७।

७. मं. १, सू. ४६, ऋ. २.

वह समुद्र नदी की लाई रेत से पट गया और उसका स्थान सिन्धु नदी ने ले लिया, तब उसे भी सिन्धु कहने लगे। इस प्रकार सिन्धु शब्द समुद्र और नदी दोनों के लिए प्रयुक्त होने लगा। फिर भी समुद्र तो समुद्र के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। सरस्वती का पर्वत से निकलकर समुद्र (राजस्थान समुद्र) में गिरना कहा है। इसी प्रकार सारी नदियों के समुद्र में गिरने पर भी उसका न भरना बतलाया है।^१ आर्य आकाश में भी समुद्र (भाप-रूपी समुद्र) का होना मानते थे, जिससे वर्षा होती थी।^२ महत्त्वपूर्ण गंभीरता प्रकट करने के लिए समुद्र की उपमा का प्रयोग मिलता है।^३ इसी प्रकार उसमें डाँडों से चलाये जाने वाले समुद्रगामी जहाजों^४ और पाल से चलने वाले जहाजों^५ का उल्लेख भी है। उसी में एक स्थान पर जहाज टूट जाने से समुद्र में फंसे भुज्यु का, अश्विनों द्वारा सौ डाँडों वाले जहाज से, तीन दिन-रात में, किनारे लाया जाना कहा है।^६ इसी प्रकार ऋग्वेद में द्वीप का भी उल्लेख है।^७ आर्य व्यापारियों के पास समुद्रगामी व्यापारिक जहाज^८ होते थे। वे समुद्र द्वारा व्यापार करते थे^९ और समुद्र-यात्रा के पूर्व समुद्र की प्रार्थना भी करते थे।^{१०} वे—समुद्र में होने वाली वस्तुओं और विशेष रूप से मोतियों से भी परिचित थे।^{११} अतः उस समय समुद्र-यात्रा निषिद्ध नहीं थी। इसी प्रकार इन्द्र का, समुद्र-पार रहने वाले, यदु और तुवंश को सप्तसिन्धु में वापस लाना^{१२} और उन्हें आर्यसमागम के

१. मं. ५, सू. ८५, ऋ. ६।

२. मं. १०, सू. ९८, ऋ. ५, १२।

३. मं. ७, सू. ३३, ऋ. ८।

४. मं. १, सू. ११६, ऋ. ५। (इस मन्त्र में समुद्र की विशालता का भी उल्लेख मिलता है।)

५. मं. १०, सू. १४३, ऋ. ५।

६. मं. १, सू. ११६, ऋ. ४। (कहा जाता है कि भुज्यु ने अपने पिता की आज्ञा से एक द्वीप पर चढ़ाई की थी; परन्तु मार्ग में उसका जहाज टूट जाने से उसे अश्विनों ने बचाया था)।

७. मं. १, सू. १६९, ऋ. ३।

८. मं. १, सू. ४८, ऋ. ३।

९. मं. १, सू. ५६, ऋ. २।

१०. मं. ४, सू. ५५, ऋ. ६।

११. मं. १, सू. ४७, ऋ. ६।

१२. मं. ४, सू. ३०, ऋ. १७ और मं. ६, सू. २०, ऋ. १२।

अभाव के कारण पतित होने से बचाना कहा है ।^१ एक स्थान पर वसिष्ठ ने वरुण के साथ की—अपनी समुद्र-यात्रा का वर्णन दिया है ।^२ वरुण का निवास समुद्र होना भी प्रकट किया गया है ।^३

अव्यापक विल्सन आर्यों को समुद्र से परिचित और समुद्र द्वारा व्यापार करने वाला मानते हैं ।^४

ऋग्वेद में सरस्वती और सिन्धु के बीच के देश को देवकृत योनि (देवनिर्मित देश या जन्म-स्थान) कहा है । इसी प्रदेश में व्यास और सतलज बहती थीं ।^५ सरस्वती को सर्वोत्तम माता, नदी और देवी कहा है ।^६ उसे सब का आधार बतलाया है ।^७ इन कथनों से इसी के आस-पास आदिसृष्टि का होना ध्वनित होता है । भू-गर्भशास्त्रियों का भी ऐसा ही सिद्धान्त है ।^८ संभव है आर्यों को भी इसका कुछ ज्ञान रहा हो ।

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद और शतपथब्राह्मण में जिस जल-प्रलय की कथा है, उसका उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता ।^९ अतः यह घटना ऋग्वेद संहिता के

१. मं. १, सू. ५४, ऋ. ६ ।

२. मं. ७, सू. ८८, ऋ. ३ ।

३. मं. १, सू. २५, ऋ. ७; मं. ७, सू. ४९, ऋ. ४; मं. ७, सू. ८७, ऋ. ६ और मं. ७, सू. ८८, ऋ. ५ । (फिर वरुण की आकाश से भी तुलना की गई है) ।

४. इनका ऋग्वेद का अनुवाद (2nd Edition 1860) भूमिका pXLI.

५. मं. ३, सू. ऋ. ४ । (मनुस्मृति में भी सरस्वती और दृषद्वती के बीच के देश को देवनिर्मित देश कहा है । अध्याय २, श्लोक १७) ।

६. मं. २, सू. ४१, ऋ. १६ ।

७. मं. २, सू. ४१, ऋ. १७ ।

८. उनके कथानुसार शिवालिक पर्वत के तल भाग में प्राचीनतम जीवों के अवशेष भरे पड़े हैं । उसी प्रदेश के पास के हिमालय के एक स्थान से ही सरस्वती का उद्गम था ।

९. इस खण्ड-प्रलय का उल्लेख बैबिलोनिया की गिलयमेश की कथा में, मिस्र (इजिप्ट) की दन्तकथाओं में, ग्रीस के साहित्य में और बाइबल के नोहा के किस्से में मिलता है । परन्तु यह खण्ड-प्रलय सब स्थानों पर एक साथ ही हुआ था या नहीं, यह विचारणीय है । भूगर्भशास्त्रियों का अनुमान है कि सप्तसिन्धु का जल-प्रलय बैबिलोनिया के जल-प्रलय से बहुत पूर्व हुआ था । श्री अविनाश-चन्द्र दास का अनुमान है कि बैबिलोनिया का जल-प्रलय, पूर्व तुर्किस्तान के मध्य

संकलन के बाद की होगी। मनु के समय का यह खण्ड-प्रलय समुद्र में बाढ़ आने से हुआ था और मनु ने नाव में बैठकर उत्तर गिरि (हिमालय) पर आश्रय लिया था। विद्वानों का अनुमान है कि भागवत-वर्णित यह खण्ड-प्रलय, भूकम्प के कारण राजस्थान समुद्र के कुछ भाग के लुप्त होने से हुआ होगा। जिस समय भूकम्प के कारण उक्त समुद्र के तल का कुछ भाग ऊपर उठा होगा, उस समय उसके जल से सप्तसिन्धु में बाढ़ आ गई होगी, और कुछ काल के लिए उसने हिमालय के नीचे के भागों को ढक लिया होगा। ऐसे अवसर पर मनु की नौका, काश्मीर के उत्तर में स्थित हिमालय के किसी शिखर पर लगी होगी। इसे 'मनोरदतरण' कहते हैं। इस बाढ़ का बहुत-सा जल तो नदियों द्वारा फिर समुद्र में लौट आया। परन्तु कुछ भाग निम्न धरातलों और गर्तों में भरा रह गया और उसके सूखने से जो भाग

के एशियाई मैडिटेरेनियन समुद्र में होने वाली, भूकम्प की हलचलों से हुआ होगा। लोबनोर झील इसी समुद्र का अवशेष है। यहीं से उठी भाप का समूह दक्षिण की तरफ बढ़कर बैबिलोनिया में घोर वृष्टि का कारण हुआ होगा। बाइबल में की नोहा के समय की बाढ़ और मिस्र की बाढ़ भी इसी समय आई होंगी। ग्रीस की कथाओं में पाँच बाढ़ों का उल्लेख मिलता है। इनमें की अन्तिम बाढ़, ओस्सा और ओलिम्पस पर्वतों के पास के भूकम्प से पैन्यूस (Peneus) नदी का मार्ग रुक जाने के कारण, (ड्यूकलियन के राज्य के समय), ईसा से १५०३ वर्ष पूर्व, आई थी (Lampriere's Classical Dictionary, p. 200)। उस (एशियाई मैडिटेरेनियन) समुद्र के जल को (जो अराल और केस्पियन समुद्रों को मिलाता था और जो कृष्णसागर तक फैला हुआ था), यूरोप के मैडिटेरेनियन (भूमध्यसागर) में बहा देनेवाले बौस फौरस के मुहाने के खुलने पर भी एशिया माइनर, अफ्रीका और ग्रीस के मैडिटेरेनियन की तरफ के निम्न तल-वाले भागों में अवश्य ही बाढ़ आई होगी। कुछ पाश्चात्य विद्वान् बौस फौरस मुहाने की उत्पत्ति ईसा से करीब १५०३ वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि यह बात ठीक हो तो मैक्समूलर आदि विद्वानों का आर्यों को मध्य एशियावासी मानना असिद्ध हो जायगा; क्योंकि वहाँ पर उपर्युक्त समुद्र के विद्यमान रहने के कारण पशु-धन वाले आर्यों के पशुओं के लिए पर्याप्त गोचर भूमि का अभाव ही सिद्ध होगा (Taylor's Origin of the Aryans, p. 15)। अतः उस समय उत्तर-पश्चिमी और मध्य एशिया में विशाल समुद्र की विद्यमानता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। फिर आर्य तो इस समुद्र के लुप्त होने के पूर्व ही सप्तसिन्धु में आ बसे थे।

बनी उसके एक भाग ने पश्चिम की तरफ बढ़कर बैबिलोनिया में घोर वृष्टि के द्वारा बाढ़ पैदा की होगी, और दूसरे भाग ने उत्तर की तरफ बढ़ 'एर्यनवेइजो' और वैक्ट्रियाना में हिमपात किया होगा। यदि यह कहा जाय कि ऋग्वेद में उस समय की हर एक घटना का देना आवश्यक नहीं था; क्योंकि यह कोई क्रमबद्ध इतिहास का ग्रन्थ नहीं है, तो यह कथन एक हद तक तो ठीक ही है। परन्तु ऋग्वेद में जिस समुद्रमें सरस्वती^१ और शुतुद्रि का गिरना लिखा^२ है, वह निश्चय ही राजस्थान पर का समुद्र ही था।^३ इससे सिद्ध होता है कि यह और ऐसे ही अन्य अनेक मन्त्र राजस्थान-समुद्र के लुप्त होने से पूर्व ही अस्तित्व में आ चुके थे।

ऋग्वेद में इन्द्र के पराक्रमों के वर्णन में, उसका दुःखित हुई पृथ्वी और क्रुद्ध हुए पर्वतों को स्थिर करना, नदियों को निम्न भाग की तरफ बहाना, तथा भयभीत पृथ्वी और प्राणियों को सहारा देना कहा है।^४ इन उल्लेखों से उस समय भूकम्पों और ज्वालामुखियों की हलचलों की अधिकता का होना प्रकट होता है। इसी से सप्तसिन्धु के आस-पास के भागों में बड़े-बड़े भौतिक परिवर्तन हुए थे। भूगर्भ-शास्त्री भी इन घटनाओं का समर्थन करते हैं।^५ उक्त संहिता में इन्द्र का सिन्धु (सिन्धु की ऊपरी धारा) को उत्तरवाहिनी करना^६ और वज्र द्वारा नदियों के मार्ग बनाना कहा है।^७ इससे भी ऋग्वेद काल की अति-प्राचीनता प्रकट होती है।

१. कुछ विद्वान् अवेस्ता में कही 'हरहेती' को आर्चोशिया की नदी अनुमान करते हैं।

२. मं. १, सू. ३३, ऋ. २। (राजस्थान समुद्र के लुप्त होने पर इन दोनों नदियों ने भी अपना मार्ग बदल दिया। सरस्वती तो कालान्तर में इकट्ठी हुई रेती में लुप्त हो गई और शुतुद्रि (सतलज) सिन्धु नदी में जा मिली)।

३. भूकम्प का विशेष प्रभाव राजस्थान-समुद्र के एक भाग पर ही पड़ा था। अतः इससे सरस्वती, दृषद्वती और शुतुद्रि के नीचे के भाग में ही परिवर्तन हुआ। पंजाब के मैदान पर कोई असर नहीं पड़ा। यह बात वहाँ पर नदियों में बहकर आई मिट्टी की जमी पतली परत के नीचे मिलने वाली चट्टानों से प्रकट होती है।

४. मं. २, सू. १२, ऋ. १-२; मं. २, सू. १७, ऋ. ५; मं. १, सू. ६३, ऋ. १ और मं. १, सू. ६२, ऋ. ५।

५. Encyclopaedia Britannica, Vol. XII, (9th Ed.) p. 726.

६. मं. २, सू. १५, ऋ. ६। (पहले सम्भवतः सिन्धु दक्षिणाभिमुख बहती थी। परन्तु कालान्तर में, प्राकृतिक कारणों से उस मार्ग के एक जाने से अब यह काश्मीर के उत्तर में उत्तर-पश्चिम की तरफ बहने लगी है)।

७. मं. २, सू. १५, ऋ. ३।

ऋग्वेद की
प्राचीनता में
भूगर्भशास्त्रीय
साक्ष्य

वैसे तो पृथ्वी पर अप्रत्यक्ष रूप से निरन्तर ही परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु कभी-कभी भूकम्प या ज्वालामुखी के भड़कने के कारण उनमें भीषणता आ जाती है, और उस समय होने वाले परिवर्तन प्रत्यक्ष दिखाई देने लगते हैं। ऐसे भीषण रूप वाले परिवर्तन प्राचीनतम काल में आज से कहीं अधिक होते थे। पृथ्वी पर मध्य और उत्तरी हिमालय का निर्माण मनुष्य के जन्म के पहले हुआ था।^१ हिमालय के जन्म के समय पृथ्वी बड़े-बड़े भूकम्पों के कारण डगमगा गई थी।^२ मध्य हिमालय के उत्थान के साथ इसकी दक्षिणी उपत्यका में एक गहरा गर्त बन गया था।^३ यह गर्त या समुद्र एक लंबे काल तक बना रहा। परन्तु धीरे-धीरे नदियों और झरनों द्वारा बहाकर लाई गई मिट्टी से यह भर गया। इसीसे उस समय के जीव-जन्तुओं के अवशेष भी, जो बहकर वहाँ आये थे, इसमें दब गये। इसके बाद कालान्तर में वहीं आस-पास में फिर भूकम्प आया और शिवालिक पर्वत-

१. विन्ध्य पर्वत हिमालय से पुराना माना जाता है।

२. ऋग्वेद से भी इसकी पुष्टि होती है :—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृह्यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात् ।

यो अन्तरिक्षं विममेवरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः” ॥

(मं. २, सू. १२, ऋ. २)

हे लोगो ! वह इन्द्र है, जिसने पीड़ित होती (हिलती) हुई पृथ्वी को दृढ़ किया, जिसने क्रुद्ध हुए (डोलते हुए) पर्वतों को शान्त किया।

स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाऽधराचीनमकृणोदपामपः ।

अधारयत् पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवत्सः ॥

(मं. २, सू. १७, ऋ. ५)

उस (इन्द्र) ने इधर-उधर चलने वाले प्राचीन पर्वतों को अपने पराक्रम से स्थिर किया, उसने भेधों के जल को नीचे गिराया, जगत् को धारण करने वाली पृथ्वी को स्थिर किया, तथा द्युलोक को दृढ़ किया।

ये हिमालय आदि पर्वतों के पृथ्वी से बाहर आने के समय की दशा के संस्मरण हैं।

३. Memoirs of the Geological Survey of India, Vol. XLII, Part 2, p. 137; Survey of India, paper No. 12, Calcutta 1912 A.D; Wadia's Geology of India, pp. 109, 110 and 248,

माला का उद्गम हुआ। इससे इसके पास दूसरा बड़ा गड्ढा बन गया और इसके भरने से उत्तरी भारत का मैदान बना।^१

भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार यह कहा जा सकता है कि, जिस समय पंजाब की घरा (जिसके उत्तर में काश्मीर की घाटी और हिमालय पर्वत तथा पश्चिम में सुलैमान पर्वत था और, जिस की सिन्धु और उसकी सहायक नदियाँ तथा सरस्वती अरबसागर के उस भाग में गिरती थीं जो राजस्थान के एक भाग और सिन्ध के निम्न प्रदेश पर फैला हुआ था) स्थिर हो चुकी थी, उस समय गङ्गा के निम्नतल वाले मैदान पर समुद्र लहराता था। यह सप्तसिन्धु की सीमा से आसाम तक फैला हुआ था। परन्तु उस समय तक इस समुद्र की गहराई बहुत कम हो चुकी थी। इसके बाद कई हजार वर्षों में इसे नदियों ने रेत से पाट दिया।^२ परन्तु यह घटना ऋग्वेद के संकलन-काल के बाद हुई होगी।

श्री अविनाशचन्द्र दास भूगर्भशास्त्र और ऋग्वेद में वर्णित सप्तसिन्धु की स्थिति का मिलान करके ऋग्वेद की ऋचाओं का रचनाकाल ईसा से पूर्व २५,००० से ७,५०० वर्ष के बीच अनुमान करते हैं।^३ यदि यह ठीक हो तो, ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना के आधार पर, मानना होगा कि आर्य लोग उस समय तक सम्य हो चुके थे।

श्री ओल्डहम (Oldham) का कहना है कि पंजाब की नमक की पहाड़ी के तल से मिले प्राचीन जीवों के पाषाणीभूत अवशेष 'कैम्ब्रियन' (Cambrian) काल के और भारत में सबसे पुराने हैं।^४ सप्तसिन्धु का प्रदेश उत्तरी हिमालय के उद्गम के पूर्व ही अस्तित्व में आ चुका था।^५ इन प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में सबसे पूर्व सप्तसिन्धु में ही जीव सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ था।

१. Memoirs of Geological Survey of India, Vol. XLII, part 2, p. 98

२. पहले गङ्गा और यमुना छोटी-छोटी नदियाँ थीं। जैसे-जैसे वह समुद्र नदियों द्वारा लाई मिट्टी से पटता गया, वैसे-वैसे वे लंबी होती गईं। आगे चलकर यमुना गङ्गा में मिल गई और फिर गङ्गा गङ्गासागर पहुँच समुद्र से जा मिली।

३. Rigvedic India (2nd) p. 22,

४. प्राथमिक युग की (अथवा आदिम घोंघों के पाषाणीभूत अवशेषों वाली) चट्टान का वेल्स (Wals) के प्राचीन नाम केम्ब्रिया (Cambria) से प्रसिद्ध हुआ प्रथम स्तर, कैम्ब्रियन (Cambrian) काल का स्तर कहा जाता है। यह काल ५४०,०००,००० वर्ष के निकट माना जाता है।

५. Manual of Geology of India (1893) p. 109.

६. H. F. Blamford—Quarterly Journal of the Geological

ऋग्वेद में इन्द्र के पाषाण-निर्मित वज्र या कठोर वस्तुओं को तोड़ने के दृष्ट-दुपल और सींग के फालवाले^१ तीरों के अतिरिक्त और किसी पाषाण या अस्थि-निर्मित शस्त्र का उल्लेख नहीं है। आर्य लोग लोहे को काम में लाना जानते थे। अतः वे पाषाण-काल की सभ्यता से अवश्य ही आगे बढ़े हुए और बुद्धिमान् थे। इसीसे वे सभ्यता आदि में अपने समकालीन दक्षिणापथवासियों से बहुत आगे थे।

ईसा से करीब ७,००० या ८,००० वर्ष पूर्व सप्तसिन्धु के दक्षिण में राजस्थान-समुद्र का विद्यमान होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि वहाँ की रेत में नमक की अधिकता है, और साँभर झील आदि कई ऐसी झीलें हैं, जहाँ से आज भी नमक निकाला जाता है। इससे प्रकट होता है कि उस समय अवश्य ही अरबसागर की एक शाखा सप्तसिन्धु से अर्वली पर्वत तक लहराती थी, और दूसरी शाखा सिन्धु के एक बड़े भाग में फैली हुई थी।^२ उसी स्थान पर आजकल रेतीला मैदान और सिन्धु नदी की निचली शाखा है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में^३ भी सप्त-सिन्धु के उत्तर में समुद्र होने के विषय में अनेक प्रमाण दिये गये हैं। इनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में उत्तरी महासागर से मध्य एशिया तक एक विशाल समुद्र फैला हुआ था। कालान्तर में यह मध्य एशिया के एक बड़े भूभाग को गर्भ में धारण करता हुआ पश्चिम में कृष्णसागर तक रह गया। यूरोप के भूमध्यसागर (Mediterranean) के समान ही यह एशिया का भूमध्य सागर (मैडिटेरेनियन) था, जो ऐतिहासिक काल तक विद्यमान था। इसके बाद ज्वालामुखी की हलचल के कारण बौसफौरस (Bosphorus) का मुहाना खुल जाने से एशिया का मैडिटेरेनियन और यूरोप का मैडिटेरेनियन समुद्र आपसमें मिल गये। इस घटना से पहले का अधिकांश जल, दूसरे के तल के नीचे होने से, बहकर उसमें आ गया। अतः पहले समुद्र के उथले भाग सूख गये और गहरे भाग जुदा-जुदा

Society, vol. XXXI, (1875) pp. 524-41; Imperial Gazetteer of India, vol. I, (1907), p. 53.

१. मं. ६, सू. ७५, ऋ. ११।

२. इधर मिट्टी लाने वाली नदियों के न होने से तल पर समुद्री रेत ही रह गई और विशाल सरस्वती एक छोटी नदी बनकर इसी रेत में अन्तर्हित होने लगी। आजकल इस सरस्वती को घग्घर कहते हैं। यही नाम आजकल दृशद्वती के लिए भी प्रयुक्त होता है।

सुलेमान पर्वत तक फैले पश्चिमी समुद्र के स्थान पर इस समय सिन्धु प्रान्त का एक भाग विद्यमान है।

३. Encyclopaedia Britannica vol. V, (9th Ed.) pp. 179-81,

झीलों के रूप में रह गये। कैस्पियन और अराल समुद्र भी उसी के अवशेष हैं। उपर्युक्त प्रमाणों से सप्तसिन्धु के उत्तर-पश्चिम में समुद्र का रहना निर्विवाद सिद्ध होता है और ऋग्वेद में आया उक्त समुद्र का उल्लेख ऋग्वेद और सप्त-सिन्धु की अतिप्राचीनता सिद्ध करता है।

यह एशिया का भूमध्यसागर (मैडिटरेनियन) समुद्र तुर्किस्तान के दक्षिण-पूर्व में फैला हुआ था^१ और इसी प्रकार पूर्वी तुर्किस्तान में भी एक बड़ा समुद्र विद्यमान था।^२ उस समय पूर्वी तुर्किस्तान में भी आर्यों की बसती थी।^३ इस प्रकार उस समय आर्य-निवास के चारों तरफ चार समुद्र थे और इस निवास में दक्षिण की तरफ का सप्तसिन्धु, उत्तर की तरफ का बैक्ट्रियाना (Bactriana) और पूर्वी तुर्किस्तान, पश्चिम की तरफ का गन्धार तथा पूर्व की तरफ की गङ्गा और यमुना की ऊपर की घाटियाँ सम्मिलित थीं। अतः ऋग्वेद की प्राचीनता उक्त चारों समुद्रों के काल तक की सिद्ध होती है।

भूगर्भशास्त्रियों का मत है कि यद्यपि प्राकृतिक कारणों से भारत के स्वरूप में दीर्घ काल तक अनेक परिवर्तन होते रहे हैं, तथापि आज से २५-३० हजार वर्ष पूर्व इस देश के भूपृष्ठ का जो मानचित्र बना था उसमें विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि यह कथन ठीक है, तो ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में इस काल के पहले के समुद्रों आदि का वर्णन मिलने से उनका इस समय से भी पूर्व का होना सिद्ध होता है। परन्तु साथ ही विद्वानों का यह भी कहना है कि उक्त संहिता के मन्त्र इतने पुराने नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम श्रुति भाग के नष्ट हो जाने से उनका भाव लेकर पीछे से नवीन ऋचाओं की रचना की गई थी। इसकी पुष्टि में वे 'श्रुतिरन्या विधीयते' (अर्थात्—समय-समय पर दूसरे मन्त्र बनाये जाते हैं) यह वाक्य उद्धृत करते हैं। यद्यपि समय के प्रभाव से प्राचीन ऋचाओं की भाषा से अर्वाचीन (पिछली) ऋचाओं की भाषा में अन्तर आ गया था, तथापि पुरानी स्मृतियों की यथासंभव रक्षा की गई थी। परन्तु साथ ही यह भी मानना होगा कि कई पुरानी स्मृतियाँ विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही लुप्त हो गई होंगी।

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया^४ है कि—“सूर्या के विवाह के समय, उसके

१. Encyclopaedia Britannica, vol. XXIII, (9th Ed.) p. 634

२. Encyclopaedia Britannica, vol. XXIII, (9th Ed.), p. 638.

३. Lassen's Indische Alterthums-Kunda.

४. मं. १०, सू. ८५, ऋ. १३ (सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवा-सृजत् । अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

पतिगृह को जाते हुए, सूर्य ने जो चदर उसे दी थी, वह आगे-आगे चली। चदर के साथ जो गायें दी गई थीं, मघा नक्षत्र के उदय के समय उन्हें डंडे से पीटा जाता है तथा पूर्वा और उत्तरा-फाल्गुनी में उस चदर को रथ पर ले जाते हैं।” इस का तात्पर्य समझ में नहीं आता। परन्तु आधुनिक काल के विद्वान् इसका यह आशय लेते हैं कि—मघा नक्षत्र में^१ सूर्य की किरणों की गति धीमी पड़ जाती थी [इसी से गायों (किरणों) को पीटना पड़ता था]। पूर्वा और उत्तरा-फाल्गुनी में चदर (सूर्य-प्रकाश) रथ पर ले जाया जाता था। अर्थात्—तेज चलने लगता था। संभवतः उस समय मघा में सूर्य की दक्षिणायन-यात्रा पूरी होती होगी और फाल्गुनी में उत्तरायण-यात्रा प्रारम्भ होती होगी। ज्योतिषशास्त्र के हिसाब से ऐसा समय १६,००० वर्ष पूर्व होना कहा जाता है। आर्यों को खगोल का इतना ज्ञान^२ प्राप्त करने में अवश्य ही कई हजार वर्ष लगे होंगे। अतः इन की सभ्यता भी इतनी ही पुरानी है, यह स्वतः सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त ये १६-१७ हजार वर्ष पुराने माने जाने वाले मन्त्र अपने रचनाकाल से बहुत पहले के समय का संकेत करते हैं। जैसे ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १४वें सूक्त में पितरों का वर्णन है। इसके अगले (१५वें) मन्त्र में उन्हें ‘पूर्वज’ (अति प्राचीन) और ‘पथिष्ठ’ (यमलोक का मार्ग बनाने वाले) कहा है। इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में पितरों को देवों के समकक्ष कहा है। अर्थात्—वे अतिप्राचीन होने से देवों के समान पूज्य समझे जाते थे : अतः इन पितरों का आज से १०,००० वर्ष पूर्व होना अनुमान किया जाता है; क्योंकि उन (पितरों) को देवों का सहायक (समकालीन) कहा है। श्री तिलक भी ऋग्वेद-काल को १०,००० वर्ष पुराना मानते हैं।

श्री अविनाशचन्द्र दास ने वेल्स के लिखे इतिहास^३ के आधार पर आज से १०-१२ हजार वर्ष पूर्व ऐसे अर्धसभ्य मनुष्यों का, जो खेती और पशु-पालन करते थे, ईरान, भारत या एशिया के दक्षिण-पश्चिम से यूरोप में फैलना सिद्ध किया है। ये ही यूरोप की गोरी जातियों के पूर्वज थे। यह संभवतः अर्धसभ्य आर्यों की ही एक शाखा होगी। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो उन्हें अपने मूल स्थान (सप्त-सिन्धु) में उतनी सभ्यता प्राप्त करने में हजारों वर्ष लगे होंगे।^४

१. मघा नक्षत्र सिंह राशि में है। आजकल उत्तरायण का प्रारम्भ मकर राशि से होता है।

२. एक नक्षत्र १३ अंश और २० कला का होता है।

३. Outlines of History.

४. श्री दीनानाथ शास्त्री चुटैल ने अपने वेदकाल-निर्णय में वेदों को तीन लाख वर्ष पुराना बतलाया है।

ऋग्वेद के विषय के संबन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग इसमें साधारण प्रतिभा वाले लोगों की सीधी-सादी और स्वाभाविक धार्मिक प्रार्थनाएँ मानते हैं, और कुछ इसमें ईश्वरीय ज्ञान का होना बतलाते हैं। सायणाचार्य इसमें अनेकदेवतावाद का होना प्रकट करते हैं। बहुत-से पाश्चात्य विद्वानों का भी ऐसा ही मत है। राजाराममोहन राय इसमें एक ही प्रधान देवता का, उसके भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार, भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन होना अनुमान करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती वेद में एकेश्वरवाद का अनुभव करते हैं और अरविन्द घोष वेदों को रहस्यपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का स्रोत समझते हैं।

वास्तव में ऋग्वेद में वंशपरम्परा से विकसित होनेवाले विचारों का संग्रह होने से उनका स्तर विभिन्न और धारा असंबद्ध-सी प्रतीत होती है। किन्हीं सूक्तों में ब्राह्मणकालीन रुढ़ियों का पूर्वरूप और अनेकदेवतावाद झलकता है, तो किसी सूक्त में भिन्न-भिन्न देवताओं को एक ही महान् सत्ता के विभिन्न नामों के समान बतलाया है। परन्तु किसी में स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद और एकत्ववाद भी दिखाई देता है। इसके दशम मण्डल में विश्व का स्वरूप और उसमें हमारा स्थान आदि महत्त्वपूर्ण विचार मिलते हैं। सूक्ष्म रूप से देखने पर इसमें अल्पज्ञान वालों के लिए कर्मकाण्ड और पूर्ण ज्ञान वालों के लिए ज्ञानकाण्ड दिखाई देता है।

ऋग्वेद में प्राकृतिक चमत्कारों में देवत्व की भावना मिलती है। उस समय के मनुष्य अपने को प्रकृति के आश्रित पाते थे। यही कारण था कि आर्य लोग उषा, उदीयमान सूर्य, चन्द्र और तारों आदि (प्राकृतिक दृश्यों) की सुन्दरता से मुग्ध, तथा बिजली की कड़क, मेघों के गर्जन और झंझावात आदि (प्रकृति के ताण्डवों) की भीषणता से भयभीत हो जाते थे। इसीसे वे उसमें एक दैवी शक्ति की कल्पना कर उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी उपासना करते थे।^१ आर्य कवियों ने भी उन प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में देवत्व प्रदर्शित कर, उनसे अपना संबन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है ; और इस संबन्ध की स्थापना के लिए ही उन्हें उन देवों में अपने

१. आर्यों को अपनी खेती के लिए भी समय पर वर्षा आदिकी आवश्यकता प्रतीत होती थी। परन्तु यह कार्य उनकी सामर्थ्य से बाहर का था। अतः वे इसे दैवी कार्य मानकर, उसके अधिष्ठाता देवता की प्रसन्नता के लिए, उसकी उपासना करने, और उसके लिए अपने प्रिय पशु-धन की बलि देने लगे। यही बलि कालान्तर में पशु-यज्ञ में परिणत हो गई।

ही समान रूप की कल्पना करनी पड़ी है। जैसे—‘द्यावापृथ्वी’^१ (आकाश और पृथ्वी)। पहले ये विस्तृत आकार वाले आधारभूत पदार्थ थे। परन्तु कालान्तर में उनमें देवत्व की भावना कर उन्हें पिता और माता का स्थान दे दिया। इसके बाद वे ही पति-पत्नी मान लिये गये।^२ इस प्रकार आगे चलकर बहु-देववाद की नींव पड़ी।

ऋग्वेद के समय के आडम्बर शून्य सादे जीवन में और आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड में विचित्र अन्तर है। उस समय के देवताओं मेंसे कुछ प्राकृतिक दृश्यों से संबन्ध रखते हैं या उनके अधिष्ठाता के रूप से माने गये हैं। जैसे—द्यावा-पृथ्वी^३ (आकाश और पृथ्वी)। वरुण आकाशीय देवता)। इन्द्र^४ (गाज और तूफान का देवता)। (आध्यात्म ज्ञान) यह वर्षा करता था। सूर्य। ऋग्वेद में इसके सविता, मित्र, पूषा, विष्णु आदि नाम मिलते हैं। रुद्र (यह अंधड़ या तूफान का देवता था)। दो अश्विन् (प्रातःकाल और सायंकाल के तारे)। मरुत् (अंधड़ या तूफान का देवता और रुद्र का अनुचर)। वायु और वात (पवन का देवता)। पर्जन्य (वर्षा, जल और नदियों का देवता)। उषा (अरुणोदय के समय का या प्रभात का देवता)।

घर से संबंध रखने वाले देवताओं में अग्नि^५ प्रधान है। [इसके तीन रूप माने गये हैं: अन्तरिक्ष में सूर्य, आकाश में विद्युत् (विजली) और पृथ्वी पर अग्नि]। इसी प्रकार अग्नि के बाद सोम^६ का स्थान है। इसके उल्लासवर्धक रस का बड़ा महत्त्व था। (यह सोम चन्द्र के रूप से भी ग्रहण किया गया है)।

भाववाचक देवताओं में श्रद्धा (आदरपूर्ण विश्वास), मन्यु (क्रोध) आदि हैं। इनके अतिरिक्त गौण देवताओं में ऋभु (अङ्गिरावंशी सुधन्वा के पुत्र और सायङ्कालीन बलि के समय के इन्द्र के अनुचर)। ये तीन थे। ऋभु, विम्बा और वाज), गन्धर्व अप्सरा, आदि।

कहीं-कहीं देवताओं की पशुओं से तुलना की गई है। जैसे—इन्द्र की सांड

१. मं. १, सू. १५९, ऋ. १।

२. ग्रीक कवि होमर ने भी अपनी कविता में आकाश और पृथ्वी को पति-पत्नी का रूप दिया है।

३. मं. १, सू. १५९, ऋ. १।

४-५. ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि से संबन्ध रखनेवाले सूक्त ही अधिक हैं।

६. ऋग्वेद के सारे नवें मंडल में इसका अद्भुत वर्णन है।

(वृष) से और सूर्य की तीव्र गति वाले अश्व से। परन्तु इससे ऋग्वेद में पशु-पूजन का होना मान लेना उचित नहीं है। इसी प्रकार ऋग्वेद में न तो किसी पशु को अपना पूर्वज मानकर उसे पवित्र या दिव्य ही माना है और न उसमें सर्प-पूजन का विधान ही है। हाँ, सर्प को पाताल का देवता या वर्षा का रोधक माना है, और इन्द्र द्वारा उसका वध करने पर वर्षा का होना कहा है।

गंडे-तावीज में विश्वास होने का भी संकेत मिलता है; क्योंकि ऋग्वेद के एक मन्त्र^१ में इन्द्र की प्रतिमा का शत्रु-नाशक होना प्रकट किया गया है, और केवल यही एक मन्त्र है, जिस में देव-प्रतिमा का उल्लेख मिलता है। उक्त संहिता में देवताओं के शत्रुओं को असुर और राक्षस कहा है :

ऋग्वेद में देवताओं को प्रसन्न कर उनका वर या साहाय्य प्राप्त करने के लिए निश्चित यज्ञों के करने का आदेश है। इसी से देवता प्रसन्न होते थे। यज्ञों में देवताओं के लिए दूध, घी, यव (धान्य), मांस और सोमरस अर्पण किया जाता था। परन्तु उसमें सोम-याग या सोम के हवन का विशेष महत्त्व बतलाया है। यद्यपि पहले यह यज्ञ-विधान अवश्य ही संक्षिप्त रहा होगा, तथापि बाद में इस (यज्ञ) का व्यावहारिक विधान इतना विस्तृत हो गया था कि उसके लिए सात या सात से भी अधिक पुरोहितों की आवश्यकता होने लगी थी।^२ जैसे—होता (मन्त्र-पाठी), अध्वर्यु (हस्तकर्म करने वाला), उद्गाता (साम-मन्त्रों का गायक), पोता (हव्य तैयार करने वाला), नेष्टा (आहुति देने वाला), ऋत्विक् (यज-मान), और ब्रह्मा (सव पदार्थों का निश्चायक), रक्षक (द्वार-रक्षक), आदि।

अश्वमेध और सोम-याग आदि कुछ यज्ञ बहुत व्यय और श्रम से सिद्ध होते थे। इन को राजा या बड़े लोग (मघवा) ही कर सकते थे। इससे प्रकट होता है, कि ऋग्वेद में बड़े लोगों के लिए ऐसे बड़े यज्ञों का विधान ही अधिक है, और साधारण लोगों के लिए उपयुक्त घर्म का विधान बहुत कम है।

यही कर्मकाण्ड उन्नति करता हुआ आगे चलकर ज्ञान-काण्ड में परिणत हो गया। इसका प्रमाण ऋग्वेद के दसवें मण्डल में और कुछ इधर-उधर की ऋचाओं में स्पष्ट तौर से मिलता है।

१. मं. ४, सू. २४, ऋ. १०।

२. मं. १०, सू. ७१, ऋ. ११। इनमें होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—ये चार मुख्य थे। इनके तीन-तीन सहायक भी होते थे। तथा इनके वेद क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद माने जाते थे। इन आडम्बरों के कारण और पशुबलि आदि के कारण कालान्तर में कौत्स आदि कुछ वेद-विरोधी मत भी उठ खड़े हुए थे। यास्क ने अपने निरुक्त में कौत्समत का खण्डन किया है।

वहाँ पर अनेकदेवतावाद के विषय में निःशङ्क रूप से शङ्का की गई है, और सारे जगत् को एक ईश्वर-रचित मानकर उसकी अन्तिम एकता प्रतिपादित की गई है। विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, अदिति (आदि जननी) का ईश्वर के नामान्तर होना प्रकट किया है। वहीं पर विराट् पुरुष के यज्ञ से सारी सृष्टि का उत्पन्न होना अथवा 'असत्' से 'सत्' रूप में आना कहा है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त में ज्ञानकाण्ड से संबन्ध रखने वाली अनेक बातों का उल्लेख है। उसमें संसार की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न करते हुए कहा है, कि इस (सृष्टि) की रचना का हाल देवताओं को भी मालूम नहीं है।^१ आगे अलङ्कारिक भाषा में जीवात्मा और परमात्मा के विषय में संकेत है^२ और जीवात्मा को अमर कहा है।^३ उसी सूक्त की ४६वीं ऋचा में लिखा है—“(विद्वान् लोग) उसी (ईश्वर) को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। यही दिव्य पक्षों वाला गरुड़ है। यह एक ही है, फिर भी विद्वान् इसे अनेक की तरह कहते हैं। इसे ही अग्नि, यम और मातरिश्वा कहा गया है।

ऋग्वेद में प्रत्येक देवता को सर्वशक्तिमान् कहा है। इससे बहुदेववाद की पुष्टि होती है। इसके बाद विचारों में परिमार्जन हो जाने से सारे ही देवताओं का एक देवता में अन्तर्भाव मान लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।^४ परन्तु इसके लिए किसी एक देवता को श्रेष्ठ पद देना आवश्यक था; क्योंकि ऐसा करने से सारे ही अन्य देवता उसके विभिन्न गुण वाले रूप माने जा सकते थे। अतः यह पद वरुण को दिया गया। किन्तु कहीं पर विश्वकर्मा^५ को, कहीं पर पुरुष^६ को, कहीं पर हिरण्यगर्भ^७ को और कहीं पर प्रजापति^८ को भी यह पद दिया गया है।

१. मं. १, सू. १६४, ऋ. ४-६।
२. मं. १, सू. १६४, ऋ. २०।
३. मं. १, सू. १६४, ऋ. ३०।
४. मं. ३, सू. ५५, ऋ. ३ (महदेवानामसुखमेकम्), और मं. ५, सू. ८५, ऋ. १।
५. मं. १०, सू. ८१-८२।
६. मं. १०, सू. ९०, ऋ. २।
७. मं. १०, सू. १२१। इस की ऋचाओं का अन्तिम चरण—‘कस्मै देवाय हविषा विधेम’ है। कुछ लोग ‘कस्मै’ का अर्थ ‘किस (देवता) के लिए’ करते हैं और कुछ ‘प्रजापति के लिए’।
८. मं. १०, सू. १८४, ऋ. १। (शतपथब्राह्मण में प्रजापति को पूरा महत्त्व दिया गया है।) (का. ६, प्र. ६, अ. ८)

ऋग्वेद में
एकत्ववाद

ऋग्वेद में कवि-कल्पनाओं के साथ ही गम्भीर विचार भी मिलते हैं। एक स्थान पर सूर्य, तारागण, दिन, रात और वायु आदि के नियमबद्ध होकर काम करते रहने के कारण के और इनकी उत्पत्ति के विषय में प्रश्न किये गये हैं।^१ ये प्रश्न ही दर्शन और विज्ञान के जन्मदाता हैं। इनके उत्तर में पहले इनके नियामक भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की गई। परन्तु बाद में देवों पर की विश्वास-भावना में ह्रास होने से सारा भार श्रद्धा (विश्वास) पर ही डाला गया।^२ अन्त में जब इन्द्र जैसे प्रधान देवता में भी अविश्वास की भावना होने लगी,^३ तब सब देवों का नियामक एक ईश्वर (क-प्रजापति) निश्चित किया गया।^४ कुछ समय बाद उसके विषय में भी प्रश्न होने लगे। यथा—उस सर्वप्रथम उत्पन्न हुए देवता को किसने देखा ? अस्थि-रहित से अस्थि-सहित कैसे पैदा हुआ ? पृथ्वी से प्राण और रक्त उत्पन्न हुए, परन्तु आत्मा कहाँ से पैदा हुआ ? जिसने इन ६ लोकों को धारण कर रक्खा है, जो अजन्मा-रूप से निवास करता है; क्या वह एक है ? जिसने उस ईश्वर को जाना था, उससे किसने पूछा ? मैं अज्ञानी होने से ज्ञानियों से पूछता हूँ।^५ परन्तु ये बातें देवताओं के लिए भी रहस्यमय ही हैं।^६ इसके अनन्तर एक ही सत् या सत्य तत्त्व से सारे ही स्थावर और जंगम की उत्पत्ति मानी गई है,^७ तथा इस एक को ही विद्वानों द्वारा अनेक नामों से वर्णित कहा है।^८ इसे अनिर्वचनीय और अज्ञेय भी माना है।^९

ऋग्वेदस्थ नासदीयसूक्त में लिखा है—^{१०}

“उस समय न असत् था न सत्। न मृत्यु थी न अमरता। केवल आत्मावलम्बी ब्रह्म तत्त्व था, जो तप के प्रभाव से उत्पन्न हुआ था। उसी की इच्छा शक्ति से सृष्टि का बीज उत्पन्न हुआ। इस तत्त्व को कौन जानता है, कौन उसका वर्णन कर सकता

१. मं. १, सू. २४।

२. मं. १०, सू. १५१।

३. मं. २, सू. १२, ऋ. ५।

४. मं. १०, सू. १२१।

५. मं. १, सू. १६४, ऋ. ४-६।

६. मं. ३, सू. ५४, ऋ. ८-९।

७. मं. १, सू. १६४, ऋ. ४६ (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति)

मं. १, सू. ११४, ऋ. ५ (कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति)।

८. मं. १०, सू. १२९, ऋ. १-७।

९. मं. १०, सू. १२९।

है ? किस निमित्त और उपादान कारण से सृष्टि उत्पन्न हुई—इस का ज्ञान देव-ताओं को भी नहीं है; क्यों कि वे सृष्टि के हो जाने के बाद उत्पन्न हुए हैं। यह सृष्टि कहाँ से हुई और किसने की—यह बात परमधाम में रहने वाला, इसका स्वामी ही जानता होगा, अथवा सम्भव है वह भी न जानता हो।”

इस प्रकार ऋग्वेदकालीन आर्यों ने क्रमशः वास्तविक, ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इस परमात्म^१-तत्त्व की स्थापना से सारे मत-मतान्तरों का भेद-भाव मिट जाता है, और सब की एकता दृष्टिगोचर होने लगती है। विद्वानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार इस एकत्व में भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक भावनाएँ उत्पन्न कर ली हैं।^२ इस प्रकार आर्यावर्त में पहले अनेकदेवतावाद, फिर एक-देवतावाद और तत्पश्चात् एकत्ववाद की उत्पत्ति हुई थी।^३ ऋग्वेद में एक स्थान

१. मं. १, सू. २७, ऋ. ९; मं. १, सू. १६४, ऋ. ६ और २०; मं. १०, सू. ३१, ऋ. ८; तथा मं. १०, सू. ९० (पुरुषसूक्त)।

२. मं. १०, सू. ११४, ऋ. ५-९। (यजुर्वेद ३३-२ और ४ तथा निरुक्त ७-५ से भी इस एकत्ववाद की पुष्टि होती है। इसी लिए पुष्पदन्त ने अपने महिम्नस्तोत्र में—‘रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्य-स्त्वमसि पयसामर्णव इव’—कहा है।

३. इसराईल धर्म वालों के यहाँ आकाशवाणी द्वारा एकदेवतावाद की स्थापना होना माना जाता है। प्लुटार्क सूर्य और आकाश की उपमा देकर देवता का एक होना बतलाता है और उसी का अनेक नामों से संबोधित होना मानता है।

श्री डचूसन् के मतानुसार मिस्र (इजिप्ट) में भिन्न-भिन्न देवताओं का एक-दूसरे में तादात्म्य मानकर और फिलिस्तीन में ‘जेवोहा’ के अतिरिक्त अन्य देवताओं की उपासना को दण्डनीय घोषित कर एकदेववाद स्थापित किया गया था। परन्तु भारतीय आर्य दार्शनिक विवेचना द्वारा एकेश्वरवाद से आगे बढ़-कर एकत्ववाद पर पहुँचे थे। इन्होंने दृश्यमान अनेकता के भीतर छिपी हुई एकता को ढूँढ़ निकाला था।

श्री मैक्समूलर का कथन है कि ऋग्वेदसंहिता चाहे जब संकलित हुई हो, परन्तु यह निर्विवाद मानना पड़ता है कि उस समय के पूर्व ही आर्य ऋषियों को एक ‘सत् तत्त्व’ का ज्ञान हो चुका था। यह तत्त्व सांसारिक बन्धनों, उपाधियों, व्यक्तिगत सीमाओं तथा स्त्रीत्व और पुंस्त्व से परे का था। यह वही ईश्वर-तत्त्व था, जिसे ऐलैक्जैण्ड्रिया के ईसाइयों ने भी माना था। परन्तु उसके वास्तविक तत्त्व को ईसाई संसार अब तक भी हृदयङ्गम नहीं कर सका है। (Outline of Indian Philosophy, p. 13)

पर कहा गया है, कि विश्व में रहे सारे घास और अन्न-मांस का भक्षी जीव मैं ही हूँ और हृदय में स्थित ब्रह्म मैं ही हूँ।^१

ऋग्वेद में आचार को ऋत कहा गया है और इसका बड़ा महत्त्व दिखलाया है। इसके विरुद्ध जो कुछ भी है, उसे अनृत (अनाचार या पाप) कहा है।^२ ऋत (सत्य) का आचरण ही व्रत कहाता था। वरुण को ऋत-व्रत माना है। सृष्टि के आदि में ऋत का उत्पन्न होना,^३ ऋत के कारण सृष्टि की उत्पत्ति होना,^४—सोम का ऋत-रूप होना^५ और नदियों का ऋत को वहन करना^६ कहकर इस ऋत (सत्य) की महिमा प्रकट की गई है। एक स्थान पर धर्मात्मा का सत्य की नाव द्वारा पार लगना भी कहा है^७ और इस ऋत (सत्य) के मार्ग को सुगम भी कहा है।^८ कर्म का सिद्धान्त भी सर्वमान्य था, और कर्मकाण्ड का प्रचार होने पर ऋत ही यज्ञ में परिणत हो गया। देवताओं की प्रसन्नता के लिए श्रद्धापूर्ण^९ प्रार्थना^{१०} और यज्ञ^{११} आदि^{१२} का विधान था। देवताओं और मनुष्यों का निकट-संबन्ध था। उक्त संहिता में देवताओं के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य के साथ ही मनुष्य के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य भी बतलाया गया है। जैसे—भूखे को दान देना,^{१३} अतिथि का सत्कार करना^{१४}, दया-प्रदर्शन, दुःखी का कष्ट-निवारण, आदि। इसी प्रकार झूठ^{१५}, कपट, व्यभिचार^{१६} और अत्याचार की निन्दा की है, तथा

१. मं. १०, सू. २७, ऋ. ९। एकत्ववाद का इससे अधिक स्पष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है ?

२. मं. ४, सू. ५, ऋ. ५ और मं. ७, सू. ५६, ऋ. १२।
३. मं. १०, सू. १९०, ऋ. १।
४. मं. ३, सू. ५५, ऋ. ५।
५. मं. ९, सू. १०८, ऋ. ८।
६. मं. १, सू. १०५, ऋ. १५।
७. मं. ९, सू. ७३, ऋ. १।
८. मं. ८, सू. ३, ऋ. १३।
९. मं. १०, सू. १५१।
१०. मं. १, सू. १०४, ऋ. ६।
११. मं. २, सू. २६, ऋ. ३।
१२. मं. १०, सू. ११७।
१३. मं. १०, सू. ११७।
१४. मं. १, सू. २, ऋ. ६।
१५. मं. ७, सू. १०४, ऋ. ८।
१६. मं. ४, सू. ५, ऋ. ५।

ईश्वर से अपने को निष्कपट और सदाचारी बनाने की प्रार्थना की गई है ।^१ उस समय तपोयुक्त जीवन का बड़ा महत्त्व था । यद्यपि घर-बार छोड़कर शुष्क वैराग्य या निराशावादी बनने से इसका कोई संबंध नहीं था, तथापि ऋषि लोग, राग-रहित जीवन से परिचित थे । व्रतों, यम-नियमों और उपवासों से देवी सिद्धि का प्राप्त होना माना जाता था । उसमें वैराग्य से उत्पन्न होने वाली मस्ती का सुन्दर वर्णन भी मिलता है ।^२ साथ ही परिश्रम की भी बड़ी महिमा व्यक्त की है ।^३

यद्यपि प्रारम्भ में आर्यों में वर्ण-विभाग नहीं था, तथापि वे अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार पुरोहित, सैनिक, व्यापारी, शिल्पी या कृषक आदि का काम कर जीविकोपार्जन करते थे । उस समय जन्म से पेशे का कोई संबंध नहीं था । एक ही कुटुम्ब के लोग भिन्न-भिन्न पेशे करते हुए पाये जाते थे ।^४ परन्तु कालान्तर में जब जीवन में जटिलता और जीविकोपार्जन में कठिनता आने लगी, तब समाज को चार वर्णों में बाँटा गया ।^५ एक वर्ग को पठन-पाठन और पौरोहित्य का काम सौंपा गया । यह ब्राह्मण कहलाया और इसको बड़ा महत्त्व दिया गया ।^६ संस्कृति की रक्षा और उन्नति का भार इसी पर रखा गया । दूसरे वर्ग को रक्षा का भार सौंपा गया । यह क्षत्रिय कहलाया ।^७ तीसरे वर्ग को देश तथा समाज की समृद्धि को बढ़ाने का काम दिया गया । यह वैश्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।^८ बचे हुए असभ्य आर्य या वे मूल निवासी, जिन्हें आर्यों ने अपना लिया था, शूद्र बना दिये गये, तथा इन्हें समाज की सेवा का काम सौंपा गया । जो कोल आदि आदि-निवासी इन से भी हीन दशा में थे, उन्हें पाँचवें निषाद वर्ग में रखवा गया ।^९ पहले यह वर्ण-विभाग कर्मानुसार किया गया था । परन्तु आगे चलकर यह जन्म से माना

१. मं. ५, सू. ८५, ऋ. ७.

२. मं. १०, सू. १३६, ऋ. ३.

३. 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' (मं. ४, सू. ३३, ऋ. ११) । अर्थात् बिना परिश्रम के देवताओं की मित्रता नहीं मिलती ।

४. मं. ९, सू. ११२, ऋ. ३.

५. मं. १०, सू. ९०, ऋ. १२.

६. मं. ४, सू. ५०, ऋ. ८ और ९.

७. पारसियों के धर्मग्रन्थ 'जिन्दा अवेस्ता' में भी क्षत्र शब्द का अर्थ शासक मिलता है ।

८. 'विश' शब्द पहले समग्र समाज के लिए प्रयुक्त होता था । परन्तु कालान्तर में केवल वैश्यवर्ण का बोधक रह गया ।

९. मं. १०, सू. ५५, ऋ. २.

जाने लगा। यद्यपि अनार्य-मिश्रण को रोकने के लिए किये गये इस वर्ण-विभाग को आधुनिक लोग समाज की उन्नति में बाधक मानते हैं, तथापि इसके कारण उस समय जीविका के लिए आपस में निरन्तर लड़ते रहने वाले वर्ग भी हिल-मिलकर रहने लगे थे।^१

आर्य लोग सांसारिक सद्भोग को जीवन का उद्देश्य मानते थे, अतः वे एक-मात्र परलोक को ही विशेष महत्त्व नहीं देते थे। स्वर्ग और नरक के विषय में भी आज-कल के-से विशद विचार उत्पन्न नहीं हुए थे।^२ देवयान और पितृयान की कल्पना का प्रादुर्भाव हो चुका था।^३ जीवात्मा अमर था। मृत्यु से उसका विनाश नहीं माना जाता था।^४ मृत्यु के उपरान्त वह दिव्य रूप धारण कर सदा के लिए यमलोक में रहता था^५ और उसका जीवन भी हमारे जीवन के समान ही था। बुलाये जाने पर मृत पितर भी अपना भाग लेने को सूक्ष्म रूप से आते थे।^६ ऋग्वेद में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आभास भी मिलता है।^७ देवों के अमरत्व का कारण सोम-पान माना जाता था। देवत्व और अमरत्व प्राप्त करना ही आर्यों का अन्तिम ध्येय था और वह देव-प्रार्थना और यज्ञ द्वारा मिलता था। देव-विरोधी, देव-भक्ति-विरोधी और पापात्मा का अन्धकारमय लोक (नरक) में ढकेल दिया जाना माना जाता था।^८

मनुष्य के तीन जन्म माने जाते थे। पहला मातृगर्भ से, दूसरा मौज्जी-बन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कार से, और तीसरा मृत्यु से।

ऋग्वेद में एक स्थान^९ पर लिखा है—“देवता लोग अनुष्ठान के समय (समयानुरूप) स्तोताओं को देखेंगे।” कुछ लोग इससे समय-समय पर होने वाली

१. यूरोप के विजेता लोग बहुधा विजितों को नष्ट करने की चेष्टा किया करते थे। परन्तु आर्य लोग अपनी वर्ण-व्यवस्था के कारण विजितों को भी यथोचित स्थान देने में नहीं हिचकते थे।

२. मं. १०, सू. ११७, ऋ. ५ और मं. १०, सू. १५४, ऋ. २.

३. मं. १०, सू. ८८, ऋ. १५.

४. मं. १, सू. १६४, ऋ. ३०.

५. मं. १०, सू. १४, ऋ. १.

६. मं. १०, सू. १५, ऋ. ३. और ६.

७. मं. १०, सू. १३५, ऋ. ६ और मं. १०, सू. १६, ऋ. ५.

८. मं. १, सू. ३, ऋ. ३.

९. मं. १०, सू. १५२, ऋ. ४ और मं. ४, सू. ५, ऋ. ५.

१०. मं. १०, सू. ७२, ऋ. १.

आचार-विभिन्नता का आशय लेते हैं। दूसरे स्थान पर^१ दान की और विशेषकर दान और अतिथि-सेवा की प्रशंसा की गई है। तीसरे स्थान पर^२ बृहस्पति का अपनी पत्नी जुहू को दुश्चरित्रा समझकर त्यागना, परन्तु उसके सच्चरित्रा सिद्ध होने पर उसे फिर से ग्रहण करना बताया है।

पहले लिखा जा चुका है कि उस समय प्रत्येक ऋषिकुल एक पाठशाला था, जहाँ पर अपने शिष्यों और खासकर अपने वंशजों को अपने

शिक्षा पूर्वजों से सम्बन्ध रखने वाला या अपनी शाखा द्वारा स्वीकृत वेद-पाठ पढ़ाया जाता था। विद्यार्थी इसे रटकर कण्ठस्थ कर

लेते थे। ऋग्वेद के मण्डूकसूक्त में एक मंडक का दूसरे मंडक के शब्द की तरह शिष्य का गुरु के शब्द का अनुकरण करना कहा है।^३ उस समय पाठ के उच्चारण और स्वर पर विशेष महत्त्व दिया जाता था। ऋग्वेद में भी उच्चारण के सात प्रकारों^४ का या सात स्वरों का संकेत है, और वहीं पर^५ चार प्रकार की वाक् का भी उल्लेख किया गया है।^६

उस समय विद्या या ज्ञान की प्राप्ति के लिए व्रत, प्रायश्चित्त और तप आवश्यक समझा जाता था। इसी से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती थी।^७ इसी से ऋषियों को अलौकिक सामर्थ्य मिलती थी।^८ आत्मज्ञान से ही विप्र (ब्राह्मण) श्रेष्ठ माना जाता था।^९ वास्तविक ज्ञान सामान्य पठन-पाठन से न होकर कठिन व्रत से ही प्राप्त होता था।^{१०} इन बातों से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय कर्मकाण्ड के साथ ही ज्ञानकाण्ड का महत्त्व भी समझा जाने लगा था।

१. मं. १०, सू. ११७.

२. मं. १०, सू. १०९.

३. मं. ७, सू. १०३, ऋ. ५.

४. मं. १, सू. १६४, ऋ. ३.

५. मं. १, सू. १६४, ऋ. ४५.

६. आर्य गणितविद्या में उन्नति कर चुके थे। ऋग्वेद में अयुत (दस हजार) से ऊपर तक की संख्या का उल्लेख मिलता है (मं. ८, सू. ५६, ऋ. २२)।

७. मं. १०, सू. १९०, ऋ. १.

८. मं. १०, सू. १३६, ऋ. २-५

९. मं. ४, सू. २६, ऋ. १.

१०. मं. ७, सू. १०३, ऋ. १.

पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में आर्यों में वर्ण-विभाग का होना नहीं पाया जाता। इस कारण उस समय जाति के अनुसार वर्णाश्रम-विभाग कर्म-विभाग नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार जीवन-निर्वाह का मार्ग अपना सकता था। एक कुटुम्ब के भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न वृत्ति को अपना सकते थे।^१ परन्तु जब वृत्ति के कार्य में दीर्घकालीन अनुभव से सिद्धहस्तता प्राप्त होने का ज्ञान हुआ, तब विराट् पुरुष के मुख के कार्य (पठन-पाठन से संबन्ध रखने वाले कार्य) ब्राह्मणों को, बाहु के कार्य (रक्षा आदि के कार्य) क्षत्रियों को, ऊरु के कार्य (शरीर के बोझ की तरह व्यापार आदि द्वारा समाज का बोझ उठाने का कार्य) वैश्यों को, और पैरों का कार्य (शरीर-रूपी समाज की सेवा का भार) शूद्रों को सौंपा गया।^२ यद्यपि प्रारम्भ में यह विभाग कर्म और योग्यतानुसार किया गया था, परन्तु कालान्तर में यह जन्म से माना जाने लगा।

इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के विचार^३ की उन्नति के साथ ब्रह्म-चारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त—ये चार आश्रम भी बने और सौ वर्ष की आयु के चार भाग करके क्रमशः इन आश्रमों का काल (२५-२५ वर्ष) निश्चित कर दिया गया।

ऋग्वेद में तप^४ और इच्छा^५ आदि द्वारा जल से विविध रूप वाले जगत् का ऋग्वेद में उत्पन्न होना माना है। तथा जल का वायु से उत्पन्न होना सृष्टि-विज्ञान कहा है।^६ एक स्थान पर असत्^७ से सत् (जगत्) का उत्पन्न होना बतलाया है।^८ सम्भवतः यह असत् ही अदिति या

१. मं. ९, सू. ११२, ऋ. ३

२. मं. १० सू. ९० (पुरुषसूक्त)—[कुछ लोग आर्यों और दस्युओं के वर्ण (रंग) के भेद के कारण ही इस विभाग का नाम वर्ण-विभाग होना अनुमान करते हैं] ।

३. मं. १, सू. १६४, ऋ. २०.

४. मं. १०, सू. १९०.

५. मं. १०, सू. १२९, ऋ. ३-४.

६. मं. १०, सू. १६८, ऋ. ३.

७. यहाँ पर असत् का अर्थ अविद्यमान या अप्रकट और सत् का अर्थ विद्यमान या प्रकट लेना चाहिए। श्री मैकडानल का कथन है कि कुछ वैदिक विद्वान् सत् अथवा असत् को सृष्टि का मूल मानते हैं (मं. १०, सू. १२९)। परन्तु ये दोनों ही अनुभव-ज्ञेय जगत् के कारण हैं। इसी सत् (कारण में कार्य की उपस्थिति) और असत् (कारण में कार्य की अनुपस्थिति) के आधार पर सांख्य तथा न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों का जन्म हुआ है।

८. मं. १०, सू. ७२, ऋ. २-३.

असीम है। अतः असीम से ही ससीम की उत्पत्ति मानी गई है। परन्तु ये भौतिक सिद्धान्त ही कालान्तर में आध्यात्मिक सिद्धान्त बन गये, और इन्होंने ही आत्मवाद का रूप ग्रहण कर लिया। बहुदेवतावाद के समय वरुण, इन्द्र, अग्नि और विश्वकर्मा, आदि सृष्टि के कर्ता माने जाते थे। इसके बाद विश्व के उपादानकारण के विषय में प्रश्न उठा कि—वह कौन-सा बन और कौन-सा वृक्ष है, जिससे यह सृष्टि बनाई गई है ?^१ इसके उत्तर में ब्रह्म अथवा यज्ञ को सृष्टि का उपादान कारण बतलाया है। एकेश्वरवाद के समय हिरण्यगर्भ (ईश्वर) का (अपनी) शक्ति (प्रकृति) के द्वारा जगत् की रचना करना कहा गया है।^२ इसके अनुसार विस्तृत जल-राशि से हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ और उसने पहले की अरूप अवस्था से सरूप-अवस्था वाली सृष्टि रची। अर्थात्—उसने अपनी इच्छामात्र से ही इस विश्व की रचना^३ की। परन्तु एकत्ववाद के अनुसार, यह विश्व उस अनिर्वचनीय सत्ता का ही विकसित रूप है।

ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में इस सत्ता का तप रूप से प्रकट होना कहा है।^४ इस सूक्त के अनुसार यह जगत् मिथ्या न होकर उस सत्ता का निरन्तर होता रहने वाला विकास है। ऋग्वेद में माया शब्द शक्ति का वाचक^५ है। इसमें पंचतत्त्वों के स्थान पर जल को ही मूल सृष्टि का तत्त्व माना है।

पुनश्च कहीं पर सृष्टि को भौतिक मात्रा से उत्पन्न हुआ भी कहा है, और देवताओं को इसका निमित्त कारण बतलाया है। इसी प्रकार प्रकृति को विराट् पुरुष का शरीर, सृष्टि को यज्ञ रूप और पुरुष को बलिदान का पशु कहा है। यह भी कहा है कि—“यह जो कुछ है और जो कुछ आगे होगा, वह सब पुरुष ही है।”^६ यहाँ पर नासदीय सूक्त की सत्ता को ही पुरुष कहा गया है।

१. मं. १०, सू. ३१, ऋ. ७ और मं. १०, सू. ८१, ऋ. ४.

२. १०, सू. १२१.

३. ग्रीकों, यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों के विचार भी इससे मिलते हुए ही हैं।

४. मं. १०, सू. १२९, ऋ. ३ (शतपथब्राह्मण १०—५—३—१).

५. मं. ६, सू. ४७, ऋ. १८ (परन्तु कहीं-कहीं माया शब्द छल, भ्रम या दिखावे के लिए भी प्रयुक्त हुआ है (मं. १०, सू. ५४, ऋ. २)।

६. म. १०, सू. ९०, ऋ. २.

आर्यों के घरेलू पशुओं में गाय^१ का बड़ा महत्त्व था। यह दूध, मक्खन, और घी देती थी। घी से यज्ञ होते थे। घी से यज्ञ का पुरोहित अग्नि ऋग्वेद में प्रज्वलित होकर शाकल्य को आत्मसात् करता और देवों के पशु-पक्षी पास पहुँचाता था। गाय का गोबर जलाने के काम आता था। अतः गाय लाभप्रद होने के कारण पूजनीय थी। ऋग्वेद में गावी देवता की प्रशंसा में दो सूक्त मिलते हैं।^२ गाय को अघ्न्या^३ (अवध्या) भी कहा है। वृष शक्ति और सन्तति का द्योतक था। यह हल, रथ और गाड़ी चलाने के काम में आता था। कभी-कभी इसे युद्धार्थ भी रथ में जोतते थे।^४ यज्ञ में इसकी बलि दी जाती थी और इसका पकाया हुआ मांस देवताओं को और विशेषतः इन्द्र^५ को समर्पित किया जाता था। आर्यों के गोमांस-भक्षण का उल्लेख भी मिलता है।^६ दूध देने वाली गाय की बलि बहुत कम दी जाती थी। ऋग्वेद^७ और ऐतरेय

१. गायें दक्षिणा और पुरस्कार में दी जाती थीं। ये लेन-देन में भी काम आती थीं। इनका उपयोग मधुपर्क में भी होता था, जैसा कि तृत्सु नरेश दिवोदास की अतिथिग्व (अतिथियों को गोमांस खिलाते वाला) उपाधि से प्रकट होता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि उस समय तक आर्यों में स्वदेश की विशेष भावना उत्पन्न नहीं हुई थी; क्योंकि उन्हें अपने पशुओं के लिए गोचर भूमि की खोज में घूमते रहना पड़ता था।

२. मं. १०, सू. १९; मं. १०, सू. १६९; (मं. ६, सू. २८).

३. मं. ८, सू. ६९, ऋ. २. और मं. ९. सू१, ऋ. ९.

ऋग्वेद में एक स्थान पर गाय की प्रशंसा में लिखा है :—

“माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।

प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा ग.मनागामदिति बधिष्ट ॥”

(मं. ८, सू. १०१, ऋ. १५)

अर्थात्—हे मनुष्यो ! रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की बहन, दूध का स्रोत, और निरपराध अदिति रूपिणी गौ कों मत मारो।

४. मं. १०, सू. १०२, ऋ. ६.

५. मं. १०, सू. ८६, ऋ. १३-१४.

६. मं. ६, सू. ३९, ऋ. १; मं. २, सू. ७. ऋ. ५; मं. ६, सू. १६, ऋ. ४९.

मं. ९. सू. १६९. ऋ. ३; मं. १०, सू. २७, ऋ. २; मं. १०, सू. २८. ऋ. ३;

मं. १०, सू. ८६, ऋ. १, ३ और ४

७. मं. २, सू. ७, ऋ. ५.

ब्राह्मण में^१ दूध न देने वाली, बांझ (वेहत) गाय की, या जिसका गर्भ-पात हो जाता हो, या जिसके मरा बच्चा होता हो ऐसी गाय की बलि का उल्लेख मिलता है। परन्तु पीछे से वृष या बांझ गाय की बलि भी बिल्कुल बंद कर दी गई थी। यह संभवतः यहां पर शीत ऋतु के स्थान पर ग्रीष्म ऋतु के हो जाने से, गोमांस को अस्वास्थ्यकर समझकर ही, किया गया होगा। इसी ऋतु-परिवर्तन के कारण अथवा मूल्यवान् होने के कारण पीछे से अश्व-बलि भी उठा दी गई।

गाय की खाल को रंग कर उसकी, गृहस्थी के काम की, अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं। जैसे—पानी, सुरा, शहद, तेल, घी और सोम-रस रखने के पात्र।^२

ऋग्वेद में की भरद्वाज की प्रार्थना^३—“देवेशो युवस्व गृणते गो अग्नाः—” से प्रकट होता है कि उस समय गोमांस खाया भी जाता था। परन्तु यह भी संभव है कि गो शब्द से शायद गो-दुग्ध और उससे मिलने वाले पदार्थों का तात्पर्य हो। ऐतरेय ब्राह्मण में, जो ऋग्वेद से बहुत पीछे का बना है, कहा गया है कि—राजा या किसी आदरणीय अतिथि के आने पर वृष या वेहत (बुड़ी-बांझ) गाय मारी जाती थी।^४ भवभूति के उत्तररामचरित में भी इसका उल्लेख है।^५ याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्मृति में लिखा है^६—‘महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्।’ (अर्थात्—श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिए बड़ा बैल या बड़ा बकरा देवे।) महा-भारत में रन्तिदेव की पाकशाला में—“अहन्यहनि वध्यते द्वे सहस्रे गवां तथा।” (प्रतिदिन दो हजार गायें मारी जाती थीं) लिखा है।^७ ऋग्वेद में भी गो-वध-स्थान का उल्लेख है।^८

दूसरा पालतू पशु घोड़ा था।^९ यह रथ खींचता था अथवा सवारी के काम में

१. १—३—४.

२. मं. १, सू. २९, ऋ. ९; और मं. ९, सू. ६६, ऋ. २९।

३. मं. ६, सू. ३९, ऋ. १। इसी प्रकार मं. १, सू. ६१, ऋ. १२ में के ‘गोर्न’ शब्द से भी ऐसी शङ्का की जाती है। [या देवेषु तत्त्वमैरयन्त (मं. १०, सू. १६९, ऋ. ३) अर्थात् गायें अपने शरीर को देवों के यज्ञ के लिए अर्पण करती हैं]।

४. १—३—४.

५. महावीर चरित भी इसकी पुष्टि करता है।

६. १०—१०९.

७. अ. २६६, श्लो० १०-११.

८. मं. १०, सू. ८९, ऋ. १४.

९. मं. ६, सू. ५८, ऋ. २.

आता था ।^१ ऋग्वेद में घुड़दौड़ के मैदान (आजि) का भी उल्लेख है ।^२ उस समय सिन्धु तट के घोड़े श्रेष्ठ समझे जाते थे ।

ऋग्वेद के चौथे मण्डल के ३८वें सूक्त से ४०वें सूक्त तक 'दधिका' (युद्ध के अश्व) का वर्णन है । यह सवारी और रथ दोनों में काम आता था । उक्त संहिता के छठे मण्डल के ४६वें सूक्त में भी ऊँचे-नीचे स्थानों पर जाने वाले, भागने वाले अथवा युद्ध के घोड़े का उल्लेख है । घोड़ा सामान भी ढोता^३ था और हल भी चलाता था ।^४ घोड़े की बलि भी दी जाती थी और इसका पकाया हुआ मांस रुचि से खाया जाता था ।^५

गधा^६ रथ^७ और गाड़ी खींचता^८ तथा बोझा ढोता था ।^९ (ऐतरेय ब्राह्मण में खच्चर का भी उल्लेख है ।^{१०})

महिष भी पालतू पशुओं में था । यह गाड़ी और हल खींचता था । भैंस^{११} से दूध और घी मिलता था । इन्द्र को महिष मांस अति रुचिकर था ।^{१२} हरिवंश पुराण (महाभारत^{१३}) में पिण्डार्क के यहाँ के भोज (दावत) में महिष मांस का उल्लेख है । श्रीकृष्ण भी इस भोज में उपस्थित थे । महाभारत के वनपर्व^{१४} में महिष-मांस के बाजार में बेचे जाने का वर्णन है ।

१. मं. ८, सू. ५, ऋ. ७; मं. ८, सू. ६, ऋ. ३६; मं. ६, सू. ४७, ऋ. ३१; मं. ४, सू. ४२, ऋ. ५; मं. २, सू. २७, ऋ. २२; और मं. १०, सू. १२, ऋ. ९.

२. मं. १०, सू. १५६, ऋ. १.

३. मं. ८, सू. ४६, ऋ. ८.

४. मं. १०, सू. १०१, ऋ. ७.

५. मं. १, सू. १६२, ऋ. १२.

६. मं. ३, सू. ५३, ऋ. ५.

७. मं. ८, सू. ७४, ऋ. ७.

८. (अश्विनी कुमारों के रथ को गधे खींचते थे) । मं. १, सू. ३४, ऋ. ४ और ९.

९. ऋग्वेद के आठवें मण्डल के बालखिल्य सूक्त में इन्द्र से १०० गधों की मांग की गई है (सू. ८, ऋ. ३) ।

१०. ६—१७—३.

११. मं. ८, सू. ३५, ऋ. ७.

१२. मं. ५, सू. २९, ऋ. ८ और मं. ६, सू. १७, ऋ. ११.

१३. अ. १४६-१४७.

१४. अ. २०५.

बकरी^१ से दूध, मांस और ऊन मिलती थी । बकरों की बलि दी जाती थी । ये छोटी गाड़ियों में भी जोते जाते थे ।^३

भेड़ से मांस और ऊन मिलता था । इनकी बलि भी दी जाती थी ।^१ गंधार (कंधार) की भेड़ ऊन के लिए प्रसिद्ध थी ।^५ मेष-लोम^६ के कंबल और छनने बनते थे ।

ऊँट^७ बोझा ढोता था । यह विशेषतया सिन्धु और दक्षिणी सप्तसिन्धु के रेतीले भाग में सवारी और बोझा ढोने के काम आता था ।^{१०} इस पर चढ़कर युद्ध भी किया जाता था^८ और यह दान में भी दिया जाता था ।^९

कुत्ता^{१०} पालतू पशुओं में था और रखवाली के अतिरिक्त बोझा भी ढोता था ।^{११}

हाथी भी पकड़कर पाला जाता था^{१२}, और राजाओं तथा बड़े लोगों की सवारी में काम आता था ।^{१३} यह अङ्कुश की सहायता से चलाया जाता था^{१४} और हिमालय की तराई के जंगल में मिलता था ।^{१५}

इन पालतू जानवरों के अतिरिक्त जंगली जानवरों में धब्बेदार हिरन^{१६} (चीतल), कस्तूरी वाला हिरन,^{१७} काला हिरन^{१८}, सूअर^{१९}, वनमहिष^{२०},

१. मं. ६, सू. ५८, ऋ. २.
२. मं. ९, सू. २६, ऋ. ८; और मं. १, सू. १३८, ऋ. ४.
३. मं. १, सू. ९१, ऋ. १४.
४. मं. १, सू. १२६, ऋ. ७; और मं. ४, सू. ३७, ऋ. ४.
५. मं. १, सू. ४३, ऋ. ६.
६. मं. ८, सू. ५, ऋ. ३७.
७. मं. ८, सू. ४६, ऋ. २८.
८. मं. १, सू. १३८, ऋ. २.
९. मं. ८, सू. ४६, ऋ. २२.
१०. मं. ७, सू. ५५, ऋ. २.
११. मं. ८, सू. ४६, ऋ. २ और २८.
१२. मं. १०, सू. ४०, ऋ. ४ और मं. ६, सू. ४५, ऋ. ८.
१३. मं. ४, सू. ४, ऋ. १.
१४. मं. १०, सू. १०६, ऋ. ६.
१५. मं. ८, सू. ४५, ऋ. ५, और मं. १, सू. ६४, ऋ. ७.
१६. मं. १, सू. ३७, ऋ. १ और मं. ८, सू. ५, ऋ. ३६.
१७. मं. १०, सू. १४६, ऋ. ६.
१८. मं. १०, सू. ९४, ऋ. ५.
१९. मं. ७, सू. ५५, ऋ. ४.
२०. मं. ८, सू. ४५, ऋ. २४.

सिंह^१, भेड़िया,^२ रीछ, खरगोश,^३ नेवला,^४ बन्दर, गीदड़ और गोघा^५ का उल्लेख भी मिलता है। उस समय पर्वतों और मैदानों में सघन वन थे।^६ उन्हीं में ये पशु स्वच्छन्द विचरण करते थे। उसमें एक स्थान पर^७ मूष (चूहे) का भी उल्लेख मिलता है।

सिंह को जीता पकड़कर पिंजरे में रखते थे।^८ ऋग्वेद में व्याघ्र का उल्लेख नहीं है। कृष्णसार मृग की बड़ी महिमा थी।^९ मनु ने भी कृष्णसार मृग के साथ ही आर्यावर्त का उल्लेख किया है।^{१०} कस्तूरी मृग अब भी हिमालय में होता है। विद्वान् लोग गौर मृग^{११} से वन-महिष का तात्पर्य लेते हैं।

रेंगेने (पेट के बल चलने) वाले जीवों में सर्प का उल्लेख है।^{१२} ऋग्वेद में मिलने वाले विषनाशक सूक्तों^{१३} से उस समय सप्तसिन्धु में सर्पों की अधिकता का अनुमान होता है। मेंढकों^{१४} के टरने और पाठशाला में पढ़ते हुए बालकों के शब्द की समानता का उल्लेख^{१५} भी किया गया है।

जलचरों में मछली^{१६} और बड़ी मछली^{१७} का उल्लेख है।

१. मं. ८, सू. १, ऋ. २०.
२. मं. १०, सू. ३९, ऋ. १३.
३. मं. १०, सू. २८, ऋ. ९.
४. मं. १, सू. १६४, ऋ. १५, और मं. १, सू. १९१, ऋ. १५.
५. मं. ८, सू. ६९, ऋ. २.
६. मं. १०, सू. १४६ (अरण्यानीसूक्त).
७. मं. १, सू. १०५, ऋ. ८.
८. मं. १०, सू. २८, ऋ. १०.
९. शतपथब्राह्मण १—४—२.
१०. मनुस्मृति, अ. २, श्लो. २३-२४.
११. मं. ८, सू. ९, ऋ. ३.
१२. मं. ७, सू. ५०, ऋ. १-३.
१३. मं. १, सू. १९१, और मं. ७, सू. ५०.
१४. मं. ७, सू. १०३, ऋ. ५.
१५. मं. ८, सू. १०३, ऋ. ५.
१६. मं. १०, सू. ६८, ऋ. ८.
१७. मं. ८, सू. ६७.

पक्षियों में मोर^१, श्येन (बाज)^२, हंस^३, वर्तिका^४, कपिञ्जल^५, कृष्ण शकुण^६, उल्लू^७, कपोत^८, चकवे^९, तोते^{१०} और गीघ^{११} का उल्लेख है। उसमें पक्षियों को पकड़ने वाले बहेलिये का भी उल्लेख मिलता है।^{१२} इसी प्रकार उसमें मधुमक्खी के छत्ते का भी वर्णन है।^{१३}

वृक्षों में अश्वत्थ^{१४} (पीपल), शमी^{१५}, पलाश^{१६}, शाल्मली^{१७}, खदिर (खैर) और शिशपा^{१८} (शीशम) का उल्लेख मिलता है। परन्तु बड़ का ऋग्वेद में वृक्ष नाम नहीं है। सोम^{१९} मूजवत पर्वत पर और मैदान में होता था। उसमें कुश^{२०} का नाम भी आया है।

धान्यों में जौ^{२१} और चावल (धान्य)^{२२} का उल्लेख है।

१. मं. ३, सू. ४५, ऋ. १, और मं. १, सू. १९१, ऋ. १४.

२. मं. ८, सू. ३४, ऋ. ९.

३. मं. ३, सू. ८, ऋ. ९। (शुक्ल यजुर्वेद में हंस को नीर-सोम-विवेकी और क्रौञ्च को नीरक्षीरविवेकी कहा है)।

४. मं. १, सू. ११२, ऋ. ८.

५. मं. २, सू. ४२ और ४३.

६. मं. ९, सू. १६, ऋ. ६.

७. इसकी चीख अशुभ समझी जाती थी (मं. १०, सू. १६५, ऋ. ४, ५ और ६)।

८. मं. १०, सू. १६५, ऋ. १.

९. मं. २, सू. ३९, ऋ. ३.

१०. मं. ८, सू. ३५, ऋ. ७.

११. मं. १०, सू. १२३, ऋ. ८.

१२. मं. १, सू. ९२, ऋ. १०.

१३. मं. १०, सू. १०६, ऋ. १०.

१४. इससे सोम के लिए पात्र बनाये जाते थे, और इसके फल भी खाये जाते थे। (मं. १०, सू. १६४, ऋ. २०)।

१५. मं. १०, सू. ३१, ऋ. १०-११.

१६. मं. १०, सू. ९७, ऋ. ५.

१७. मं. १०, सू. ८५, ऋ. २ (सेमल)—मं. ३, सू. ५३, ऋ. २२.

१८. मं. ३, सू. ५३, ऋ. १९.

१९. मं. ९.

२०. मं. ८, सू. ५८, ऋ. १८.

२१. मं. ५, सू. ८५, ऋ. ३ और मं. १०, सू. ६९, ऋ. ३.

२२. मं. १०, सू. ९४, ऋ. १३.

इसी प्रकार जंगल के फलों में उर्वरक (ककड़ी)^१ का, तथा पुष्प-लताओं, औषधियों और श्वेत कमल^२ का भी जिक्र है। कुश का उपयोग यज्ञ में होता था। आर्य इक्षु (गन्ने) से भी परिचित थे।^३ ऋग्वेद में एक स्थान पर पके फलों को अङ्कश (लग्नी) से गिराने का उल्लेख भी मिलता है।^४ एक स्थान^५ पर जंगल में सुस्वादु फलों को खाकर रह सकना भी प्रकट किया है।

धातुओं में सोने, ताँबे और लोहे का^६ उल्लेख है। ताँबे को भी संभवतः 'अयस्' ही कहते थे। इसी से कहीं-कहीं लोहे के लिए 'कृष्णायस्' (काला लोहा) शब्द का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में रत्नों का भी उल्लेख मिलता है। स्त्री और पुरुष सुवर्ण के खनिज पदार्थ सादे तथा जड़ाऊ आभूषण पहनते थे। सोने के सिक्के चलते थे। ताँबे के सिक्कों का उल्लेख नहीं मिलता। लोहा शस्त्र, कवच और खेती के औजार बनाने में काम आता था। ऋग्वेद में लोह-दुर्गों का भी वर्णन है। सम्भव है यह उपाधि उन्हें उनकी मजबूती के कारण दी गई हो। ताँबा भी पात्र आदि बनाने के काम आता था। ये धातु और रत्न सप्तसिन्धु के उत्तर के पहाड़ी प्रदेश में मिलते होंगे। परन्तु पंजाब में नमक की पहाड़ी के विद्यमान होने पर भी उक्त संहिता में नमक का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार चाँदी का उल्लेख भी नहीं मिलता है। आर्य समुद्र से मिलने वाले मोतियों से भी परिचित थे।^७

१. मं. ७, सू. ५९, ऋ. १२.

२. मं. १०, सू. १४६, ऋ. ३.

३. मं. ९, सू. ८६, ऋ. १८.

४. मं. ३, सू. ४५, ऋ. ४.

५. मं. १०, सू. १४६, ऋ. ५.

६. मं. १, सू. ५६, ऋ. ३.

७. मं. १०, सू. १४२, ऋ. ८ (बगीचे वाले घर भी होते थे)।

पहले लिख चुके हैं कि ऋग्वेद में सप्तसिन्धु^१ प्रदेश के चारों तरफ चार^२ समुद्रों का उल्लेख मिलता है। परन्तु उत्तर-पश्चिम में इसका संबन्ध स्थल के द्वारा ईरान (पर्शिया) और उसके आगे ऋग्वेद में सप्त- पश्चिमी एशिया से था। सप्तसिन्धु के उत्तर में हिमालय सिन्धु, उसके चारों पर्वत माला थी, और उसके परे एशिया का भूमध्य सागर ओर के चार (Mediterranean sea) था, जो बल्ख (बाल्हीक) समुद्र, उसमें की और ईरान (पारसीक-फारस) के उत्तर में तथा तुर्किस्तान आर्य जातियां, के पश्चिम में काले सागर (Black sea) तक फैला उसके देश, पर्वत हुआ था।^३ परन्तु बौसफोरस (Bosphorus) के और नदियां आदि जलडमरूमध्य के बन जाने से इसका जल यूरोपीय भूमध्य सागर (Mediterranean sea) में चला गया। इस समय कृष्ण सागर, (Black sea) कश्यप सागर (Caspian sea) अराल सागर (Aral sea) और बल्कश झील (Balkash sea) इसी के अवशेष के रूप में विद्यमान हैं। प्राचीन काल में पूर्वी तुर्किस्तान की सीमा पर भी एक बड़ा समुद्र था, जिसका अवशेष लोबनोर झील (Lobnor sea) है। अस्तु, यही उपर्युक्त एशियायी भूमध्यसागर ऋग्वेद में कहा आर्य निवास का उत्तरी समुद्र था। पश्चिम की सुलेमान पर्वतमाला के नीचे अरब समुद्र की एक लंबी सँकरी शाखा थी^४ जो आज-कल के सिन्धु प्रान्त के ऊपर तक फैली हुई थी। उत्तर-पश्चिम में गन्धार (कन्धार-अफगानिस्तान) था। यहाँ पर भी प्रवासी आर्य रहते थे। यह प्रान्त भेड़ों की ऊन के लिए प्रसिद्ध था।^५ पूर्व में हिमालय पर्वत माला की शाखा के नीचे एक समुद्र था। यह सप्त-सिन्धु की पूर्वी सीमा से आसाम तक फैला हुआ था। यह कहीं-कहीं पर अधिक गहरा

१. वहाँ पर सात मुख्य नदियां होने से ही यह सप्तसिन्धु कहाता था, और बाद में पांच नदियों के कारण पंजाब कहाया।

२. "चतुः समुद्रं धरुणं रयीणाम्" (मं. १०, सू. ४७, ऋ. २) (मं. ९, सू. ३३, ऋ. ६)। आर्य लोग इन समुद्रों द्वारा व्यापार भी करते थे (मं. १, सू. ५६, ऋ. २)।

३. "उभा समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः" (मं. १०, सू. १३६, ऋ. ५)। इसमें पूर्वी और पश्चिमी समुद्र का उल्लेख है। उन दिनों जिसमें गङ्गा-यमुना गिरती थी, वह पूर्वी समुद्र था। यहाँ पर बंगाल की खाड़ी का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। फिर जिसमें सिन्धु गिरती थी, वह पश्चिमी समुद्र था।

४. मं. १, सू. १२६, ऋ. ७-८.

भी था। दक्षिण में राजस्थान समुद्र था, जो दक्षिण में अर्बली पर्वतमाला तक चला गया था। यह पश्चिम में कच्छ की खाड़ी और सिन्ध के द्वारा अरब समुद्र से, तथा पूर्व में आजकल की दिल्ली के नीचे स्थित एक पतली जलधारा के द्वारा पूर्वी समुद्र से मिला हुआ था। यह पूर्वी समुद्र उत्तर-पूर्व में गङ्गा की खाड़ी पर लहराता था। उत्तर-पश्चिमी राजस्थान की अर्बली पर्वतमाला दिल्ली के पास के पहाड़ी टीले के पास समाप्त होती है। परन्तु श्री ओल्डहम (Oldham) के मतानुसार यह पर्वतमाला नदियों द्वारा लाकर जमाई हुई मिट्टी की तह के नीचे-नीचे गङ्गा की खाड़ी में होती हुई हिमालय से जा मिली है।^१ उस समय संभवतः यह सप्तसिन्धु की पूर्वी सीमा थी। इसके नीचे पूर्वी समुद्र था। इसी में गङ्गा, यमुना और हिमालय के दक्षिणी ढलाव की अन्य नदियाँ गिरती थीं ; इससे यह भी प्रकट होता है कि उस समय ये नदियाँ विशेष दूरी तक बहने वाली नहीं थीं। अर्बली पर्वतमाला की ऊँचाई उत्तर में धीरे-धीरे कम होती गई है। इसी से इसके ऊँचे भागों को छोड़कर नीचे के भाग नदी से लाई मिट्टी द्वारा ढक गये हैं, और दिल्ली के पास की पहाड़ी के आगे यह पर्वतमाला मिट्टी में अदृश्य हो गई है।^२

ऋग्वेद संहिता के संकलन के समय दृशद्वती,^३ सरस्वती^४, शुतुद्रि^५ (सतलज) और वियास् (व्यास) मिलकर दक्षिण की ओर के राजस्थान समुद्र में गिरती थीं। यद्यपि उस समय भी राजस्थान समुद्र के उत्तरी तट की रेत दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी तेज हवाओं से उड़-उड़कर सप्तसिन्धु की दक्षिणी सीमा के एक बड़े भाग को अनुर्वर (रेगिस्तान) बना रही थी^६, और धीरे-धीरे सरस्वती नदी के मुहाने को भी रोक रही थी, तथापि उस समय उस—(सरस्वती) की धारा, विशाल

१. Memoirs of the Geological Survey of India, Vol. XLII pp. 2 and 97.

२. Ibid, pp. 96-97.

३. कात्यायन श्रौतसूत्र में दृशद्वती और सरस्वती के संगम-स्थल का नाम 'दृशद्वत्यप्यय' बताया है (२४।६।६)।

४. मं. ७, सू. ९५, ऋ. २.

५. मं. ३, सू. ३३, ऋ. २.

६. कुछ लोग ऋग्वेद में तीन मरुस्थलों का उल्लेख मानते हैं (मं १, सू. ३५, ऋ ८)। सिन्धु प्रदेश के दक्षिण में भी एक मरुस्थल का रहना सूचित होता है (मं. १०, सू. ६३, ऋ. १५)।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, जातियां... 103

और वेगवती होने से, इस मुहाने की रेत को बहाकर फिर से समुद्र में पहुँचा^१ देती थी। सरस्वती की धारा और समुद्र-तट की रेत में इस प्रकार निरन्तर संग्राम चल रहा था। परन्तु कालान्तर में पूर्वी और राजस्थानी समुद्र^२ के सूख जाने से, और उनके गर्तों के रेत और नदियों द्वारा बहाकर लाई मिट्टी से पट जाने से सप्तसिन्धु में वर्षा कम हो गई। इससे धीरे-धीरे सरस्वती का जल कम हो जाने से वह एक साधारण नदी रह गई, और उसका मुहाना भी हवा से लाई गई रेत से दब गया। परन्तु ये परिवर्तन ऋग्वेद काल के बाद ब्राह्मण-काल में हुए होंगे। इसीसे ताण्ड्य-ब्राह्मण^३ में सरस्वती के बालुका में लुप्त होने के स्थान का नाम 'विनशन' दिया है और जैमिनीयब्राह्मण^४ तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र^५ में उस (सरस्वती) के बालुका से बाहर आने के स्थान का नाम क्रमशः प्लक्ष 'प्रास्रवण'^६ और 'प्लाक्ष प्रस्रवण' बताया है। इससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद-काल में सरस्वती एक बड़ी नदी थी और हवा से लाई रेत की परवाह न कर राजस्थान समुद्र में गिरती थी। परन्तु अन्त में प्रवाह के कम हो जाने से सरस्वती, सतलज और व्यास ने पुराने मार्ग से आगे बढ़ने में असमर्थ होकर अपना मार्ग बदल लिया और ये पश्चिम की तरफ मुड़कर सिन्धु नदी में मिल गई। ऋग्वेद के समय भी सप्त सिन्धु के दक्षिण-भाग में एक सँकरी और लंबी मरुस्थल की शृंखला विद्यमान थी। इसका उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है।^७

१. उस समय चारों तरफ समुद्र रहने से यहाँ पर वर्षा अधिक होती थी जैसा कि इस मन्त्र से सूचित होता है :—

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानां अरम्णाः ।

महान्तमिन्द्र पर्वतं वियद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन् ॥

(मं. ५, सू. ३२, ऋ. १)

अर्थात्—हे इन्द्र ! तुमने मेघों को विदीर्ण किया, जल-प्रवाह के द्वार मुक्त कर दिये, अवरुद्ध जल-धाराओं को प्रवाहित कर दिया, (और) असुर (वृत्र) का वध कर जल को गिराया।

२. साँभर की झील इसी राजस्थान समुद्र का अवशेष है जहाँ पर नमक उत्पन्न किया जाता है।

३. २५-१०-१६.

४. ४।२६।१२.

५. १२।६।१.

६. विनशन से प्लक्ष-प्रास्रवण तक पहुँचने में घुड़सवार को ४४ दिन लगते थे, ऐसा कहा गया है।

७. मं. ३, सू. ४५, ऋ. १; मं. ६, सू. ६२, ऋ. २; मं. ९, सू. ७९, ऋ. ३, और मं. १०, सू. ६३, ऋ. १५.

राजस्थान समुद्र के सूखकर समतल हो जाने पर भी वहाँ पर वर्षा के कम होने, और उस प्रान्त के शुष्क हो जाने के कारण वह प्रदेश मनुष्यों के निवास के लिये अधिक उपयोगी नहीं था। इसी से वहाँ पर पाषाण युग के शस्त्र आदि भारत के अन्य प्रदेशों की उपेक्षा बहुत कम मिलते हैं।^१ कुछ विद्वानों का अनुमान है कि जिस समय ऋग्वेद का संकलन हुआ था, उस समय राजस्थान पर तो समुद्र लहराता था; परन्तु दक्षिण भारत में पाषाण-युग का प्रारम्भ हो गया था। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि पहले उपर्युक्त सीमाओं वाले सप्तसिन्धु के मुख्य तीन भाग थे।^२ (१) सरस्वती का प्रदेश, जो सरस्वती के ऊपरी भाग से सींचा जाता था। (२) भारती का प्रदेश, जो सरस्वती के नीचे वाले भाग से सींचा जाता था, और जहाँ विश्वामित्र के पौरोहित्य में भरत लोग रहते थे। (३) इला प्रदेश, जो काश्मीर की घाटी में हिमालय पर्वत पर था। इन मुख्य भागों के अतिरिक्त दो भाग और भी थे। इनमें का एक परुष्णी (रावी) के पूर्व में किसी स्थान पर था। यहाँ पर वसिष्ठ के पौरोहित्य में तृत्सु लोग रहते थे। दूसरा भाग सिन्धु नदी के तट पर था। ऋग्वेद में मिलने वाला 'पञ्च क्षितयः'^३ शब्द शायद इन्हीं का बोधक हो। इन भागों में भरतों और तृत्सुओं के अतिरिक्त पुरु, अनु, द्रुह्य और तुर्वश या यदु रहते थे।^४ ऋग्वेद में शायद इनका उल्लेख 'पञ्च-जनाः'^५ के नाम से मिलता है। इनके अतिरिक्त सप्तसिन्धु के कुछ और भी भाग थे, जिनमें उपर्युक्त पञ्चजनों की बराबरी की सृञ्जय, क्रिवि, वृचीवन्त, नहुष, चेदि, वैकर्ण, मत्स्य और ऊशीनर, आदि आर्यजातियाँ रहती थीं। आगे ऊपर उद्धृत जातियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. Memoirs of the Geological Survey of India, vol. XLV, pp. 1 & 103.

२. मं. ८, सू. ५, ऋ. ८.

३. मं. १, सू. ७, ऋ. ९.

४. मं. १, सू. १०८, ऋ. ८ और मं. १०, सू. ६२, ऋ. १०.

५. मं. ३, सू. ३७, ऋ. ९। परन्तु 'पञ्चजनाः' के अर्थ के विषय में बड़ा मतभेद है। ऐतरेयब्राह्मण में इससे देवता, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प और पितर का तात्पर्य लिया है। (३।३१)। औपमन्यव इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद का संकेत मानते हैं (निरुक्त ३।८)। सायण का भी ऐसा ही मत है। यास्क इसका अर्थ गन्धर्व, देवता, पितर, असुर और राक्षस करते हैं। परन्तु ऋग्वेद में इसी का पर्यायवाची 'पञ्च-मानुषाः' शब्द मिलने से (मं. ८।१।२) इसके भीतर मनुष्येतर जीवों का समावेश उचित प्रतीत नहीं होता। इसके

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, जातियाँ, ... 105

भरत—ऋग्वेद के समय यह सरस्वती नदी के किनारे^१ पर रहने वाली एक प्रसिद्ध, यज्ञप्रिय और आदर्श सदाचारी जाति थी। इसी के सम्बन्ध से अग्नि को 'भारती' कहा गया था। आख्यानो से भरतों और तृत्सुओं के बीच विरोध रहना प्रकट होता है। इनका पुरोहित विश्वामित्र भरतों के राजा कुशिकवंशीय गाधि का पुत्र था, और इसने अपने तपोबल से ऋषि-पद प्राप्त किया था। गायत्री मन्त्र का ऋषि भी यही विश्वामित्र है। इसके और तृत्सुओं के पुरोहित वसिष्ठ के बीच भी मनोमालिन्य था। इसी भरतवंशी दुष्यन्त के पुत्र भरत के संबन्ध से (या भागवत के अनुसार ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम से) इस देश का नाम भारत होना माना जाता है।

तृत्सु—ये लोग बड़े पराक्रमी और प्रभावशाली थे तथा रावी^२ नदी के पूर्व में रहते थे। इस जाति के राजा सुदास ने, वसिष्ठ के पौरोहित्य में, दस राजाओं को परास्त किया था। यह युद्ध रावी के तट पर हुआ था, और इन राजाओं ने मिलकर तृत्सु-नरेश सुदास पर आक्रमण किया था। सुदास का पिता या पितामह^३ दिवोदास भी एक विख्यात राजा था। अतिथि-सेवा के कारण इसे 'अतिथिग्व' की उपाधि प्राप्त थी। ऋग्वेद से वसिष्ठ का भरतों और तृत्सुओं का पुरोहित होना और इन दोनों जातियों का निकटतम सम्बन्धी होना भी प्रकट होता है।^४

पुरु—ये लोग भी बड़े प्रभावशाली थे। कुछ लोग इन को सिन्धु नदी के आस-पास के रहनेवाले और कुछ सारस्वत प्रदेश के रहने वाले मानते हैं। इस जाति का प्रतापी राजा पुरुकुत्स, तृत्सु-नरेश सुदास के साथ के 'दाशराज्ञ-युद्ध' में मारा गया था।^५ इसका पुत्र त्रसदस्यु और पौत्र तृक्षि^६ था। त्रसदस्यु के एक पुत्र का नाम कुरुश्रवण भी मिलता है।^७ ऋग्वेद में त्रिवृष्ण के पुत्र अरुण और

अतिरिक्त उसी संहिता में सरस्वती को 'पञ्चजनो' को समृद्धि देने वाली कहा है (मं. ६, सू. ६१, ऋ. १२)। इस से भी इस शब्द का संबन्ध मनुष्य जातियों से ही होना सिद्ध होता है।

१. मं. ३, सू. ३३, ऋ. ४। मं. ३, सू. ३३, ऋ. ११-१२ से इनका व्यास और सतलज के पार जाना सूचित होता है।

२. मं. ७, सू. १८, ऋ. ५.

३. मं. ७, सू. १८, ऋ. २२.

४. मं. ७, सू. ३३, ऋ. ६.

५. इसके पिता का नाम गिरिक्षित और दादा का नाम दुर्गह था।

६. मं. ८, सू. २२, ऋ. ७.

७. मं. १०, सू. ३३, ऋ. ४.

त्रसदस्यु की समान दानशीलता का उल्लेख^१ होने से विद्वान् लोग इसे भी इसी जाति का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार मित्रातिथि का पुत्र उपमश्रवस् भी इसी वंश का माना जाता है।^२

अनु—यह जाति रावी के तट पर रहने वाली समझी जाती है। इसने भी सुदास पर के आक्रमण में भाग लिया था। इसके पुरोहित भृगुवंशी थे। यह द्रुह्य जाति की मित्र थी।

द्रुह्य—ये पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी समझे जाते हैं; क्योंकि पुराणों से इनका संबन्ध गन्धार (कन्धार) के साथ सिद्ध होता है। इनका राजा भी सुदास पर के हमले में सम्मिलित था। परन्तु हारने पर शायद वह रावी के जल में डूब मरा था।^३ अनु और द्रुह्य लोगों में परस्पर मेल था। कुछ लोग इन्हें रावी के पास रहने वाले भी मानते हैं।

तुर्वश—ये यदुओं के मित्र और तृत्सुओं के पुराने शत्रु थे। इन्होंने भी 'दाश राज युद्ध' में भाग लिया था। तृत्सुवंशी दिवोदास के साथ भी इनका युद्ध होना कहा गया है। कुछ लोग इनका भी रावी के तट पर रहना मानते हैं।

यदु—ये भी तुर्वशों के मित्र और तृत्सुओं के चिरशत्रु थे। अनेक स्थानों पर तुर्वश और यदुओं के एक साथ उल्लेख होने से इनकी आपस में घनिष्ठता प्रकट होती है। इन्होंने भी सुदास पर के हमले में योग दिया था। इनके पुरोहित कण्वगोत्री थे।

सृञ्जय—ये तृत्सुओं के मित्र और तुर्वशों के शत्रु थे।^४ इन्हें भरतों का पड़ोसी और सरस्वती के निकट का निवासी माना जाता है। कुछ लोग ऋग्वेद में आये देववात^५ को सृञ्जयवंशी मानते हैं और कुछ देववात को अभ्यावर्ती के वंश का नाम समझते हैं।

क्रिवि—ये लोग सिन्धु और असिक्ती (चिनबा) के पास के रहने वाले थे।^६

१. मं. ५, सू. २७, ऋ. ३.

२. मं. १०, सू. ३३, ऋ. ७-८.

३. मं. ७, सू. १८, ऋ. १२.

४. मं. ६, सू. २७, ऋ. ७। पिछले समय में ये कुरुओं में मिल गये थे।

५. मं. ६, सू. २७, ऋ. ७.

६. मं. ८, सू. २०, ऋ. २४। शतपथब्राह्मण में क्रिवि को पाञ्चाल का प्राचीन नाम माना है (१३।५।४।७), और वहीं पर राजा क्रैव्य पाञ्चाल के नाम का भी उल्लेख है। (पाञ्चाल हस्तिनापुर के उत्तर में है।)

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, जातियां,... 107

वृचीवन्त—ऋग्वेद के एक सूक्त में इस जाति का उल्लेख है । यह कोई साधारण जाति थी । एक मन्त्र में^१ यव्यावती (हरियूपा) के पास इसके राजा का चयमान के पुत्र अभ्यावर्ती के साथ युद्ध में हारना और दूसरे में^२ सृञ्जयों द्वारा परास्त होना कहा है । ये तुर्वशों के मित्र माने जाते हैं ।

नहुष—यह जाति सिन्धु या सरस्वती नदी के पास की रहने वाली थी और इसके राजा का नाम भी नहुष था ।^३

चेदि—ऋग्वेद में^४ चेदि-नरेश कशु का ब्रह्मातिथि को एक सौ ऊँट और दस हजार गायें देना कहा है । यहाँ पर १०० ऊँटों के उल्लेख से कुछ विद्वान् इसे राजस्थान की तरफ की मरुभूमि के पास का निवासी अनुमान करते हैं ।^५

वैकर्ण—ऋग्वेद में इस नाम की दो जातियों का उल्लेख है । इन जातियों के २१ योद्धा सुदास पर के आक्रमण में सम्मिलित होकर मारे गये थे ।^६

ऋग्वेद में इनके अतिरिक्त और भी अन्य अनेक राजाओं और राजकुमारों के नाम मिलते हैं ।

जैसे—रथवीति—यह दर्भ का पुत्र था । इसका राज्य (सिन्धु के पश्चिम की) गोमती (गोमल) नदी के पास के पार्वत्य प्रदेश पर था ।^७ यह नदी अफगानिस्तान में बहती है । इसकी कन्या का विवाह इसके पुरोहित अत्रिवंशी अर्चनाना के पुत्र श्यावाश्व से हुआ था ।^८

तरन्त—संभवतः उपर्युक्त राज्य के पास ही इसका राज्य था । इसकी रानी का नाम शशीयसी था ।^९

१. मं. ६, सू. २७, ऋ. ५ । ऋग्वेद में इस (चयमान) को पार्थिव भी कहा है (मं. ६, सू. २७, ऋ. ८) । इससे विदेशी विद्वान् इसका पारसीकों से संबन्ध होना अनुमान करते हैं ।

२. मं. ६, सू. २७, ऋ. ७.

३. मं. १, सू. १२२, ऋ. ८; मं. ९, सू. ९१, ऋ. २ । ऋग्वेद में वेन जाति का उल्लेख भी मिलता है (मं. ९, सू. ८५, ऋ. १०) । इसी प्रकार एक मन्त्र में दुःशीम, पृथवान्, वेन और राम राजाओं का उल्लेख है (मं. १०, सू. ९३, ऋ. १४) ।

४. मं. ८, सू. ५, ऋ. ३७ और ३९.

५. परन्तु पौराणिक काल में इस जाति का निवास मगध में पाया जाता है ।

६. मं. ७, सू. १८, ऋ. ११.

७. मं. ५, सू. ६१, ऋ. १९.

८. मं. ५, सू. ६१, ऋ. १७ और मं. ५, सू. ६४, ऋ. ७.

९. मं. ५, सू. ६१, ऋ. ६-९.

पुरुमील्ह—यह विददश्व का पुत्र^१ और (सायण के कथनानुसार) तरन्त का छोटा भाई था। तरन्त के राज्य के पास ही इसका भी राज्य रहा होगा।

मनु—यह सार्वर्णि या वैवस्वत मनु भी कहाता था। इसने हजारों घोड़े और अष्टकर्णी गायें दान में दी थीं।^२ शतपथब्राह्मण में^३ मनु का जलप्लावन के समय नौका द्वारा सब वस्तुओं के बीजों की रक्षा करना कहा है।

१. मं. ५, सू. ६१, ऋ. ९-१०.

२. मं. १०, सू. ६२, ऋ. ८-९.

३. १।८।१।१। शतपथ ब्राह्मण की कथा :—

एक बार मनु के हाथ में जल के साथ एक छोटी मछली आ गई और उसने मनु से अपनी रक्षा के लिए कहा। उसने यह भी कहा कि एक बड़ी बाढ़ आने वाली है, जिसमें सब जीव नष्ट हो जायेंगे, उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी। इस पर उस समय मनु ने उस की रक्षा की, और बाद में जब बाढ़ आई, तब मनु ने उस की आज्ञानुसार एक नाव में बैठकर उसकी रस्सी उस मछली के सींग में बाँध दी। मछली ने उसे उत्तर गिरि (हिमालय) पर पहुँचा दिया। पानी हटने पर जहाँ मनु नाव से उतरा था, उस स्थान को 'मनोरवसर्पणम्' (मनु के उतरने का स्थान) कहा गया है। महाभारत में इसका नाम 'नौवन्धनम्' (नाव-बाँधने का स्थान) बतलाया है। यहीं पर मनु का विवाह श्रद्धा से होकर मानवीय सृष्टि पैदा हुई।

बाइबल में लिखा है :—“ईश्वर ने हजरत नूह को सूचित किया और उसी के अनुसार उसने एक जहाज बनवाकर उसमें सब जीवों का एक-एक जोड़ा रख लिया। इसके बाद ४० दिन-रात बराबर पानी बरसा, और सारा जगत् जलमय हो गया। केवल नूह का जहाज बचा रहा। इसके बाद जब वर्षा बंद हुई, तब नूह का जहाज अरास्त पहाड़ की चोटी पर पहुँचकर रुका। इसके बाद नूह के जहाज में रहे जोड़ों से सृष्टि फैली।”

अवेस्ता की प्रथम पुस्तक (वेन्दिदाद) के प्रथम फर्गद में कहा है :—“अहुर्मज्द ने सर्वप्रथम 'ऐर्यन वेइजो' देश बनाया। यह दैत्य (अरक्सीज) नदी के तट पर था। अंग्रमैन्यु ने वहाँ दस महीने की सर्दी और दो महीने की गर्मी उत्पन्न की दी। यह गरमी भी जीवों और पौधों के लिए अधिक ठंडी ही थी : अतः अहुर्मज्द के आदेशानुसार यिम को बाड़े में जाना पड़ा।”

इस प्रकार की या इन से मिलती हुई कथाएँ मिश्र, यूनान, बैबिलोन, उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी एशिया, उत्तरी ऐफ्रिका, आदि में मिलती हैं। ऋग्वेद में इस महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख न मिलने से संभव है यह उसके संकलन के बाद हुई हो।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, नदियां,

109

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में की दान-स्तुतियों में भी कुछ राजाओं के नाम मिलते हैं। जैसे पृथुश्रवा^१, स्वनयभाव्य, ऋणञ्चय, श्रुतरथ, पाकस्थामा, कुरुङ्ग, चित्र, वरो सुषामन्, इन्द्रोत, श्रुतर्वुन् आदि।^२ इसी प्रकार ऋग्वेद में कौरव्य ऋषिषेण के पुत्र देवापि और शन्तनु के नाम भी मिलते हैं।^३ यह देवापि अपने छोटे भाई शन्तनु को राज्य देकर स्वयं उसका पुरोहित बन गया था। ऋग्वेद में एक स्थान पर इक्ष्वाकु^४ के नाम का उल्लेख भी है। इसके वंश का इतिहास रामायण में मिलता है। कालान्तर में इन ऋग्वेदोक्त जातियों में कालावस्था और देश-भेद के प्रभाव से अनेक परिवर्तन और परिमिश्रण होते रहे हैं।^५ ऋग्वेद में राजा वेन

यद्यपि प्रलय की उपर्युक्त कथाओं में से प्रथम में उसका कारण बाढ़, दूसरी में वर्षा और तीसरी में हिम कहा है; तथापि श्री तिलक, पाणिनि के मतानुसार जलप्लावनसूचक 'प्रलय' शब्द से ही हिमवाची 'प्रालेय' शब्द की उत्पत्ति मानकर हिन्दुओं और पारसियों की कथाओं को एक ही घटना की बोधक मानते हैं।

परन्तु यदि 'ऐर्यन वेइजो' ध्रुव प्रदेश में था, तो वहाँ पर कोई उत्तर गिरि नहीं मिल सकता।

श्री अविनाशचन्द्र दास का अनुमान है कि भूकम्प के कारण जब राजपूताना समुद्र का तल ऊपर उठा, तब उसके जल के पृथ्वी पर फैलने से सप्तसिन्धु में बाढ़ आई होगी, और इसी जल से उठी भाप 'ऐर्यनवेइजो' की ठंडी हवा के स्पर्श से हिम के रूप में, तथा बैबिलोन में चालीस दिन की घोर वृष्टि के रूप में गिरी होगी।

कुछ ग्रन्थों में मनु का आश्रम सरस्वती के तट पर लिखा होने से मनु ने दक्षिण से ही नाव द्वारा यात्रा कर उत्तरगिरि (हिमालय) पर आश्रय प्राप्त किया था।

१. मं. ८, सू. ४६, ऋ. २१.

२. भारतीय अनुशीलन, पृ. ३४-४२.

३. मं. १०, सू. ९८, ऋ. १ और ५-८.

४. मं. १०, सू. ६०, ऋ. ४.

५. विद्वानों का अनुमान है कि ऋग्वेद के कहे ये वर्ग या जातियाँ जिस समय दूर तक फैल गईं, उस समय स्थान, अवस्था और व्यवस्था के परिवर्तन से इनके नाम भी बदल गये। शुक्लयजुर्वेद में कुरुओं का उल्लेख है। अथर्ववेद में गान्धार वर्ग, मंजुद्वर्ग, मगधवर्ग और अङ्गवर्ग भी प्राचीन वर्गों में माने गये हैं। इससे अनुमान होता है कि अथर्व वेद की रचना के पूर्व ही आर्य लोग गङ्गा के किनारे बस गये थे। वेदों में पाञ्चालों का उल्लेख नहीं है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में

और नहुष के वंशजों^१ का, राजा राम^२ का, और राजा कुरुश्रवण^३ का नाम भी मिलता है ।

देशों में सप्तसिन्धु के अतिरिक्त गन्धारि^४ (कन्धार) और कीकट^५ के नाम ऋग्वेद में मिलते हैं। कीकट, विपाशा और शुतुद्री के पास का कोई अनार्य-निवास अनुमान किया जाता है। यहां पर गायें अधिक होती थीं। उक्त संहिता में चेदि-राज कशु के दान की प्रशंसा भी मिलती है।^६ परन्तु यहां पर 'चेदि' शब्द का जाति वाचक होना ही अधिक संभव प्रतीत होता है।^७

इस सप्तसिन्धु के पश्चिम, पश्चिमोत्तर और उत्तर में पर्वत मालाएं थीं। ऋग्वेद में हिमालय का उल्लेख मिलता है।^८ परन्तु उस समय के शीतल जल-वायु के कारण उसके नीचे के भागों के भी हिम से आच्छादित रहने से उसके ऊंचे शिखर अगम्य थे। इसी से उनका वर्णन नहीं मिलता है। पूर्वी समुद्र के कारण

कुरु और पाञ्चाल प्रधान वर्ग माने जाते थे। उन में ऋग्वेद में मिलने वाले पुरु, आदि पांच वंशों का उल्लेख नहीं है। संभव है उस समय तक भरत, पुरु और तृत्सु भी कुरु वर्ग में मिल गये हों। ब्राह्मण ग्रन्थों में क्रिवि और तुर्वशों को पाञ्चालों में माना है। तुर्वशों के मित्र होने के कारण यदुओं का पाञ्चालों में मिलना अनुमान किया जाता है। परन्तु पुराणों में यदुवंश का एक भिन्न वंश माना है। विद्वानों का यह भी अनुमान है कि पांच वर्गों के मेल से बनने के कारण ही यह वर्ग पाञ्चाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा।

१. मं. ९, सू. ८५, ऋ. १०; मं. ९, सू. ९१, ऋ. २.

२. मं. १०, सू. ९३, ऋ. १४.

३. मं. १०, सू. ३३, ऋ. ४.

४. मं. १, सू. १२६, ऋ. ७.

५. मं. ३, सू. ५३, ऋ. १४.

६. मं. ८, सू. ५, ऋ. ३७ और ३९.

७. यदि 'चेदि' शब्द को देशवाची माना जाय तो यह आजकल के चेदि (चंदेली मालवे) से भिन्न था, जिस की स्थिति का पता लगाना कठिन कार्य है।

८. मं. ८, सू. ७, ऋ. २९ में का 'ऋजीका' भी शायद किसी देश का नाम हो।

८. मं. १०, सू. १२१, ऋ. ४.

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, नदियां...

111

पूर्व की ओर बढ़ना भी असंभव था। हाँ, आर्य मूजवत—पर्वत^१ (जहाँ सोम उगता था), काश्मीर की घाटी और हिमालय की श्रेणी से परिचित थे। ऋग्वेद में सप्तसिन्धु के पर्वतों का सुन्दर वर्णन मिलता है।^२ उस समय इन पर्वतों पर भी आर्य राजाओं के राज्य और आर्य बस्तियाँ थीं। ये राजा यज्ञ-यागादिक भी करते थे। उसमें शर्याणावत्^३ का भी उल्लेख है। कुछ विद्वान् इसे भी पर्वत का नाम ही मानते हैं।

सप्तसिन्धु की अनेक^४ नदियों में से उन सात मुख्य नदियों को, जिनके कारण इस देश का यह नामकरण हुआ था, निश्चित रूप से छांट लेना असंभव-सा ही है। आगे ऋग्वेद में उल्लिखित नदियों का कुछ परिचय दिया जाता है।

सिन्धु—यह नदी^५ हिमालय के उत्तरी ढाल पर स्थित कैलाश पर्वत के पश्चिम से निकलकर पहले पश्चिम की तरफ काराकोरम और हिमालय के संकरे और करीब दस हजार फीट गहरे मार्ग से बहती है। इसके बाद यह एक तंग मार्ग से हिन्दूकुश पर्वत को पार कर दक्षिणाभिमुखी हो जाती है, और काश्मीर की

१. मं. १०; सू. ३४, ऋ. १। कुछ विद्वान् काबुल नदी के दक्षिणी तट पर बसने वालों का मूजवन्त के नाम से उल्लेख करते हैं। अतः उनके मतानुसार यह पर्वत वहीं होना चाहिए। उस समय अफगानिस्तान पर भी आर्यों का अधिकार था।

अथर्व वेद में हिमालय के दो अन्य शिखरों—‘त्रिकूट’ और ‘नावपन्न’ श—के नाम भी मिलते हैं। त्रिकूट असिक्नी (चिनाब) नदी के पास था और दूसरे का यह नाम जलोपप्लव के समय मनु की नौका के वहाँ पर आश्रय लेने के कारण होना अनुमान किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इस स्थान का नाम ‘मनोरव-सर्पण’ और पुराणों में ‘नौकाबन्धन’ बतलाया है।

२. मं. १०, सू. १४, ऋ. १२; मं. ७, सू. ३५, ऋ. ३ और ८; तथा मं. १, सू. ५६, ऋ. २.

३. मं. ८, सू. ६, ऋ. ३९ और मं. ९, सू. ११३, ऋ. १। कुछ लोग इसे कुरुक्षेत्र के पास का एक तालाब समझते हैं ?

४. मं. १०, सू. ७५ (नदी सूक्त)।

५. अवेस्ता में सिन्धु (नदी) को हिन्दु कहा है। इसी से आर्य हिन्दू कहा-लाये और उनका देश आर्यावर्त हिन्दुस्थान कहाया। कालान्तर में इसी सिन्धु के कारण ग्रीक लोगों ने इसका नाम इण्डोस रख दिया और आगे चलकर इसी इण्डोस से यह इण्डिया कहाया।

घाटी के पश्चिम में अटक के पास इसमें काबुल नदी आ मिलती है।^१ यह सिन्धु नदी ही आर्यावर्त का मेरुदण्ड थी। इसी से ऋग्वेद में इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है। नदी सूक्त के एक मन्त्र में इसे अच्छे घोड़ों वाली, अच्छे रथों वाली, अच्छे वस्त्रों वाली, और ऊन वाली कहा है।^२ इससे इसके तट पर इन वस्तुओं का तैयार किया जाना प्रकट होता है।

ऋग्वेद में सिन्धु के पूर्व की नदियों के नाम, जिन में कुछ उसकी सहायक नदियाँ थीं, और कुछ पास के समुद्र में गिरती थीं, इस प्रकार दिये हैं।^३

गङ्गा—यह पूर्व में सब नदियों से पीछे थी। उस समय यह थोड़ी दूर तक बहकर समुद्र में गिरने वाली एक साधारण नदी थी।^४ यह जिस समुद्र में गिरती थी, वह इसके कठौते पर ही लहराता था। उस समय आर्यों का गङ्गा से विशेष परिचय न होने के कारण स्पष्ट रूप से इस का पश्चिम एक ही मन्त्र में मिलता है।^५

यमुना—यह^६ गङ्गा के पश्चिम में थी, और थोड़ी दूर प्रवाहित होकर ही-उपर्युक्त समुद्र में गिर जाती थी।

१. Historian's History of the World, vol. II

२. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ८.

३. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५। इस मन्त्र में गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाव), मरुद्घा, वितस्ता (शेलेम), आर्जिकीया, और सुषोमा (सोहन) के नाम दिये हैं।

४. यद्यपि ऋग्वेद में गङ्गा और यमुना का नाम सिन्धु, और उसकी सहायक नदियों और सरस्वती के साथ मिलता है (मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५), तथापि यह सप्तसिन्धु की सात नदियों से भिन्न थी। वैदिक काल के बाद सरस्वती का महत्त्व नष्ट हो जाने पर ही गङ्गा का महत्त्व बढ़ा था। पुराणों में कहा गया भागीरथ द्वारा गङ्गा का लाना भी इसके महत्त्व का पीछे से बढ़ना प्रकट करता है। ऋग्वेद में सिन्धु और सरस्वती के सूक्तों के समान गङ्गा और यमुना के लिए अलग सूक्त या मन्त्र नहीं मिलते। ये पूर्वी समुद्र के पास छोटी और गौण नदियाँ थीं। इसी से उस समय इन के तटों पर आर्यों की बस्तियाँ नहीं बसी थीं।

५. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५। ऋग्वेद के मं. ६, सू. ४५, ऋ. ३१ में 'गांग्यः' शब्द आया है। यह गङ्गा तट वासी पुरुष का बोधक है। मं. ३, सू. ५८, ऋ. ६ में 'जान्हवी' शब्द आया है।

६. यद्यपि ऋग्वेद के समय यमुना भी पूर्व की एक छोटी गौण नदी थी, तथापि इसके किनारे आर्यों की गायों को अच्छा घास मिलता था। इसी से इन

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, नदियां,

113

दृषद्वती—यह सरस्वती की सहायक नदी थी, और यमुना के पश्चिम में बहती भी। ऋग्वेद में^१ दृषद्वती, आपया और सरस्वती को भरतों की यज्ञस्थली कहा है।

सरस्वती—यह नदी^२ दृषद्वती के पश्चिम में थी। ऋग्वेद^३ में इसका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, और उसमें इसके संबंध के अनेक (३५ से अधिक) मन्त्र मिलते हैं। ऋषि लोग इसके तट पर बराबर यज्ञ करते रहते थे। मनु ने इसे देव-नदी कहा है। यह राजस्थान समुद्र में गिरती थी। आजकल जो महत्त्व गङ्गा को प्राप्त है, वही ऋग्वेद काल में सरस्वती को प्राप्त था।^४ परन्तु पिछले समय में प्राकृतिक कारणों से इस का प्रवाह कम हो जाने से यह मरुभूमि में लुप्त हो गई।^५

गायों के दूध की प्रशंसा की गई है। मं. ५, सू. ५२, ऋ. १७; मं. ७, सू. १८, ऋ. १९; मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५., ऋग्वेद के एक मन्त्र (मं. ८, सू. ९५, ऋ. १४) में अंशुमती नदी का नाम आया है। इसके तट पर कृष्ण नामक असुर रहता था जिसे इन्द्र ने मारा था (मं. ८, सू. ९५ ऋ. १५)।

१. मं. ३, सू. २३, ऋ. ४। लाट्यायन श्रौत सूत्र से दृषद्वती का बरसाती नदी होना प्रकट होता है (१७।१२)। मनुस्मृति में दृषद्वती और सरस्वती को देवनदी कहा है (अ. २, श्लो. ७) दृषद्वती शायद आजकल 'घग्घर' या 'चित्तुंग' कहाती है, और एक साधारण नदी है। यह घग्घर वर्ष के अधिकांश भाग में सूखी रहती है। ऋग्वेद में दृषद्वती और सरस्वती के साथ आपया नदी का भी उल्लेख किया गया है (मं. ३, सू. २३, ऋ. ४)। संभवतः यह (आपया) मार्कण्ड या चित्तुंग नदी होगी, जो सिरमूर की नीचे की पहाड़ियों से निकलती हैं। वर्षा में इन की धारायें बहुत तेज रहती हैं, और अन्य ऋतुओं में करीब-करीब सूख जाती हैं। दृषद्वती का भी यहीं से निकलना अनुमान किया जाता है। इसका दूसरा नाम 'अश्मन्वती' भी मिलता है (मं. १०, सू. ५३, ऋ. ८)।

२. मं. ७, सू. ९५, ऋ. २.

३. मं. २, सू. ४१, ऋ. १६.

४. मं. २, सू. ४१, ऋ. १६.

५. ताण्ड्य ब्राह्मण में इसके लुप्त होने के स्थान का नाम 'विनशन' (२५। १०।१६) और जैमिनीय ब्राह्मण में इसके फिर से ऊपर आकर प्रवाहित होने के स्थान का नाम 'प्लक्ष प्रास्रवण' (४।२६।१२) मिलने से इसके प्रवाह का ब्राह्मण काल में कम हो जाना अनुमान किया जाता है।

कुछ विद्वान् सरस्वती का सिरमूर की नीचे की पहाड़ियों से निकलना और

शुतुद्री—इसे आजकल सतलज कहते हैं।^१ इसका स्थान सरस्वती के पश्चिम में था। यह विपाशा से निकलकर राजस्थान समुद्र में गिरती थी।^२ इसका दूसरा नाम शतद्रु भी मिलता है।

विपाशा—यह^३ व्यास के नाम से प्रसिद्ध है। यह शुतुद्री (सतलज) के पश्चिम में बहती थी, और उसके साथ मिलकर राजस्थान-समुद्र में प्रविष्ट होती थी।

परुष्णी—इसे^४ रावी कहते हैं। इसका दूसरा नाम इरावती भी मिलता है। यह विपाशा (व्यास) के पश्चिम की नदी है। इसी के तट पर ऋग्वेदोक्त दाशराज्ञ युद्ध हुआ था। यह मरुद्वधा में मिलती थी।

असिकनी—इसे^५ चिनाब कहते हैं। इस का दूसरा नाम चन्द्रभागा^६ मिलता है। यह रावी के पश्चिम की नदी है, और झेलम के साथ जाकर सिन्धु नदी में मिलती थी।

मरुद्वधा—डा. स्टाइन इसका आधुनिक नाम मरुवर्दवान्^७ मानते हैं, और कुछ विद्वान् इसे असिकनी (चिनाब) और वितस्ता (झेलम) के नीचे के मिले हुए भाग का नाम बतलाते हैं। पहले मत के अनुसार यह चिनाब के पश्चिम में बहती थी, और उसके साथ मिलकर सिन्धु नदी में प्रवेश करती थी।

वितस्ता—इसे झेलम कहते हैं। काश्मीर की राजधानी श्रीनगर इसी 'व्यथ' के दोनों तटों पर बसा^८ हुआ है। यह भी सिन्धु में मिलती थी।

वर्षा के अतिरिक्त वर्ष के अन्य भाग में सूख जाना मानते हैं; तथा कुछ उसे पटियाले की सुरसुति अनुमान करते हैं। प्रयाग की काल्पनिक सरस्वती से इस का कोई संबन्ध सिद्ध नहीं होता।

१. मं. ३, सू. ३३, ऋ. १; मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५।

२. मं. ३, सू. ३३, ऋ. २-३ में व्यास और सतलज का पर्वत से निकल कर समुद्र की ओर जाना कहा है।

३. मं. ३, सू. ३३, ऋ. १-३; और मं. ४, सू. ३०, ऋ. ११।

४. मं. ५, सू. ५२, ऋ. ९; और मं. ७, सू. १८, ऋ. ५, ८ और ९।

५. मं. ८, सू. २८, ऋ. २५; मं. ५, सू. ५३, ऋ. ९।

६. निरुक्त ९, २६।

७. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५।

८. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु, उसके चारों ओर के चार समुद्र, नदियां

115

आर्जकीया—यास्क इसे विपाश (व्यास) का ही दूसरा नाम मानता है ।^१ परन्तु ऐसा मानने से ऋग्वेद के उक्त मन्त्र में दिया क्रम भङ्ग हो जाता है । वास्तव में यह झेलम के पश्चिम की कोई नदी थी । इस का सुषोमा (सोहन) के साथ होकर सिन्धु में मिलना माना जाता है ।

सुषोमा—यास्क^२ इसे सिन्धु का अपर नाम बतलाते हैं । परन्तु यह अटक प्रदेश की सोहन नदी समझी जाती है, जो आर्जकीया को साथ लेकर सिन्धु नदी में मिलती थी ।

इस प्रकार सप्तसिन्धु की सात मुख्य नदियाँ ये प्रतीत होती हैं—(१) सिन्धु, (२) सरस्वती, (३) शुतुद्रि (शतद्रु-सतलज), (४) विपाश (व्यास) (५) परुष्णी (इरावती-रावी) (६) असिक्नी (चिनाव), और (७) वितस्ता (झेलम) ।

ऋग्वेद में सिन्धु के पश्चिम की नदियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं ।^३

तृष्टामा—यह लद्दाख (काश्मीर) में की 'जासकार' नदी मानी जाती है । यह सिन्धु की प्रथम सहायक नदी है ।^४

सुसर्तु—यह^५ आजकल की सुर नदी है, जो 'जासकार' के बाद ही सिन्धु में मिलती है ।

रसा—इस^६ का काश्मीर की 'शेवक' नाम की नदी होना माना जाता है ।

१. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५. निरुक्त ९.२६ । शुतुद्रि (सतलज) और परुष्णी (रावी) के बीच एक लुप्त हुई नदी के चिह्न इस समय भी मिलते हैं । यह विपाश (व्यास) की शाखा थी और उस स्थान के नीचे जाकर समुद्र में मिलती थी, जहाँ आजकल शुतुद्रि (सतलज) मरुद्वीप में मिलती है । परन्तु आजकल ये नदियाँ सिन्धु नदी में गिरती हैं ।

राजस्थान-समुद्र के सूखने के समय की उथल-पुथल के कारण शुतुद्रि (सतलज) के मार्ग में रुकावट उत्पन्न हो जाने से यह पश्चिम की ओर मुड़ कर मरुद्वीप (चिनाव और झेलम के नीचे के मिले हुए भाग) में जा मिली है ।

२. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५.

३. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६.

४. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ५ । कुछ लोग तृष्टामा को चित्राल के पञ्चकोर प्रदेश में तीन शाखाओं में बहने वाली नदी मानते हैं ।

५. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६.

६. मं. १, सू. ११२, ऋ. १२; मं. ५, सू. ५३, ऋ. ९, और मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६ ।

यह सिन्धु की तीसरी सहायक नदी है। कुछ लोग रसा से 'रंहा' नदी का तात्पर्य लेते हैं। इस (रसा) नदी को पार कर के ही इन्द्र की भेजी हुई शुनी सरमा पणियों के पास^१ गई थी।

श्वेती—इसे^२ काश्मीर की 'गिलगत' नदी अनुमान किया जाता है। यह सिन्धु की चौथी सहायक नदी है। कोई इसे डेरा इस्माइलखा की अर्जुनी नदी मानते हैं।

कुभा—यह आजकल की काबुल नदी है, जो हिन्दुकुश के दक्षिण से आकर सिन्धु में मिलती है।^३

मेहलू—यह^४ संभवतः आजकल की 'सवान' नदी है। यह गोमती और कुमु नामक नदियों से पूर्व ही सिन्धु में मिलती है।

गोमती—यह^५ अफगानिस्तान की गोमल नदी है। यह डेरा इस्माइलखा और पहाड़पुर के बीच सिन्धु में मिलती है। राजा रथवीति इसी के तट पर रहता था।

कुमु—यह^६ आधुनिक कुर्रम नदी है, जो सिन्धु में मिलती है।

ऋग्वेद में इनके अतिरिक्त कुछ और नदियों के नाम भी मिलते हैं।

सुवास्तु—यह^७ अफगानिस्तान की स्वात नदी है। यह कुभा (काबुल) नदी में मिलकर सिन्धु में गिरती है।

आपया—इस^८ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह सरस्वती की सहायक नदी थी।

१. मं. १०, सू. १०८, ऋ. १-२.

२. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६.

३. ऋग्वेद के मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६ और मं. ५, सू. ५३, ऋ. ९ में भी रसा, अनतिभा, सिन्धु और सरयू के साथ कुभा का उल्लेख मिलता है। उस समय अफगानिस्तान और कन्धार भी आर्य-निवास थे। कन्धार की भेड़ों की ऊन बहुत अच्छी होती थी (मं. १, सू. १२६, ऋ. ७)।

४. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६.

५. मं. ५, सू. ६१ ऋ. १९; मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६ यह लखनऊ-जौनपुर होती हुई काशी के पास गङ्गा में गिरने वाली गोमती से भिन्न थी।

६. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ६.

७. 'सुवास्तु अधितुग्वनि' (निरुक्त ४।२।७)।

८. मं. ३, सू. २३, ऋ. ४। कुछ विद्वान् इसे अस्थिपुर के पास की कुरुक्षेत्र की एक बरसाती नदी मानते हैं।

अनतिभा—यह^१ सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी थी ।

यव्यावती—^२यह पंजाब की कोई नदी थी ।

विबाली—इसका^३ पता नहीं चलता है ।

शिक्षा—इसकी धारा में^४ कुवय नामक असुर की दोनों पत्नियों के वध की प्रार्थना है । कहीं इसका नाम शिक्षा भी मिलता है ।

हरियूपीया—(हरियूपा) इन्द्र का इसके तट पर वृचीवान् के पुत्रों को मारना कहा है ।^५ इसी के अगले मन्त्र में इस घटना का यव्यावती के तट पर होना बतलाया है । अतः संभव है यव्यावती और हरियूपीया एक ही नदी के दो नाम हों ।

विद्वान् लोग ऋग्वेद में इन नदियों के नामों का मिलना भी मानते हैं :—
श्वेतयावरी,^६ अञ्जसी, कुलिशी, वीरपत्नी,^७ सरयु^८ और अदीना^९ । परन्तु अब इन नदियों का पहचानना कठिन है । कुछ लोग श्वेतयावरी या श्वेती से, सिन्धु की सहायक नदी 'स्वात' का तात्पर्य लेते हैं । अन्य नामों को कुछ विद्वान् पंजाब के कुछ बड़े-बड़े नालों के नाम होना मानते हैं, जो आजकल महत्त्वहीन हो चुके हैं, या फिर उन्हें बैक्ट्रिया की कुछ नदियों के नाम मानते हैं ।^{१०}

ऋग्वेद के नदी सूक्त के पहले मन्त्र में^{११} (कुछ नदियों को, आपस में मिली होने के कारण एक मानकर) लिखा है कि—नदियां सात-सात करके तीन प्रकार

१. मं. ५, सू. ५३, ऋ. ९.

२. मं. ६ सू. २७, ऋ. ६.

३. मं. ४, सू. ३०, ऋ. १२.

४. मं. १, सू. १०४, ऋ. ३.

५. मं. ६, सू. २७, ऋ. ५-६, [कुछ विद्वान् इसे हिरात (अफगानिस्तान) की हरिरुद् नदी मानते हैं] ।

६. मं. ८, सू. २६, ऋ. १८.

७. मं. १, सू. १०४, ऋ. ३.

८. मं. ४, सू. ३०, ऋ. १८; मं. ५, सू. ५३, ऋ. ९; और मं. १० सू. ६४, ऋ. ९ । इस सूक्त के ८वें और ९वें मन्त्र में २१ नदियों का उल्लेख किया गया है । यह 'सरयु' आजकल की कोशल की सरयु से भिन्न नदी थी । कुछ लोग इसका संबंध 'हरिरुद्नदी' से मानते हैं ।

९. मं. ७, सू. १८, ऋ. ८.

१०. Rigvedic India P. 72.

११. मं. १०, सू. ७५, ऋ. १.

(द्यु, आकाश और पृथ्वी) से चलीं। इससे सिन्धु की नदियों के तीन सप्तक (सात-सात के विभाग) होना सूचित होता है।

इसी सूक्त में आगे^१ ऋजिती, एनी, चित्रा, हिरण्मयी, वाजिनीवती, सीलमावती, और ऊर्णावती नाम मिलते हैं। कुछ विद्वान् इनको अलग नदियां मानते हैं। परन्तु कुछ विद्वान् इन्हें सिन्धु नदी के ही विशेषण समझते हैं। उनके मतानुसार सिन्धु के रेतों में सोना मिलने से वह 'हिरण्मयी' कहलाई, उस के तट पर अच्छे घोड़े होने से वह वाजिनीवती हुई, और उसके पास के प्रदेश में भेड़ों की अधिकता से वह ऊर्णावती के नाम से संबोधित की गई।

इस प्रकार ऋग्वेद के नदी सूक्त में सिन्धु नदी की बड़ी प्रशंसा की गई है, और उसी के अनुसार आज भी यह एक विशाल और महत्त्वशालिनी नदी के रूप में विद्यमान है। इसके किनारे अच्छी खेती की जाती है। व्यापारिक वस्तुएँ तैयार होती हैं, और अच्छे घोड़े उत्पन्न होते हैं। यहां का वना कपड़ा, पहले समय में, बैबिलोनिया और असीरिया तक जाता था। इसी से बैबिलोनिया वाले इस प्रदेश की मलमल को सिन्धु कहते थे।^२ पंजाब और काश्मीर आज की तरह उस समय भी बढ़िया ऊनी कपड़े के लिए प्रसिद्ध थे।

उस समय के आर्यों के लिए जिस प्रकार सिन्धु नदी उद्योग और कर्म में प्रेरक थी, उसी प्रकार सरस्वती नदी आचार और धर्म में प्रेरक थी। सरस्वती के तीर पर ही तप, यज्ञ, आत्मा और परमात्मा का चिन्तन हुआ करते थे। इस प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का साधन एक साथ करते रहने के कारण आर्य लोग संपन्न और सुखी थे।

ऋग्वेद में^३ सरस्वती की भी बहुत प्रशंसा मिलती है। इससे प्रकट होता है कि उस समय सरस्वती एक विशाल और महत्त्वशालिनी नदी थी। यह हिमालय से निकलकर दक्षिणी समुद्र में गिरती थी। इसका जल स्वच्छ और स्वादु था। इसके तटों पर भी बड़ी खेती होती थी। इसके तट पर सदा बड़े-बड़े यज्ञादिक होते रहते थे। यहीं पर अधिकांश सूक्तों की रचना होना माना जाता है। यहीं पर विशेष रूप से ज्ञान की वृद्धि होने से विद्या की अधिष्ठात्री देवी का नाम भी सरस्वती रखा गया। उस समय इसके उद्गम स्थान के आसपास की हिम गलते रहने

१. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ७-८.

२. Regozin's Vedic India, P. 306.

३. मं. १, सू. ३, ऋ. १०-१२; म. ६ सू. ६१; मं. ७, सू. १५; और मं. १०, सू. ६४, ऋ. ९.

से इसमें बराबर वर्षभर पानी बहा करता था। उस समय सप्तसिन्धु के जल-वायु के ठण्डे रहने के प्रमाण मिलते हैं। भूगर्भशास्त्रियों का अनुमान है कि उस समय हिमालय पर्वतश्रेणी के निचले भाग भी बर्फ से ढके रहते थे। परन्तु कालान्तर में सप्तसिन्धु के चारों ओर के समुद्रों के सूख जाने से हिमालय के उन नीचे के भागों की हिम-राशि के गल जाने के साथ-साथ उक्त प्रदेश की वर्षा में भी कमी आ गई। इसी से सरस्वती का प्रवाह सूख गया और उस की यह शोचनीय दशा हुई। ऋग्वेद में मिलने वाली सरस्वती नदी की स्तुतियों के रचयिता कवियों ने उन में अपने पूर्वजों का भी उस (सरस्वती) की स्तुति करना प्रकट किया है।^१ इससे वहां पर प्राचीन काल से ही आर्यों का निवास रहना सिद्ध होता है।

इन्हीं उपर्युक्त नदियों की लाई हुई मिट्टी के जमने से बने और इन नदियों से सींचे जाने वाले सप्तसिन्धु के मैदान बड़े उपजाऊ थे। इन में जौ और चावल अधिकता से उत्पन्न होते थे, और आर्यों के घरेलू पशुओं के लिए घास की भी प्रचुरता थी। उस समय ये पशु ही आर्यों के मुख्य धन थे। परन्तु सप्तसिन्धु के दक्षिण की तरफ कुछ रेगिस्तान भी था, जो राजस्थान-समुद्र के तट से उड़कर आये रेत से बना था। सप्त सिन्धु के पश्चिम, पश्चिम-उत्तर और उत्तर में पर्वत-मालायें थीं। इन का वर्णन पहले किया जा चुका है।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पंजाब में प्रातःकालीन उषा का दृश्य अति सुन्दर दिखाई देने से उषा से संबन्ध रखने वाले सूक्तों की रचना यहीं की गई होगी। परन्तु मेघों का गर्जन, बिजली की कड़क, मूसलाधार वृष्टि और पर्वतीय दृश्य पंजाब के न होकर ब्रह्मावर्त के हैं। अतः इन्द्र आदि से संबन्ध रखने वाला ऋग्वेद का अधिकांश भाग वहीं पर रचा गया होगा। ब्रह्मावर्त देश का सरस्वती, दृषद्वती और आपया से सींचा जाना लिखा है।^२

लोकमान्य श्री बालगङ्गाधर तिलक ने अपनी पुस्तक^३ में लिखा है कि वैदिक ऋग्वेद में आर्यों साहित्य से वसन्त संपात^४ का समय मृगशिरा नक्षत्र में होना पाया और सप्तसिन्धु का जाता है। ऐसा समय ईसा से ४,५०० वर्ष पूर्व रहा होगा, प्राचीनतम संबन्ध और ऋग्वेद के कुछ मन्त्र उस समय बने होंगे।

तैत्तिरीय ब्राह्मण^५ में लिखा है कि पहले-पहल बृहस्पति का पता, तिष्य नक्षत्र

१. मं. ६, सू. ६१, ऋ. १०.

२. मं. २, सू. २३, ऋ. ४.

३. Orion.

४. Vernal Equinox,

५. ३-४-१-१५.

के सामने आने पर, लगा था। श्री. बी. बी. केतकर गणना करके, इसका समय ईसा से ४६५० वर्ष पूर्व होना बतलाते हैं। इससे भी लोकमान्य तिलक के मत की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विद्वान् यह मानता है कि — ऋग्वेद की ऋचाओं की भाषा बहुत परिमार्जित है। अतः आर्यों को अपनी भाषा को इतना सुसंस्कृत करने में हजारों वर्ष लगे होंगे। इससे आर्यसभ्यता का और भी प्राचीन होना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेदसंहिता एक संग्रह मात्र है। अतः इसके मन्त्र किसी एक समय में न बनकर—भिन्न-भिन्न समयों में बने थे और उनमें हजारों वर्षों का अन्तर रहा होगा। ये मन्त्र उनके रचयिताओं के वंशों में वंशपरम्परा से चले आते थे। ऋग्वेद में आर्यों के प्राचीन कालीन पूर्वजों के समय के मन्त्रों के भावों का उत्तरकालीन ऋषियों द्वारा अपनी भाषा में प्रकट करना कहा है।^१ ऐसी अवस्था में प्राचीन मन्त्रों की रचना का समय ४,५०० वर्ष से भी बहुत पूर्व सिद्ध होता है और इससे आर्य सभ्यता की प्राचीनता और भी बढ़ जाती है। कुछ विद्वान् ऋग्वेद में के वृषाकपि सूक्त^२ के नक्षत्र की स्थिति को ईसा से १६,००० वर्ष पूर्व का और सूर्या के विवाह के मन्त्र^३ को ईसा से १५,००० या १८,००० वर्ष पूर्व का अनुमान करते हैं।^४

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३२वें सूक्त में इन्द्र के प्राचीन पराक्रमों का वर्णन है। उस में इन्द्र का सबसे प्रथम उत्पन्न हुए अहि या वृत्र (बादल) को मारकर गिराना; वर्षा करना, सूर्य, आकाश और उषा को मुक्त करना, तथा सप्तसिन्धु में जल की बाढ़ लाना कहा गया है। इसी सूक्त के पहले मन्त्र में उपर्युक्त कार्यों को इन्द्र के प्रथम कार्य कहा है। अतः ये घटनायें ऋग्वेद के पूर्व काल की होंगी, जिन का ज्ञान वंशपरम्परा से चला आता था।^५ चतुर्थ मण्डल में एक स्थान पर^६ इन्द्र का आर्यों को सप्तसिन्धु में पृथ्वी देना कहा है। श्री अविनाशचन्द्र दास का कहना है कि ये घटनायें उस समय की होंगी, जिस समय आर्यों का ध्यान पहले-पहल इन भौतिक बातों की तरफ गया था।

१. मं. ३, सू. ३९, ऋ. २.

२. मं. १०, सू. ८६.

३. मं. १०, सू. ८५, ऋ. १३.

४. Journal of the Dept. of Science, Calcutta University, VI, PP. 19-20;
Rigvedic Culture, ch. I, PP. 37-38.

५. मं. ३, सू. ३९, ऋ. २.

६. मं. ४, सू. २६, ऋ. २.

आर्यों की आदि-कालीन कल्पना के द्वारा उत्पन्न किये गये इन्द्र के ऐसे महत्त्व के कार्यों के कारण ही, उसे वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था,^१ और साथ ही अपनी बलवृद्धि के लिए, उसे सोम पान करने का मुख्य अधिकारी माना था। इसी से उस (इन्द्र) का जन्मते ही सबसे पूर्व सोम पान करना कहा है।^२

वैदिक साहित्य में सिन्धु और सरस्वती के बीच का देश 'देवकृतयोनि' कहा जाता था। पीछे से मनु ने भी सरस्वती और दृषद्वती के बीच के देश को 'देवनिर्मित देश' कहा है। ऋग्वेद में सरस्वती का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। उसे श्रेष्ठ माता, नदी और देवी माना है, तथा उसी के तीर पर अपने बस सकने की प्रार्थना की गई है।^३ इससे प्रकट होता है कि यही आर्यों की मातृ भूमि थी और इसी से वे इससे इतना प्रेम करते थे। वृत्र का बध सरस्वती के तीर पर होना मानकर ही इसे वृत्रघ्नी (वृत्र को मारने वाली) कहा है।^४ इसे आर्यों को भूमि देने वाली भी माना है।^५ इन बातों से सरस्वती की प्राचीनता सिद्ध होती है। यज्ञाग्नि भी सर्वप्रथम सरस्वती के तट पर ही जलाई गई थी। इससे ऋग्वेद में अग्नि को भी सरस्वती कहा है। भरतों के देश में जलाई जाने के कारण अग्नि भारती भी कहाती है। उसी भरत जाति के संपर्क से इस सारे ही देश का नाम भारतवर्ष हुआ। अग्नि का तीसरा नाम इला भी है। इला वह प्रदेश था, जहां मनु ने तप या यज्ञ किया था। परन्तु बाद में इला को मनु की स्त्री मान लिया गया।^६ यह इला प्रजापति दक्ष की कन्या कही गई है। दक्ष एक प्रदेश का नाम भी था।^७ इला नामक अग्नि सरस्वती, दृषद्वती और आपया के तटों पर रहने वाले आर्यों के घरों में प्रज्वलित हुई थी, और इससे वे आर्य और इलावासी आर्य समृद्धिशाली हुए थे।^८ ये तीनों प्रदेश एक-दूसरे से जुड़े होंगे। इला के नाम का दक्ष प्रजापति की कन्या और मनु की स्त्री तथा अग्नि से संबन्ध इस घटना की प्राचीनता को ही सूचित करता है।

१. मं. २, सू. १६, ऋ. २; मं. ८, सू. ७०, ऋ. ५; और मं. ७, सू. ६, ऋ. ४१.

२. मं. ३, सू. ४८, ऋ. २.

३. मं. ६, सू. ६१, ऋ. १४.

४. मं. ६, सू. ६१, ऋ. ७.

५. मं. ६, सू. ६१, ऋ. ३.

६. मं. १, सू. ३१, ऋ. ११.

७. मं. ३, सू. २३, ऋ. ४.

८. मं. ३, सू. २३, ऋ. ४.

अतः सरस्वती और दृषद्वती के बीच का वह प्रदेश, जिसे मनु ने ब्रह्मावर्त कहा है,^१ प्राचीन और पवित्र स्थान था।^२

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि जल प्रलय के समय मनु की नाव दक्षिण समुद्र के तट से चलकर उत्तरगिरि (हिमालय) पर पहुँची।^३ वहीं पर उसे पर्वत-पुत्री इला मिली। इसके आधार पर श्री ए.सी. दास यहीं पर इला प्रदेश का होना अनुमान करते हैं। यह स्थान सम्भवतः काश्मीर हो; जहाँ सरदी के कारण, वर्ष हिम के नाम से प्रसिद्ध था।^४ ऋग्वेद में मनु के अवतरण-स्थान का उंचा होना लिखा है।^५ अतः उस समय भी काश्मीर की घाटी और सप्तसिन्धु का मैदान आर्यनिवास थे। श्री एडेल्गुंग (Adelung) ने भी काश्मीर को मनुष्य का उत्पत्ति स्थान कहा है।^६

आर्यों के यहाँ सोम-याग की बड़ी प्राचीनता है। यह इन्द्र-पूजन से भी पुराना है। सोम हिमालय या सप्तसिन्धु में ही मिलता था। इससे भी आर्यों का सप्तसिन्धु से प्राचीनतम संबंध सूचित होता है। फिर सोम का इन्द्र से भी बड़ा संबंध है। इससे अन्यत्र के आर्यों से सप्तसिन्धु के आर्यों की विशेषता प्रकट होती है; क्योंकि अन्य स्थान के आर्य या तो इन्द्र में श्रद्धा न होने से या वहाँ पर सोम के न मिलने से सोम-याग को छोड़ चुके थे या इसे न करते थे। ईरान (पर्शिया)

१. मनुस्मृति, अ. २, श्लोक १७.

२. शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि “यहीं से अग्नि को आगे करके विदेघ-माथव और उसके पुरोहित गोतम रहुगण पूर्व की ओर आगे बढ़े थे। सदानीरा नदी पर जाकर अग्नि ठहर गया और उसने विदेघ को उसके पूर्व में बसने की आज्ञा दी। इसके पहले ब्राह्मण उसके पार नहीं जाते थे। यह सदानीरा, कोसल और विदेह की सीमा है” (१।४।१।१०)। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में रहुगणों के रचे अनेक सुक्त (७५-७९) मिलते हैं, उनमें के ७८वें सूक्त के छठे मन्त्र में उन्होंने अपने नाम का उल्लेख भी किया है। शतपथ में इन्हें विदेह-नरेश जनक और याज्ञवल्क्य का समकालीन कहा है (१।१।४।३।२०)। इस कथन से आर्यों का पूर्व की ओर बढ़ना प्रकट होता है।

३. उसी में जल की बाढ़ के समाप्त होने पर मनु की नाव के उतरने के का नाम ‘मनोरवसर्पण’ बतलाया है (१।८।१।६)।

४. मं. २, सू. १, ऋ. ११.

५. मं. १०, सू. ६२, ऋ. ९.

६. Tyaylor's Origin of the Aryans, p. 9.

के आर्यों को इन्द्र में अश्रद्धा थी। ये अग्नि और सूर्य को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। इसी से इन्द्र में श्रद्धा रखने वाले आर्यों से इन का झगड़ा हो गया और आपस की शत्रुता के बढ़ जाने से अनिन्द्र आर्यों को सप्तसिन्धु छोड़कर ईरान की तरफ जाना पड़ा। ये इन्द्र को देव (असुर) कहते हैं। पहले सप्तसिन्धु में रहने के समय ये अन्य आर्य भी सोम का पूजन और सेवन करते थे। यद्यपि यहां से खदेड़े जाने पर इन्होंने हौम (सोम) पूजन छोड़ दिया था, तथापि बाद में, प्राचीनता के पक्षपातियों के सन्तोष के लिए इन्हें उसे फिर से ग्रहण करना पड़ा। परन्तु उसमें कुछ सुधार या परिवर्तन कर दिया गया।^१ नशीले सोम के स्थान में एक दूसरे अनुत्तेजक पौधे का रस काम में लाया जाने लगा। ईरानियों के यहां सोम^२ का स्थान यिम से पूर्व था। ऋग्वेद में भी सप्तसिन्धु के आर्यों के यहां सोमपूजन का पूर्व पितरों के समय से चला आना कहा है।^३ ऋग्वेद का ११४ सूक्तों वाला सारा ही नवां मण्डल सोम से संबन्ध रखता है। सोम रस में दूध और शहद मिला कर इस का पेय बनाया जाता था और यह इन्द्र को अर्पित किया जाता था। सोम हिमालय के मुजवत्^४ नामक शिखर पर, सप्तसिन्धु के मैदान में, सप्तसिन्धु और उसकी सहायक नदियों और सरस्वती के तट पर उत्पन्न होता था।^५ सोम का शर्याणावत् (कुरुक्षेत्र)^६ के पास उत्पन्न होना भी कहा गया है।^७ हिमालय पर का सोम सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।^८ ऋग्वेद में सोम को 'प्रत्नमिन्'^९ यज्ञस्य^{१०} पूर्व्यः^{११} 'यज्ञस्य आत्मा',^{१२} 'दिवः पीयूषं पूर्व्यम्',^{१३} 'इन्द्रस्य पिता',^{१४} और 'पिता देवतानां'^{१५}

१. जरथुश्त ने सोम पूजन में सुधार करके ही इसे अपनाया था।
२. यूरोप की भाषाओं में सोम शब्द का कोई रूप नहीं मिलता।
३. मं. १, सू. ९१, ऋ. १.
४. इसी से सोम मौजवत् भी कहलाता था (मं. १०, सू. ३४, ऋ. १) (महाभारत, प. १४-८-१)।

५. मं. ९, सू. ६१, ऋ. ७; और मं. ९, सू. ६५, ऋ. २३।
६. इसके आधुनिक कुरुक्षेत्र होने में सन्देह है।
७. मं. ९, सू. ६५, ऋ. २२; और मं. ९, सू. ११३, ऋ. १.
८. मं. ९, सू. ८२, ऋ. ३.
९. मं. ९, सू. ४२, ऋ. ४.
१०. मं. ९, सू. २, ऋ. १०.
११. मं. ९, सू. २, ऋ. १०; और मं. ९, सू. ६, ऋ. ८.
१२. मं. ९, सू. ११०, ऋ. ८.
१३. मं. ९, सू. १६, ऋ. ५.
१४. मं. ९, सू. ८६, ऋ. १०.

कहा है। इससे सोम की, सोम उत्पन्न करने वाले सप्तसिन्धु की और सोम का प्रयोग करने वाले आर्यों की प्राचीनता सिद्ध होती है। ऋग्वेद में एक स्थान पर अपने पूर्वज वसिष्ठ का सोम-याग करना कहा है।^१ दूसरे स्थान पर अपने पूर्वज अङ्गिरसों, अथर्वणों और भृगुओं का अपने साथ सोम-पान करना प्रकट किया है।^२ इन्हीं पूर्वजों ने अग्नि को उत्पन्न कर यज्ञ और सोमपान की प्रथा प्रचलित की थी।^३

श्री रैगोजिन ने अपनी पुस्तक में लिखा है :^४

‘सोम काश्मीर में की हिमालय की ऊंची भूमि में उगता था। ऋग्वेद संहिता के संकलन के पूर्व से ही आर्य वहां रहते थे। यहीं से सोमपूजन की प्रथा चली होगी। जब आर्यों के दल आगे बढ़कर फैल गए, तब भी सोम वहीं से आता था। इसके लाने वाले पर्वतवासी अनार्य थे। अतः वे सोम को एक साधारण व्यापारिक वस्तु समझते थे और इसका मोल-तोल करने में भी नहीं हिचकते थे। इसी से ये सोम-विक्रेता नीच माने जाते थे। सोम के मूल्य में गायें दी जाती थीं, और वैदिक आर्य इसे एक पूज्य वस्तु समझते थे।’

श्री मुइर (Muir) का कथन^५ है कि किसी भी संस्कृत के ग्रन्थ में आर्यों के बाहर से आकर सप्तसिन्धु में बसने का उल्लेख न मिलने से स्वतः सिद्ध होता है कि आर्य सप्तसिन्धु के ही मूल निवासी थे। परन्तु लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक आर्यों का मूल निवास उत्तरी ध्रुव प्रदेश के आसपास रहना मानते हैं। इस विषय में और इसके काल के विषय में आगे विचार किया जायगा।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में सप्तसिन्धु के चारों ओर के चार समुद्रों का उल्लेख होने से इस संबन्ध की प्राचीनता और भी बढ़ जाती है।^६

अति प्राचीन काल में मनुष्य को अपनी जीविका की खोज में बहुधा इधर

१. मं. १०, सू. १५, ऋ. ८.

२. मं. १०, सू. १४, ऋ. ६.

३. मं. १, सू. ३१, ऋ. १; मं. १, सू. ७१, ऋ. ३; मं. १०, सू. २१, ऋ. ५; और मं. १०, सू. ९२, ऋ. १०।

४. Vedic India, p.p. 170-171.

५. Original Sanskrit texts, vol. II, (1871) p. 322.
 ऋ. ५ और मं. १०, सू. ९२, ऋ. १०.

६. मं. १०, सू. १३६, ऋ. ५; मं. ९, सू. ३३, ऋ. ६; और मं. १०, सू. ४७, ऋ. २.

उधर घूमते रहना पड़ता था। ऐसी अवस्था में आर्यों के मूल निवास-स्थान के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कह देना अनुचित ही होगा।
 आर्यों का आदि अतः संभव है कि ये उत्तरी ध्रुव के, उत्तरी यूरोप के, मध्य
 निवास-स्थान एशिया के, मध्य अफ्रिका के, सप्तसिन्धु देश के, या फिर
 किसी विलुप्त महाद्वीप के ही निवासी हों।

आदिम अवस्था में मनुष्य अपना गुजारा कन्द, मूल या फलों पर ही करता था। इसके बाद वह पशु-पक्षियों का शिकार करने लगा। इसके लिए उसे लकड़ी और पत्थर के हथियार बनाने पड़े। कालान्तर में उसने अपने आयुधों में और भी सुधार किया और पशु-पक्षियों को जाल में फँसाना भी जान लिया। इसके बाद वह आवश्यकता के समय काम में लाने के लिए जाल में फँसाये हुए पशु-पक्षियों को पालने लगा, और इन्हीं की सहायता से कुछ समय में उसने खेती करने का मार्ग भी मालूम कर लिया।

परन्तु जब वह खेती करने लगा, तब अपनी खेती की उपज की रक्षा और उसके यथोचित उपयोग के लिए उसे अपने रहने के लिए एक स्थान निश्चित करना पड़ा, क्योंकि उसके लिए अपने खेत और उसकी उपज को साथ लिये फिरना असंभव था।

मैक्समूलर आदि विद्वान् और कुछ अन्य भाषा-विज्ञान-शास्त्री आर्यों को मध्य एशिया का निवासी अनुमान करते हैं।^१ यही
 मध्य एशियावाद स्थान संस्कृत और जेन्दभाषा-भाषियों के निकट पड़ता है।
 अतः यहीं से वे भारत, ईरान और यूरोप की तरफ गये थे।
 ऋग्वेद से आर्यों का गाय पालना, पशु चराना और खेती करना प्रकट होता है। अतः ये मध्य एशिया के मैदान में रहते थे।

ऋग्वेद में “तोकं पश्येम तनयं शतं हिमाः”^२ यह आशीर्वादात्मक मन्त्र मिलता है : इसमें सौ हेमन्त ऋतुओं तक सुखी रहने का आशीर्वाद मांगा गया है। हेमन्त से वर्षारम्भ का होना या हिम वाले हेमन्त का प्रधान ऋतु होना मध्य एशिया में ही अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि आर्यावर्त में विशेष हिमपात नहीं

१. वे इन आर्यों का हिन्दूकुश पर्वत के पश्चिम की तरफ से पञ्जाब में आना मानते हैं।

२. मं. ५, सू. ५४, ऋ. १५.

होता ।^१ ऋग्वेद में घोड़े के खाये जाने का^२ तथा पीपल और यव का उल्लेख है । ये सब बातें मध्य एशिया की हैं ।^३

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर हिमालय को लांघकर शीघ्रता से आने का उल्लेख है ।^४

पारसियों के (जो आर्यों की ही एक शाखा^५ थे) धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता के वेन्दि-

१. सप्तसिन्धु में आने पर वर्ष के लिए शरद् ऋतु का उल्लेख होने लगा था ।
(जीवेम शरदः शतम्)

आजकल उसको वर्षा के सम्बन्ध से वर्ष कहते हैं । उस समय सप्तसिन्धु के चारों ओर समुद्र रहने से यहां पर अधिक शीत और हिम-पात होता था ।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि आर्यों की सूर्य और अग्नि की उपासना से भी इन का शीत देश में रहना सिद्ध होता है । परन्तु यह तर्क ठीक प्रतीत नहीं होता । उदाहरणार्थ पेरू और मैक्सिको को गर्म देश होने पर भी वहां के प्राचीन निवासी सूर्य-पूजक थे । अथवा यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ठंडे यूरोप के प्राचीन निवासी या ध्रुव प्रदेश के एस्किमो अग्नि या सूर्य के उपासक थे ?

फिर इस तर्क के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आजकल शीतप्रधान कुछ देशों में ग्रीष्म की आवश्यकता के कारण आयु को प्रकट करने के लिए ग्रीष्मवाची समर (summer) शब्द का प्रयोगक होता है (अर्थात् अमुक इतने समर वय का है), या जिस प्रकार आजकल वर्षा की आवश्यकता के कारण १२ मास को काल को वर्ष कहा जाता है, उसी प्रकार उस समय यहां पर गर्म मौसम रहने के कारण शीत की आवश्यकता को अनुभव कर वर्ष को हेमन्त कहा गया होगा ।

२. मं. १, सू. १६२, ऋ. १२.

३. वे विद्वान् हिन्दूकुश पर्वत के उस पार कैस्पियन समुद्र के नीचे पामीर पर्वत की उपत्यका में इन सब बातों का रहना बतलाते हैं ।

४. १, ८१.

५. ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र की निन्दा करने वालों के देश से निर्वासन की कामना की गई है (मं. १, सू. ४, ऋ. ५) । यद्यपि पारसी लोग भी वेरेथ्रघ्न (वृत्रघ्न—इन्द्र) को पूजते थे, तथापि उनके धर्मग्रन्थ (अवेस्ता) के १०वें फगदि में इन्द्र को पापमति कहा है । विद्वानों का अनुमान है कि, एक समय आर्यों

दाद^१ प्रकरण में उनके हिमऋतुप्रधान पूर्व निवास स्थान 'एर्यनम्बेइजो' (आर्याणां बीज) का उल्लेख है। इन प्रमाणों से वे लोग आर्यों का मध्य एशिया^२ से ही भारत, पर्शिया और यूरोप आदि की तरफ जाना अनुमान करते हैं।

ऋग्वेद में निम्नोद्धृत मन्त्र मिलता है^३ :—

“अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तु विप्रति नरम् ।

यं ते पूर्वं पिता हुवे ।”

में इन्द्र और वरुण में से एक को सर्वश्रेष्ठ मानने के विषय में विवाद उठ खड़ा हुआ। इस मतभेद के कारण वरुण के पक्षपाती दल को सप्तसिन्धु का देश छोड़ कर पर्शिया (ईरान) की तरफ जाना पड़ा। ये ही वाद में पर्शिया के संबन्ध से पारसी कहाये। ये अब तक भी अग्नि और सूर्य को पूजते हैं, और मित्र (सूर्य) को मिथ्र कहते हैं। इस विरोध ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था कि ये ईरानी आर्य अपना वर्ष उत्तरायण के प्रारम्भ के बदले दक्षिणायन के प्रारम्भ से मानने लगे और इन्होंने देव शब्द को दुष्टवाची और असुर शब्द को शिष्टवाची मान लिया।

ऋग्वेद में भी अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जिन में देवताओं के लिए असुर शब्द का (मं. १, सू. २४, ऋ. १४), तथा असुर वृत्र के लिए देव शब्द का (मं. १, सू. ३२, ऋ. १२; और मं. २, सू. २३, ऋ. २) प्रयोग मिलता है। उस समय देव शब्द दिव्य गुण वालों के लिए और असुर शब्द सामर्थ्य वालों के लिए प्रयुक्त होता था।

कुछ लोग पौराणिक देवासुर-संग्राम को भी इन्हीं दोनों के दलों के बीच का युद्ध अनुमान करते हैं। वेद और अवेस्ता के कुछ स्थलों के अवलोकन से भी भारतीय आर्यों और पारसियों के एक ही वृक्ष की दो शाखायें होना सिद्ध होता है।

१. उस में यीमा का अपने अनुयायियों के साथ उत्तरी ध्रुव की तरफ जाना भी लिखा है।

२. उनका कथन है कि ऐतिहासिक काल में अन्य देशों पर आक्रमण करने वाली शक आदि उपजातियां भी यहीं से चली थीं। यहां से भारत, ईरान और यूरोप भी जा सकते हैं। कुछ लोग पारसियों के यहां अहुर्मज्द का सबसे पहले बाल्हीक (बैक्ट्रिया) प्रदेश में मानव सृष्टि का उत्पन्न करना माना जाना मान कर आर्यों का मध्य एशिया निवास सिद्ध करते हैं; क्योंकि यह वंशु नदी से फरात नदी तक फैला हुआ है।

३. मं. १, सू. ३०, ऋ. ९.

अर्थात्—अनेक यजमानों के यहां जाने वाले जिस इन्द्र को हमारे पूर्वज पिता आदि बुलाते थे, उसी तुझ इन्द्र को मैं भी पुराने स्थान से बुलाता हूँ ।

यहां पर के पुराने स्थान से बुलाने के उल्लेख से सिद्ध किया जाता है कि सप्तसिन्धु के आर्य भी अपने पूर्वजों का आदि निवासस्थान आर्यावर्त से बाहर होना मानते थे ।

इस मत को मानने वाले विद्वानों का अनुमान है कि आर्य मध्य एशिया, कैस्पियन सागर के पूर्व अथवा उक्त सागर के आसपास से ही चारों तरफ फैले थे; क्योंकि इससे इनके चारों ओर के उपनिवेशों की दूरी और जलवायु में भी विशेष अन्तर न रहा होगा ।

परन्तु प्रथम तो पहले बताये अनुसार उस समय मध्य एशिया में कैस्पियन सागर को गर्भ में धारण करने वाला विशाल समुद्र लहराता था । दूसरा यदि आर्य मध्य एशिया के थे, तो यह देश बिल्कुल निरायं कैसे हो गया ?

पारसियों के धर्म ग्रन्थ में लिखा मिलता है कि—‘अहुर्मज्द (असुर महत्) ने बाल्हीक प्रदेश (मध्य एशिया) में मानव सृष्टि की ।’ यह बाल्हीक या बैक्ट्रिया प्रदेश वंशु नदी तट का प्रदेश है, जो फरात नदी तक फैला हुआ है । परन्तु ऋग्वेद में इसका उल्लेख न होकर सप्तसिन्धु का ही उल्लेख है । यह सिन्धु से सरस्वती तक फैला हुआ था । काश्मीर और पंजाब भी इसी में संमिलित थे, तथा अफगानिस्तान का काबुल नदी वाला भाग भी इसमें था । वहां पर गान्धार का (मं. १, सू. १२६, ऋ. ७) भी उल्लेख है; जो अपनी भेड़ों की ऊन के लिए प्रसिद्ध था ।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् आर्यों को यूरोप के उत्तरी मैदानों का या रूस के यूरोपवाद वृक्षहीन दक्षिणी स्थानों का रहने वाला मानते हैं ।^१

डाक्टर गाइल्स इण्डो-यूरोपियन या इण्डो-जर्मन भाषाओं में मिलने वाले लताओं और वृक्षों के नामों तथा पशु-पक्षियों के नामों से आर्यों का किसी सम-शीतोष्ण देश में रहना अनुमान करते हैं । ये गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ता, आदि पालते थे और खेती करते थे । अतः इनके पूर्वज भारत, पामीर, यूरोप के उत्तरी मैदानों, रूस के वृक्षहीन दक्षिणी स्थानों अथवा घुब प्रदेश में न रहकर यूरोप के हंगरी, ऑस्ट्रिया और बोहेमिया वाले प्रदेश में रहते थे । ये लोग यहीं से कई दलों में विभक्त होकर नये खेतों और नई गोचर भूमि की खोज में इधर-उधर फैल गए । इनका एक दल, जो पूर्व की ओर बढ़ा, वह डेन्यूब के सरल मार्ग

१. श्री क्यूनो आर्यों का यूरोप के उत्तर के यूराल पर्वत से लेकर ऐटलाण्टिक (अन्व) महासागर तक के मैदान से चारों तरफ फैलना मानते हैं ।

से बालेसिया होता हुआ और वहां से दक्षिण की ओर मुड़कर बौसफोरस और डाईनेल्स पहुँचा होगा। इसके बाद वह दल इन को और एशिया माइनर की अधित्यका को पारकर यूफ्रेटस और टिग्रिस के ऊपरी भाग में आया होगा।^१ तथा यहां से तबरीज और तेहरान के बीच के मार्ग से पर्शिया (ईरान) पहुँचा होगा^२, या आगे मशह, हिरात, और बैक्ट्रिया की ओर बढ़ा होगा। उसी में का एक भाग कुछ काल बाद पर्शिया से चलकर अफगानिस्तान की तरफ से पंजाब पहुँचा होगा। यही भारतीय आर्य कहाया।

इसी प्रकार मैक्समूलर^३, आदि विद्वान् भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, केल्टों (वेल्स और पश्चिमी फ्रांस के निवासियों), और जर्मनों के पूर्वजों को एक ही स्थान के वासी और एक ही जाति के मानते हैं। उनके मतानुसार इनके अलग-अलग होने पर देश तथा जल-वायु के प्रभाव से और अन्य जातियों के संपर्क से इन की भाषा में भेद पड़ गया।

परन्तु इस मत के विरोधियों का कहना है कि भाषा में मिलने वाले एक से शब्दों के आधार पर भारतीयों और यूरोप की उपर्युक्त जातियों को एक वंश का मानना उचित नहीं है; क्योंकि संभव है यह आर्य-भाषा भारतीय और ईरानी आर्य व्यापारियों द्वारा या उनकी उपनिवेश-स्थापन की नीति द्वारा फैली हो। आर्य-भाषा की मुख्यतः दो कन्यायें हैं :—संस्कृत और जेन्द। हां, उसकी विकृत रूपावली अन्य कन्यायें मद्रास को छोड़कर समस्त भारत, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान तथा सारे यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में फैली हुई हैं।

इसके अतिरिक्त यदि भारतीय आर्य यूरोप के निवासी और यूरोप वालों की जाति के ही थे तो उस समय की इन दोनों की सम्यता में इतना अन्तर कैसे पाया जाता है। जहां ऋग्वेद के समय की सप्तसिन्धु की आर्य सम्यता खूब बढ़ी-चढ़ी थी, वहां उस समय की यूरोप वालों की दशा बिलकुल जंगलियों की-सी थी। अतः यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता।

१. उस समय उन दोनों नदियों के बीच एक बलवान् और सम्य जाति राज्य करती थी। इसी से आर्य उधर न जाकर ऊपरी रास्ते से ही आगे बढ़े होंगे।

२. आधुनिक कुछ लोग आर्यों का ईराक और बैबिलोन से चारों तरफ फैलना मानते हैं।

३. श्री मैक्समूलर आर्य शब्द से ही ईरान, अर्मेनी, आयरत, आरियाई, आयरलैण्ड, एरिल आदि शब्दों की उत्पत्ति मानते हैं।

यदि हम किसी देश के लोगों के इतिहास की खोज को अतीत की ओर पीछे ले जावें, तो अन्त में एक पौराणिक और परम्परागत कथाओं का काल मिलेगा, जो आगे चलकर अभेद्य अन्धकार में से उत्तरी ध्रुव-विलीन हो जायगा। उदाहरणार्थ ग्रीस का ऐतिहासिक निवास-कल्पना काल ईसा से १००० वर्ष पूर्व तक जाता है; और इजिप्ट का, (हाल ही में प्राचीन समाधि स्थानों तथा स्मारक-स्थानों से खोदकर निकाले सम सामयिक लेखों आदि से)

ईसा से ५००० वर्ष पूर्व तक पहुँचता है। परन्तु दोनों के ही ऐतिहासिक काल के पहले जिनकी प्राचीनतम अवधि ईसा से ५००० या ६००० वर्ष पूर्व तक ली जा सकती है, पौराणिक और परम्परागत कथाओं का काल मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक प्रागैतिहासिक मनुष्य का अध्ययन करने के लिए यही सामग्री उपलब्ध थी। इन कथाओं को व्यवस्थित करने, इन की ठीक तौर से व्याख्या करने, तथा क्या वे मनुष्य के पूर्व इतिहास पर कुछ प्रकाश डालती हैं इस बात को देखने के अनेक चेष्टाएँ की गईं। परन्तु जैसा कि श्री मैक्समूलर (Prof. Max Muller) ने कहा था,— पक्षपात-रहित प्रत्येक विद्वान् यही खयाल करता था कि व्याख्या करने की इन में एक भी रीति सन्तोषप्रद नहीं है। इन पौराणिक कथाओं पर नवीन प्रकार से विचार करने की प्रेरणा तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन से मिली। प्राचीन भाषा के, भारतीय वैदिक साहित्य के, संस्कृत और जेन्द (भाषाओं) के आपसी घनिष्ठ संबन्ध के, तथा संस्कृत और यूरोप की मुख्य-मुख्य जातियों की भाषाओं के पार-स्परिक संबन्ध के आविष्कार से विश्व के प्राचीन इतिहास के विषय की साधारण धारणाओं में एक बड़ा उलट फेर उपस्थित हो गया।^१ इससे यह भी जाना गया कि मुख्य यूरोपियन जातियों की प्राचीन और नवीन भाषाओं में और भारतीय ब्राह्मणों तथा जोरोआस्टर (Zoroaster) के अनुयायियों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं में बहुल सादृश्य है। तथा भारत-जर्मनीय भाषाओं के इस संबन्ध से अनिवार्य रूप से यह तात्पर्य भी निकलता है कि ये सारी भाषायें एक ही प्राचीन भाषा से निकली शाखायें या प्रान्तीय बोलियाँ हैं। साथ ही एक प्राचीन भाषा की कल्पना से मूल आर्य लोगों का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

पुराणकथा-विशारदों ने अपने अन्वेषण उस समय किये थे, जिस समय मनुष्य

१. Max Muller's Lectures on the Science of Language
Vol. II, pp. 445-6.

की उत्पत्ति हिमयुग के बाद की मानी जाती थी, और जब प्राचीन मनुष्य के आस-पास की भौतिक तथा भौगोलिक दशा आज की दशा से विशेष भिन्न प्रकार की नहीं समझी जाती थी। इसी से सारी ही पुराण कथाओं की व्याख्या यह समझ कर की गई थी कि उनकी उत्पत्ति और उन्नति ऐसे देश में हुई, जहां की दशा आजकल की हमारे चारों ओर की दशा के समान या उससे बहुत ही कम भिन्न थी। अतः प्रत्येक वैदिक पुराणकथा और उपाख्यान की व्याख्या आंधी (तूफान) तथा उषाकाल की कल्पना के आधार पर की गई थी। हां, कहीं-कहीं इस व्याख्या का सन्तोषजनक न होना भी माना गया था। इन्द्र केवल एक अंधड़ (तूफान) का देवता था और वृत्र अनावृष्टि और अन्धकार का असुर! यह अन्धकार सूर्य के प्रतिदिन के अस्त होने से उत्पन्न होता था। इस प्रकार की व्याख्या की रीति पहले-पहल भारतीय शब्द व्युत्पत्ति विशारदों (नैस्कर्तों) ने प्रस्तुत की थी। यद्यपि बाद में इसे पाश्चात्य वैदिक विद्वानों ने उन्नत किया था, तथापि आज तक इस की प्रकृति में कोई व्यावहारिक परिवर्तन नहीं हुआ था। इसके बाद भी यही विश्वास किया जाता था कि हम को आर्य जाति के मूल निवास के विषय में मध्य एशिया में ही कहीं देख-भाल करनी चाहिए, तथा वैदिक सूक्तों में, जिनकी रचना भारतीय आर्यों के अपने समान कुटुम्ब से पृथक् होने के बाद की मानी जाती थी, आर्य जाति की केवल उसी शाखा के विचार मिलते हैं, जो सम-शीतोष्ण प्रदेश में रहती थी। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक अन्वेषणों ने इन विचारों को गहरी ठेस लगाई है। यूरोप के अनेक स्थानों में पृथ्वी से निकले सैंकड़ों पत्थर और कांसे (तांबे और टिन या जस्ते के मिश्रण वाले धातु) के बने शस्त्रों के आधार पर पुरातत्त्व विशारदों ने अब ऐतिहासिक काल के पूर्व के लोहे, कांसे और पाषाण के कालों का कालक्रमानुसार क्रम निश्चित कर दिया है। परन्तु गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध की, हमारे इस विषय से संबन्ध रखनेवाली सबसे महत्त्व की बात उस साक्षी का आविष्कार है, जिससे हिमयुग का, पृथ्वी के चतुर्थ तलीय (Quaternary) काल की समाप्ति के निकट विद्यमान होना सिद्ध होता है; तथा यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य केवल सारे उपर्युक्त चतुर्थ तलीय (Quaternary) युग में ही विद्यमान न था अपितु तृतीय तलीय (Tertiary) युग में भी उपस्थित था, जब कि पृथ्वी के गोले की जलवायु की दशा आज की या हिमयुग के बाद के समय की दशा से बिल्कुल भिन्न थी। उत्तर पाषाण युग और पूर्वपाषाण युग के स्तर में मिले पशुओं के और मनुष्यों के अवशेषों ने भी,—जिन देशों में ये मिले थे उन देशों में रहने वाली, प्राचीन जातियों पर प्रकाश डाला है। इससे यह प्रतीत हुआ है कि पुराण-कथा-

विशारदों ने समय के विषय में, जो अंदाज़ किया था, उसे आगे बढ़ाना होगा; और पुराण कथाओं और उपाख्यानों के आधार पर जो परिणाम पहले निश्चित किये गये थे, उनका, इन वैज्ञानिक आविष्कारों से प्राप्त तथ्यों के प्रकाश में, फिर से परीक्षण करना होगा। भाषा-विज्ञान-विशारदों को भी अब अपना मत प्रकट करने में सावधान रहना होगा। पोस्चे (Posche) और पेंका (Penka) जैसे जर्मन विद्वानों ने आर्य जाति के मूल निवास के एशिया में होने की कल्पना को खुले तौर पर चुनौती दी है, और यह बात अब आम तौर पर मान ली गई है कि हमें इस कल्पना को छोड़कर आर्यों के मूल निवास को और आगे उत्तर में खोजना चाहिए।

यह पहले कहा गया है कि वैदिक साहित्य के प्रकाशन से पुराणकथाओं और उपाख्यानों के अध्ययन के लिए एक नई प्रवृत्ति मिली है। परन्तु वेद, जो कि आर्य जाति के माने हुए प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, स्वयं भी ठीक तौर से नहीं समझे गये हैं। ये (वेद) ईसा से कई शताब्दियों पूर्व ब्राह्मण काल से ही कुछ-कुछ दुर्बोध्य हो चुके थे, और यदि भारतीय शब्दव्युत्पत्ति-विशारदों (नैरुक्तों) और वैयाकरणों ने इतना परिश्रम न किया होता, तो ये अब तक एक बन्द पुस्तक के समान ही बने रहते। पाश्चात्य विद्वानों ने, भाषा-शास्त्र और पुराण-कथाओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्रकट हुए तथ्यों की सहायता से व्याख्या की भारतीय रीति को वास्तव में ही विकसित किया है। परन्तु शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र और भाषाशास्त्र के आधार पर किये विश्लेषण, उन वचनों को समझने में हमारी सहायता नहीं कर सकते, जिन में विदेशी या हमारे द्वारा अपरिचित कल्पनायें और भावनायें हैं। वैदिक व्याख्यान की यह एक सबसे बड़ी असुविधा है। अंधड़ या उषा की कल्पना वेद के कुछ उपाख्यानों को समझने में सहायता दे सकती है। परन्तु उसमें ऐसे भी वचन हैं, जिन की वाक् शैली के सरल होने पर भी, इन कल्पनाओं के आधार पर उनका समझना कठिन है। ऐसे स्थलों पर सायण के समान भारतीय विद्वान् भी या तो शब्द की भावार्थ रूप से विस्तृत व्याख्या करके, या शब्दों अथवा वचनों को इस प्रकार तोड़-मोड़कर कि जिससे समझने में आने लायक कुछ अर्थ प्रकट कर सके, सन्तोष कर लेता है; तथा पाश्चात्य विद्वान् ऐसे वचनों को दूषित या अपूर्ण मानने को उद्यत रहते हैं। परन्तु इन दोनों प्रकार की रीतियों से यह ज्ञात होता है कि कुछ वैदिक वचनों के अब तक भी अज्ञातार्थ होने से उनका अनुवाद नहीं किया जा सकता। श्री मैक्समूलर (Prof. Max Muller) ने भी इस बात को स्वीकार किया है।^१

१. Sacred Books of the East Series, vol. XXXII, p. XI.

परन्तु जब गत शताब्दियों के अन्वेषणों ने प्राचीन कालीन मनुष्य के इतिहास और उसकी सम्प्रदाय पर नया प्रकाश डाला है, तब हम यह आशा कर सकते हैं कि उनसे हमें उन वैदिक कथाओं और वचनों की व्याख्या करने में सहायता मिलेगी, जिन में आर्य जाति के प्राचीनतम विश्वास सुरक्षित हैं। यदि मनुष्य अन्तिम हिमयुग के पूर्व विद्यमान था और उसने उन महान् परिवर्तनों को देखा था, जो हिमयुग को लाने में कारण थे तो यह मानना अनुचित न होगा कि मनुष्य जाति के इन प्राचीनतम परम्परागत विश्वासों और उन की स्मृतियों में उन घटनाओं का संकेत, चाहे वह गुप्त रहा हो, चाहे दूर का, परन्तु मिलेगा अवश्य। डा. वारन् (Dr. Warren) ने आधुनिक अन्वेषणों के प्रकाश में प्राचीन कथाओं और उपाख्यानों की व्याख्या कर, यह सार निकाला है^१ कि सारी ही मनुष्य जाति का मूल निवास उत्तरी ध्रुव के निकट वाले प्रदेश में खोजना चाहिए। परन्तु हमारा सम्बन्ध केवल वैदिक साहित्य से, और यह दिखलाने से है कि यदि वेद के उन कुछ वचनों को, जिनको अब तक अबोध समझा जाता था, उन वैज्ञानिक अन्वेषणों के प्रकाश में पड़ा जाय तो, हम को यह मानने को बाध्य होना पड़ेगा कि अन्तिम हिमयुग के वैदिक पुरुषों के पूर्वजों का निवास, उत्तरी ध्रुव के पास कहीं था : परन्तु, यह काम सरल नहीं है, क्योंकि उन वैदिक वचनों को, जिन पर हमारा विश्वास है, भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने या तो उपेक्षित कर दिया है या जिस किसी तरह से उन की व्याख्या कर दी है, या उनके मनमाने अर्थ कर दिये हैं। यद्यपि इस प्रकार की ये व्याख्यायें सामयिक रूप से मान ली गई हैं, तथापि सन्तोषजनक नहीं हैं। इन वचनों की व्याख्या के लिए पुरातत्व और भूगर्भ-शास्त्र के आधुनिक अन्वेषणों ने हमें और भी साधन प्रदान किये हैं। अतः यदि इनके द्वारा पुराणकथा-विशारदों और भाषा-शास्त्रियों के कुछ निष्कर्ष बदल जायें, तो इससे इन दोनों प्रकार के विशारदों का महत्त्व कम नहीं होता; क्योंकि इन्होंने ही पहले-पहल प्राचीन आर्यों के बहुत से उपाख्यानों की व्याख्या के साधन उपस्थित किये थे, तथा नये साधनों ने तो उनमें शेष की पूर्ति की है, या उन में सुधार किया है। इससे आर्य जाति के आदि इतिहास पर और भी प्रकाश पड़ेगा।

यद्यपि देखने में हमें सूर्य का पृथ्वी की परिक्रमा करना प्रतीत होता है, तथापि

१. Dr. Warren's Paradise Found, or the Cradle of Human Race at the North Pole.

वास्तव में पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है। इस की इस परिक्रमा का मार्ग (कक्षा) मण्डलाकार न होकर अण्डाकार है। इस उत्तरी ध्रुव-परिक्रमा में इसे ३६५ दिन लगते हैं। इस गति के अतिरिक्त पृथ्वी अपनी धुरी (अक्ष) पर पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवेश की घूमती हुई २४ घण्टों में एक चक्कर पूरा करती है।^१ पहली विशेषतायें गति से ऋतु और दूसरी से दिन-रात होते हैं। इस धुरी का उत्तरी सिरा उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी सिरा दक्षिणी ध्रुव कहाता है। पृथ्वी की यह काल्पनिक धुरी यदि पृथ्वी की कक्षा पर लंब रूप से सीधी खड़ी होती, तो पृथ्वी के सब स्थानों पर रात-दिन बराबर होते, सूर्य बराबर वर्ष भर मध्याह्न के समय विशेष स्थानों पर एक-सी ऊंचाई में रहता, और इस प्रकार का ऋतु-परिवर्तन भी न होता। परन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा न होने से पृथ्वी की उपर्युक्त धुरी का अपनी कक्षा के तल की ओर ६६॥ अंश झुका रहना माना गया है। इसी से २१ जून को^२ उत्तरी ध्रुव सूर्य की ओर झुका और दक्षिणी ध्रुव सूर्य से दूर रहता है। अतः उत्तरी ध्रुव निरन्तर प्रकाश में और दक्षिणी ध्रुव निरन्तर अन्धकार में रहता है। उत्तरी गोलार्ध के अधिक काल तक सूर्य के प्रकाश में रहने से वहाँ पर दिन लंबे और रातें छोटी होती हैं।^३ जो प्रदेश जितना ही उत्तरी ध्रुव के निकट होता है, उतना ही वहाँ पर लंबा दिन होता है। इस समय उत्तरी गोलार्ध पर सूर्य की किरणों के सीधी गिरने से वहाँ पर ग्रीष्म ऋतु होती है और दक्षिणी गोलार्ध में शीत ऋतु। इसके विपरीत २२ दिसम्बर को दोनों गोलार्धों की दशा बिल्कुल विपरीत हो जाती है।^४ आजकल^५ सूर्य का उत्तर की ओर चलते दिखाई देना प्रारम्भ होने पर उत्तरायण और दक्षिण की ओर चलते दिखाई देना प्रारम्भ होने पर दक्षिणायन होता है। उत्तरायण का प्रारम्भ सायन मकर संक्रान्ति से और

१. पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व की ओर घूमने से ही सूर्य, चन्द्र तारे इससे विपरीत दिशा में (पूर्व से पश्चिम को ओर) घूमते दिखाई देते हैं।

२. उस दिन सूर्य उत्तरतम बिन्दु पर रहता है।

३. जिस दिन उत्तरी गोलार्ध में सबसे बड़ा दिन होता है, उस दिन सूर्य कर्क रेखा के सामने और जिस दिन सब से बड़ी रात होती है, उसी दिन मकर रेखा के सामने उदय और अस्त होता है।

४. उस दिन सूर्य दक्षिणतम बिन्दु पर रहता है।

५. वैदिक काल में भूमध्य रेखा के उत्तर में की सूर्य की यात्रा को देवयान (उत्तरायण) और दक्षिण में की यात्रा को पितृयान (दक्षिणायन) कहते थे।

दक्षिणायन का प्रारम्भ सायन कर्क संक्रान्ति से माना जाता है। इसके विपरीत २१ मार्च और २३ सितम्बर को दिन-रात बराबर^१ होते हैं। २१ मार्च को उत्तरी गोलार्द्ध में वसन्त संपात और दक्षिणी गोलार्द्ध में शरत् संपात माना जाता है और २३ सितम्बर को इससे उलटा हो जाता है। इन दोनों तिथियों को सूर्य ठीक पूर्व में उदय होकर ठीक पश्चिम में अस्त होता है, तथा दूसरे ही दिन से वह (सूर्य) क्रमशः उत्तर की ओर या दक्षिण की ओर सरकता प्रतीत होता है।

अयन-चलन और अक्ष-दिशा-विचलन के कारण पृथ्वी का ध्रुव भी सूक्ष्म गति से चक्कर लगाता है। अतः जिस समय जो तारा पृथ्वी की घुरी के सामने आ जाता है, उस समय वही ध्रुव तारा कहाता है, और वह स्थिर प्रतीत होने लगता है। अतः ध्रुव तारा भी बदलता रहता है। यह भी संभव है कि पृथ्वी के अक्ष के कदम्ब के चारों तरफ घूमने के कारण किसी समय कोई भी तारा अक्ष के सामने न रहे, जैसा कि आजकल दक्षिणी ध्रुव के सामने है। अर्थात् इस समय दक्षिणी ध्रुव के सामने कोई तारा न होने से दक्षिणी ध्रुव का अभाव है।

पृथ्वी और उसके दोनों ध्रुवों के बीच के अंतर को दो बराबर भागों में विभक्त करने वाली पृथ्वी के गोले के चारों तरफ खींची गई काल्पनिक रेखा को भूमध्य रेखा कहते हैं। इसके उत्तर और दक्षिण दोनों ओर के २३½ अंशों तक का अर्थात् कर्क और मकर रेखा के बीच का भाग उष्ण कटिबन्ध कहाता है। यहां पर गर्मी अधिक पड़ती है। इसी प्रकार उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव से २३½ अंशों पर खींचे गये वृत्तों के बीच के भाग शीत कटिबन्ध कहे जाते हैं। इन्हें क्रमशः उत्तरी ध्रुव मण्डल और दक्षिणी ध्रुव मण्डल भी कहते हैं। यहां सर्दी अधिक रहती है, और यहां अधिक से अधिक काल तक का प्रकाश या अन्धकार पाया जाता है। यहां पर भी कुछ तारों का तो उदयास्त दिखाई देता है, परन्तु अन्य बहुत से तारे आकाश में चक्कर लगाते प्रतीत होते हैं, तथा सूर्य और उषा के चक्कर क्षितिज के कुछ ऊपर दिखाई देते हैं। इन दोनों कटिबंधों अथवा कर्क रेखा और उत्तरी शीत कटिबन्ध के बीच का तथा मकर रेखा और दक्षिणीकटिबन्ध के बीच का प्रदेश क्रमशः उत्तरी समशीतोष्ण कटिबन्ध और दक्षिणी सम-शीतोष्ण कटिबन्ध कहाते हैं। यहां पर साधारण सर्दी-गर्मी होती है।

उत्तरी ध्रुव पर ध्रुव तारा सदा सिर पर रहता है इसके अतिरिक्त वहां पर खगोल के उत्तरार्द्ध में रहे तारे ही दिखाई देते हैं, जो ध्रुव पर खड़े द्रष्टा के

१. इनको विषुव दिवस भी कहते हैं। उस समय सूर्य क्रमशः मेष और तुला राशि में रहता है तथा ठीक भूमध्य रेखा के सामने उदय और अस्त होता है।

सिर पर रहे छत्र के समान बाएँ से दाएँ (पूर्व से पश्चिम) को घूमते रहते हैं। इनका घूमना कुलाल चक्र के समान होता है। इन का उदयास्त नहीं होता। ये छः मास की लंबी रात में क्षितिज के ऊपर बराबर एक के बाद दूसरा चक्कर लगाते रहते हैं। इनका प्रत्येक चक्कर २४ घंटे में समाप्त होता है। छः मास के लंबे दिन में जब सूर्य क्षितिज के ऊपर रहता है, तब वह भी इसी प्रकार ध्रुव के चारों ओर चक्कर लगाता दिखाई देता है। वहाँ पर मस्तक पर के आकाशीय छत्र का मध्य बिन्दु आकाशीय उत्तरी ध्रुव होता है। अतः स्वभावतः ही वहाँ पर के द्रष्टा का उत्तर उसके मस्तक पर और दक्षिण क्षितिज के नीचे अदृश्य रहता है। वहाँ पर के पूर्व और पश्चिम के बिन्दु, पृथ्वी के अपनी घुरी के चारों ओर घूमते रहने के कारण द्रष्टा के चारों ओर दक्षिण से वाम ओर घूमते प्रतीत होते हैं। इसी से आकाशीय पिण्ड भी क्षितिज के साथ-साथ उलटी दिशा में बायें से दायें घूमते मालूम होते हैं। उनका उदय पूर्व में नहीं होता, और न ये समशीतोष्ण कटिबन्ध की तरह मस्तक पर से होकर पश्चिम में अस्त होते हैं। वहाँ पर खड़े द्रष्टा को अपनी वार्षिक यात्रा में उत्तरी गोलार्द्ध में आता हुआ सूर्य दक्षिण में उदय होता दिखाई देता है। यह सूर्योदय वर्ष में एक बार ही होता है, और छः मास तक सूर्य बराबर दक्षिण में दिखाई देता रहता है। इस अवधि में वह क्षितिज से केवल २३½ अंश ऊपर उठकर फिर नीचे उतरता हुआ दक्षिण में क्षितिज के नीचे चला जाता है। इस प्रकार वर्ष एक दिन-रात सा प्रतीत होता है। वहाँ पर छः महीने की रात और छः महीने का दिन होता है। परन्तु दिन के चार मास बीतने पर सूर्य क्षितिज के नीचे चला जाता है, और दो महीने तक सान्ध्य प्रकाश क्षितिज पर घूमता रहता है। इसके बाद छः मास की रात्रि होती है। परन्तु इसके भी चार मास समाप्त होने पर उषोदय होता है, और उषा का प्रकाश भी दो मास तक क्षितिज पर चक्कर करता रहता है। सन्ध्याकालीन और प्रातःकालीन प्रकाशों के इन चक्करों में का प्रत्येक चक्कर २४ घंटों में समाप्त होता है।

वर्ष में केवल एक बार २१ जून को उत्तरी उष्ण-कटिबन्ध में और २२ सितम्बर को दक्षिण उष्ण-कटिबन्ध में सूर्य मध्याह्न में मस्तक पर दिखाई देता है। ये दिन क्रमशः कर्क संक्रमण और मकर संक्रमण दिवस कहे जाते हैं। वर्ष के अन्य दिनों में यह (सूर्य) आकाश में मस्तक पर से थोड़ा हटा हुआ प्रतीत होता है। परन्तु २३½ अंशों से अधिक नहीं हटता। इसी से यह ध्रुवों पर खड़े मनुष्य के

१. सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, ७, ६, ७।

सिर पर सीधा आकाश में कभी नहीं आता । सदा ही कम-से-कम ६६ $\frac{1}{2}$ अंशों पर रहता है । इसी से उत्तरी ध्रुव पर सदा दक्षिण में दिखाई देता है, और लंबे दिनों में भी वहां का तापमान ऊंचा नहीं जाता, तथा चारों ओर बर्फ जमा रहता है ।

जिस समय सूर्य मकर रेखा के सामने रहता है, उस समय उत्तरी ध्रुव पर छः मास की रात्रि होती है ।^१ परन्तु जो प्रदेश ध्रुव से जितना ही दूर होता है, वहां पर की रात उतनी ही छोटी होती है और इसी से शीत कटिबन्ध की दक्षिणी सीमा पर के प्रदेश में यह रात केवल २४ घंटों से कुछ ही लंबी मिलती है । इस लंबी रात के बाद उषा काल होता है और ध्रुव के पास के प्रदेश में उषा का प्रकाश दक्षिण में क्षितिज के निकट चक्कर करता हुआ प्रतीत होता है । इस (उषा-काल) की अवधि भी ध्रुव की दूरी के अनुसार दो मास से कुछ घंटों तक की रहती है । इसके बाद इसी प्रकार लंबा दिन और लंबी संध्या आ जाती है ।

लंबी रात और लंबे दिन के बीच चौबीस घंटों के साधारण दिन-रात भी होते हैं । लंबी रात्रि के बाद होने वाले लंबे उषाकाल के अन्त में जब सूर्योदय होता है, तब कुछ घंटों के बाद ही सूर्यास्त होकर रात हो जाती है । फिर क्रमशः दिन की लंबाई बढ़ती जाती है, और उसी के अनुरूप रात की लंबाई घटती जाती है । इन चौबीस घंटों के दिन-रातों में कुछ समय का प्रातःकाल और सायंकाल भी होता रहता है । इसके बाद जब सूर्य के क्षितिज के ऊपर रहने का समय चौबीस घंटों से अधिक हो जाता है, तब दीर्घ दिवस का प्रारम्भ हो जाता है । इस दीर्घ दिवस के बाद सूर्य के क्षितिज के ऊपर रहने का काल कम होने लगता है और आगे चलकर फिर चौबीस घंटों वाले दिन-रात प्रारम्भ हो जाते हैं । इसी प्रकार जब रात्रि का समय चौबीस घंटों से अधिक हो जाता है, तब दीर्घ रात्रि का प्रारम्भ हो जाता है । प्रति वर्ष यही क्रम चलता रहता है ।

भूगर्भ शास्त्रियों का अनुमान है कि पृथ्वी की कक्षा के अपने केन्द्र के अलगाव (eccentricity of the earth's orbit) के बिना भी शीत ऋतु का पृथ्वी के अपनी कक्षा पर के सूर्य से दूरतम बिन्दु (aphelion) पर रहते, विद्वानों द्वारा बतलाये अन्य कारणों और स्थितियों की अनुकूलता में आना, तथा पृथ्वी के अपनी कक्षा के सूर्य से दूरतम बिन्दु (aphelion) पर

१. इस लंबी रात्रि में कुछ समय के लिए वहां पर वातावरणजनित एक प्रकार का उत्तर ध्रुवीय विद्युत्प्रकाश (Aurora Borealis) उत्पन्न हो जाता है । शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा भी सहायता करता है ।

रहते क्रमशः होने वाली दो शीत ऋतुओं के बीच २१,००० वर्षों^१ का बीत चुकना हिमयुग उत्पन्न कर सकता है ।^२

इसके अनुसार पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थानों पर एकाधिक हिमयुग (Glacial period) और दो हिमयुगों के बीच के काल (Inter-Glacial period) आ चुके हैं । अतः भूमण्डल के अनेक भागों में, जहां आज शीताधिक्य है, किसी समय ग्रीष्माधिक्य था, तथा जहां आज गर्मी है, वहां सर्दी थी । एक समय ऐसा भी रहा था, जब उत्तरी ध्रुव प्रदेश में हिम का प्रकोप न होकर सदा वसन्त ऋतु बना रहता था । डा. क्रोल (Croll) भूमण्डल के उत्तरी गोलार्द्ध में अन्तिम हिमयुग का प्रारम्भ आज से करीब २,४०,००० वर्ष पूर्व मानते हैं । इस हिमयुग में यद्यपि बीच-बीच में भूमण्डल के कुछ भाग कभी हिम से मुक्त और कभी आच्छादित होते रहते थे तथापि हिम युग करीब १,६०,००० वर्ष तक बना रहता था । आज से करीब ८०,००० वर्ष पूर्व पृथ्वी के अन्य भाग हिम के आवरण से मुक्त हो गये, और हिम ध्रुव प्रदेशों की तरफ हट गया । परन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् हिमयुग की समाप्ति और हिमयुग के उत्तर के काल का प्रारम्भ, साइबेरिया के पाषाणी भूत चर-अचर जीवों के अवशेषों के आधार पर करीब १०,००० वर्ष पूर्व, अथवा ईसा से ८,००० वर्ष पूर्व मानते हैं । उनके मतानुसार उस समय हिमानी हटकर ध्रुव प्रदेशों की ओर चली गई थी ।

यदि क्रोल का मत माना जाय, तो आर्यों का उत्तरी ध्रुवप्रदेश-निवास करीब ८०,००० वर्ष पूर्व मानना होगा; क्योंकि उसके बाद वहां हिम का साम्राज्य हो गया था । दूसरे मत के अनुसार १०,००० वर्ष पूर्व आर्यों का सदा बसन्त वाले उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहना अनुमान किया जा सकता है ।

प्रथम मत के अनुसार हमारे लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि उत्तरी ध्रुव के हिमाच्छन्न होने और आर्यों के सप्तसिन्धु में पहुँचने के बीच के दीर्घ काल तक आर्य कहां रहे थे ? मध्य एशिया और यूरोप के विषय में पहले विचार किया जा चुका है । दूसरे मत के अनुसार आर्यों की सभ्यता का उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ही

१. यह शीत और ग्रीष्म ऋतुओं के सूर्य से निकटतम और दूरतम बिन्दुओं (perihelion and aphelion) के तथा संपात के बिन्दुओं के (equinoctial points) पृथ्वी की कक्षा के एक सिरे से दूसरे सिरे तक के एक लंबे चक्कर को पूरा करने का काल है ।

२. पृथ्वी पर के जलीय तथा स्थलीय भागों का परिवर्तन और घरातल की ऊँचाई-निचाई भी इस में सहायक होते हैं ।

उन्नत होना मानना होगा; क्योंकि उसके कुछ काल बाद ही वे सप्तसिन्धु पेमें पर्याप्त उन्नत अवस्था में देखे जाते हैं। यदि यह ठीक है, और यदि यूरोप के लोग भी आर्य जाति के ही रहे हों, तो फिर क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उत्तरी ध्रुव प्रदेश छोड़ने के बाद सप्तसिन्धु और ईरान में आने वाले आर्य तो सभ्य बने रहे; परन्तु यूरोप में गये आर्य एक दम जंगली हो गये। फिर इसके अनुसार यद्यपि आर्य लोग ध्रुव प्रदेश को छोड़ने के थोड़े समय बाद ही सप्तसिन्धु में पहुँच गये थे तथापि उन को अपने पूर्व निवास की या मार्ग में अपनाये स्थानों की स्मृति बिलकुल ही नहीं थी; क्योंकि ऋग्वेद में उसका कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और यह एक बड़े आश्चर्य की बात हो सकती है।

श्री एम. डी. स्पार्टा आदि पारश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव के पास का समुद्रतट ही सब से पहले ठंडा हुआ था और यहीं पर सबसे पूर्व जीव-सृष्टि उत्पन्न हुई थी। लोकमान्य श्री बालगङ्गाधर तिलक भी आर्यों का मूल निवासस्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश को मानते हैं। उनका कथन है कि ऋग्वेद में सप्तर्षियों का आकाश में (मस्तक के) ऊपर रहने का^१ और नक्षत्रों का आकाश में (मस्तक के) ऊपर चक्राकार घूमने का^२ उल्लेख है, तथा दीर्घकालीन उषा^३ और दीर्घकालीन अहोरात्र^४ का वर्णन है। सूर्य और उषा का दक्षिण में उदय होना^५ कहा है, तथा देवयान (उत्तरायण) और पितृयान (दक्षिणायन) का कथन है।^६ इसी प्रकार की और भी कुछ बातें

१. “अमीय ऋक्षा निहितास उच्चा । नक्तं ददृशे कुहचिद्वियेयुः”

(मं. १, सू. २४, ऋ. १०) ।

२. मं. १०, सू. ८९, ऋ. २ (स सूर्यः पर्यरु वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा) (इस में इन्द्र और सूर्य को एक माना है) ।

३. मं. ७, सू. ७६, ऋ. ३ (तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।) (अर्थात्—उषा के उदय और सूर्य के उदय के बीच बहुत दिन बीत गये। यहाँ पर ‘अहः’ शब्द समयवाची है। यथा ‘अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तते रजसी वेद्याभिः । मं. ६, सू. ९, ऋ. १) ।

४. मं. १०, सू. १३८, ऋ. ३; मं. २, सू. २७, ऋ. १४ और ऐतरेय ब्राह्मण २, २, ५ ५ ।

५. मं. ३, सू. ५८, ऋ. १.

६. मं. १, सू. १८३, ऋ. ६, और मं. १०, सू. २, ऋ. ७.

हैं; जिनके दृश्य ध्रुव प्रदेश पर ही विशेष रूप से साफ और सुन्दर दिखाई देते हैं। अतः आर्यों का अदि निवास-स्थान वही प्रदेश था।^१

परन्तु अन्य लोगों का कथन है कि ऋग्वेद में सप्तर्षियों के स्थान का संकेत 'उच्चाः' शब्द से किया है। इसका अर्थ 'आकाश में ऊँचे' ही होता है। इससे उनका द्रष्टा के मस्तक पर रहना प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार वहाँ पर नक्षत्रों के मस्तक पर चक्राकार घूमने का अर्थ न होकर इन्द्र का अपने तेज या तारों को रथ चक्र के समान घुमाना^२ कहा है। रथ का चक्का खड़ा घूमता है और ध्रुव पर तारे कुम्हार के चाक की तरह घूमते दिखाई देते हैं।

ऋग्वेद में उषा का अति सुन्दर वर्णन मिलता है।^३ इसके वर्णन में प्रायः एक वचन प्रयुक्त किया गया है। परन्तु कहीं-कहीं बहुवचन का प्रयोग मिलने से श्री तिलक इसे ध्रुव प्रदेश की लंबी उषा का संकेत मानते हैं। परन्तु विरुद्ध मतवालों का कहना है कि यह तात्पर्य निकालना ठीक नहीं है; क्योंकि यद्यपि विषुवत् रेखा पर प्रातःकाल और सायंकाल उषा के दर्शन नहीं होते, तथापि उसके उत्तर और दक्षिण में दोनों समय होते हैं। प्रातः कालीन उषा का ही यज्ञ से संबन्ध होने के कारण ऋग्वेद में केवल उसी का वर्णन किया गया है। सप्तसिन्धु में करीब दो घंटे का प्रभात होता है।

१. ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है :—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥७५॥

अर्थात्—सोता हुआ कलियुग होता है, छोड़ता हुआ द्वापर, खड़ा होता हुआ त्रेता और चलता हुआ सत्ययुग होता है।

इसके आधार पर कुछ विद्वान् उस समय को, जिस समय आर्य, ध्रुव प्रदेश में शीत के बढ़ जाने से, अन्य निवास योग्य देश की खोज में घूम रहे थे सत्य युग, उनके भारत में बसने के उद्योग के समय को त्रेता युग, उपनिवेश-स्थापन के लिए भारत छोड़ने के समय को द्वापर युग, और फिर आराम से बस जाने के समय को कलियुग मानते हैं।

२. मं. १० सू. ८९, ऋ. २।

३. मं. ४, सू. ५२, ऋ. १ व ५; मं. ५, सू. ७९, ऋ. ६, और मं. ५, सू. ८०, ऋ. ५।

४. मं. १०, सू. ८८, ऋ. १८।

लोकमान्य तिलक का कथन है कि ऐतरेय ब्राह्मण^१ के लेखानुसार—‘नये वर्ष के प्रथम दिन ‘अतिरात्र’ करके दूसरे दिन से ‘गवामयन’ यज्ञ किया जाता था। प्रथम दिन की रात्रि के तीन भाग किये जाते थे। यज्ञ प्रारम्भ करने के पूर्व होता को एक हजार मन्त्रों का पाठ करना होता था। इसको अश्विन शास्त्र कहते थे। अतः इसे अश्विनो के काल^२ में (प्रकाश की पहली अस्पष्ट झलक देख पड़ने पर^३) प्रारम्भकर सूर्योदय के पूर्व समाप्त करना पड़ता था। साथ ही पाठ की लंबाई के कारण होता को थोड़ा घी पीने का भी आदेश है।^४ सप्तसिन्धु का आश्विन काल छोटा होने से, उसमें यह पाठ नहीं हो सकता। अतः यह ध्रुव प्रदेश का ही लंबा आश्विन काल था। आश्वलायन श्रौत सूत्र में लिखा है कि पाठ समाप्त होने तक भी सूर्योदय न हो, तो अन्य मन्त्रों का पाठ करता रहे^५। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि सूर्योदय के बहुत पूर्व शास्त्र-पाठ समाप्त हो जाने पर विशेष पशु बलि कर डाले।^६ आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में लिखा है कि पाठ समाप्ति पर भी सूर्योदय न हो तो ऋग्वेद के दसों मण्डलों का पाठ कर डाले।^७ इन कथनों से भी यहां पर प्रदेश की उषा का ही तात्पर्य सिद्ध होता है।^८

परन्तु विरोधी पक्ष का कहना है कि यद्यपि वहां पर पाठ का सूर्योदय के पूर्व समाप्त करना तो लिखा है, तथापि उसके प्रारम्भ करने के समय का उल्लेख नहीं है। इस पाठ को आश्विन शास्त्र तो अश्विनो के सब देवताओं से पूर्व आकाश में दिखाई देने के कारण ही कहा है। वैसे इस पाठ में अग्नि, उषा, इन्द्र और अश्विनो के स्तोत्र हैं। कहा जाता है कि एक बार देवताओं की दौड़ में अश्विन सर्वप्रथम

१. ४, ७, और ४, १६ व १७।

२. मं. ७, सू. ६७, ऋ. २ व ३.

३. तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्रकाशीभावस्यानुविष्टभम् (निरुक्त १२, १)
(आश्वलायन श्रौत सूत्र ६, ५, ८) (ऋग्मं. ६, सू. ६७ ऋ. २ व ३)।

४. ऐत० ब्रा० ४, ७ आश्वलायन श्रौत सूत्र ६, ५, ३.

५. ६, ५, ८.

६. २, १, १०, ३.

७. १४, १ और ३२ (इस पाठ के पूर्व तैत्तिरीय संहिता में कहीं बलि करने का भी आदेश है।)

८. तैत्तिरीय संहिता में लिखा है कि आशानुसार सूर्योदय न होने पर देवों ने प्रायश्चित्त किया (२, १, २, ४) इससे भी लंबी उषा का होना पाया जाता है।

आये। यह दौड़ गार्हपत्य अग्नि से आदित्य तक हुई थी। गार्हपत्य अग्नि सायंकाल प्रज्वलित की जाती है। अतः अश्विन शास्त्र के पाठ का समय भी सायंकाल से प्रातःकाल तक रहा होगा। यह बारह घंटे का समय ऊपर कहे पाठों के लिए पर्याप्त था। यदि लोकमान्य के कथनानुसार यहां पर ध्रुव की उषा का तात्पर्य लिया जाय, तो प्रकाश की पहली धुंधली झलक देख पड़ने के बाद से सूर्योदय तक भी कई दिनों का समय लगेगा। अतः न तो एक बार घी पीकर कोई भी होता १५-२० दिन तक रह सकता है, और न इस पाठ में इतने लंबे समय की आवश्यकता ही है। अतः यहां पर ध्रुव प्रदेश की उषा का तात्पर्य न होकर यहां की साधारण उषा का ही तात्पर्य है।

इसी प्रकार श्री तिलक तैत्तिरीय संहिता में मिलने वाले^१ उदेष्यत् (उदय होने वाली), उद्यत् (उदय होती हुई) और उदिता (उदय हुई) शब्दों को लंबी उषा का सूचक मानते हैं।^२ परन्तु उषा और व्युष्टि (दिन) स्त्रीलिङ्ग हैं और उदेष्यत् आदि पुल्लिङ्ग हैं। अतः ये उषा के लिए न होकर सूर्य के लिए ही प्रयुक्त हैं।

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है^३ कि वरुण-व्रत की कामना वालों ने उनके लिए तीन उषाओं को वर्धित किया। यहां पर भी लंबी उषा का तात्पर्य न होकर उषा के तीन रूपों से तात्पर्य है। पहला रात्रि के अन्धकार से ढका, दूसरा अन्धकार से मुक्त होता हुआ, और तीसरा पूर्ण रूप से प्रकाशमान। उसी में दूसरे स्थान पर उषा से जल्दी से निकलने के लिए कहा है।^४ परन्तु यह कथन तो प्रत्येक स्थान पर सार्थक हो सकता है। तीसरे स्थान पर लिखा है^५ कि पुरातन समय में उषा शश्वत् प्रकाश करती थी। आज भी वह प्रकाश करे। यहां पर भी ध्रुव-प्रदेश की लंबी उषा की प्राचीन स्मृति का संकेत न होकर प्रतिदिन की साधारण उषा का ही संकेत है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि स्तोता फिर से लंबी उषा की कामना करता है; जो अवाञ्छनीय है। चौथे स्थान पर उषा को 'शश्वत्तमा' कहा है।^६ यहां पर भी 'शश्वत्तमा' का अर्थ लंबी

१. ७, २, २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ८, १६, ४.

२. ऋग्वेद में उषा को 'अजवासः' (मन्द गति वाले घोड़ों वाली) कहा है। (मं. २, सू. १५, ऋ. ६) इससे भी वे लंबी उषा का तात्पर्य मानते हैं।

३. मं. ८, सू. ४१, ऋ. ३। (उषाका एक रूप मं. १, सू. ११३, ऋ. १४)।

४. मं. ५ सू. ७९, ऋ. ९.

५. मं. १, सू. ११३, ऋ. १३.

६. मं. १, सू. ११८, ऋ. ११.

न होकर नियमपूर्वक प्रतिदिन निकलने वाली है। पांचवें स्थान पर कहा है^१ कि उषा कब से प्रकाश करती आ रही है, और कब तक प्रकाश करती रहेगी। यहां पर भी ध्रुव प्रदेश की दीर्घकाल व्यापिनी उषा का उल्लेख न होकर सृष्टि के आदिकाल से अन्तिम काल तक उषा के नित्य उदय होते रहने का उल्लेख मात्र है। इसी स्थान पर पहले लिखा है^२ कि उषा के जगाने पर मनुष्य अपने भिन्न-भिन्न कामों में लग गये। इस से भी वहां पर ध्रुव प्रदेश की उषा का वर्णन होना सिद्ध नहीं होता; क्योंकि ऐसा मानने से यह भी मानना पड़ेगा कि वहां पर रहने वाली चार महीनों की रात्रि में लोग बराबर सोते ही रहते थे।

ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है^३—“तानी दहा नि बहुलानि” यहां पर ‘अहानि’ का अर्थ दिन न होकर (सायण के कथनानुसार) तेज है, क्योंकि इसके पहले के मन्त्र में उषा के केतु (प्रथम प्रकाश) का पूर्व दिशा में दिखाई देना कहा है। यदि इस स्थान पर उत्तरी ध्रुव प्रदेश का वर्णन होता, तो उषा पूर्व में न दिखाई देकर दक्षिण में दिखाई देती। उसी में दूसरे स्थान पर लिखा है^४—

“अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषा स आनो जीवान् वरुण तासु शाधि” अर्थात्—बहुत-सी उषायें अभी अप्रकट हैं। हे वरुण ! उनमें हम जीवित रहें।” यहां पर भी एक लंबी उषा का तात्पर्य नहीं है; क्यों कि केवल एक ही लंबी उषा तक जीवित रहने की प्रार्थना नहीं की जा सकती। हां, अनेक आनेवाली उषाओं तक जीवित रहने की प्रार्थना की जा सकती है; जैसा कि सायण ने माना है। ऋग्वेद में जो कई स्थानों पर उषा के लिए बहुवचन प्रयुक्त किया है,^५ वह निरुक्त के मतानुसार आदरार्थ ही है। सायण उषाकाल के अधिकारी अनेक देवताओं का तात्पर्य मानता है। इसके अतिरिक्त वहीं एक स्थान पर उषा के लिए जल की लहरों की उपमा दी है।^६ परन्तु ध्रुव प्रदेश की उषा का रूप तो जल की लहरों का-सा आने-जाने वाला न होकर सतत प्रवाह का-सा होता है।

१. मं. १, सू. ११३, ऋ. १०.

२. मं. १, सू. ११३, ऋ. ५, और ६; (मं. ४, सू. ६४, ऋ. ६).

३. म. ७, सू. ७६, ऋ. ३.

४. मं. २, सू. २८, ऋ. ९.

५. मं. १, सू. ६, ऋ. ३; मं. १, सू. १८०, ऋ. १; मं. ५, सू. ७६, ऋ. १; मं. ७, सू. ९, ऋ. १ और मं. ७, सू. ६३, ऋ. ३.

६. मं. ६, सू. ६४, ऋ. १.

ऋग्वेद में एक स्थान पर उषा का पूर्व दिशा में प्रकट होना कहा है।^१ परन्तु उत्तरी ध्रुव पर यह दक्षिण में प्रकट होती है। ऋग्वेद में एक स्थान^२ पर 'अन्त-श्चरति दक्षिणायाः' पद आया है। श्री तिलक इससे उषा और सूर्य के दक्षिण में उदय होने का संकेत मानते हैं। परन्तु विपक्षी दक्षिण का अर्थ नीचे की ओर करते हैं। वहीं पर आगे इसे पश्चिमीभिमुखी बतलाया है।^३ परन्तु ध्रुव पर यह उत्तराभिमुखी दिखाई देती। तैत्तिरीय संहिता में एक स्थान पर उषा का वर्णन है।^४ वहां पर ३० उषाओं का उल्लेख है। श्री तिलक इससे ध्रुव प्रदेश की एक महीने की उषा का तात्पर्य लेते हैं। परन्तु अन्य लोग इसे चान्द्रमास की ३० भुजाओं का उल्लेख मानते हैं। वहीं पर आगे^५ उषा को 'परियन्ति' (घूमती हुई) लिखा है। श्री तिलक इससे ध्रुव प्रदेश के क्षितिज पर घूमने वाली उषा का संकेत समझते हैं। परन्तु ऋग्वेद में उषा के लिए 'ऊर्ध्व' तिष्ठसि' लिखा है।^६ अतः वह क्षितिज पर कैसी समझी जा सकती है।

ऋग्वेद में उषा का आज और कल समान होना कहा है।^७ यहां पर भी साधारण उषा का ही वर्णन है; क्योंकि ध्रुव प्रदेश की उषा का प्रकाश तो बराबर बढ़ता रहता है। उसी में उषा का ऊपर चक्र की तरह घूमना और नये सिरे से पैदा होना भी लिखा है।^८ ये दोनों बातें ध्रुव प्रदेश की उषा में नहीं पाई जातीं। वह तो क्षितिज पर घूमती है और दीर्घ समय तक निरन्तर बनी रहती है। अतः यह उषा २४ घंटों में सूर्य के साथ-साथ पृथ्वी का चक्कर लगाने वाली साधारण उषा ही है।

ऋग्वेद में जहाँ ऊषा का ३० कदम चलना या ३० योजन^९ घूमना कहा

१. मं. १, सू. ९२, ऋ. १.

२. मं. ३, सू. ५८, ऋ. १.

३. मं. १, सू. ९२, ऋ. ९.

४. तैत्तिरीय संहिता ४, प्रपाठक ३, अनुवाक् ११.

५. तैत्तिरीय संहिता ४, प्रपाठक ३, अनुवाक् ११, मन्त्र ६.

६. मं. ३, सू. ६१, ऋ. ३.

७. मं. १, सू. १२३, ऋ. ८.

८. मं. ३, सू. ६१, ऋ. ३। फिर उषा का रथ चक्र की तरह घूमना सूचित होता है—मं. १०, सू. ९१, ऋ. २।

९. मं. ६, सू. ५९, ऋ. ६.

है^१ वहाँ पर उसके ३० मुहूर्त तक चलने का ही अभिप्राय है; वयों कि एक अहोरात्र में ३० मुहूर्त होते हैं ।

(पूर्व से पश्चिम की तरफ बढ़ते हुए सूर्योदय के प्रकाश में प्रत्येक देशान्तर रेखा पर ४ मिनिट का अन्तर रहता है) ।

शास्त्रानुसार^२ जिस समय सूर्य उत्तरायण होता है, उस समय देवों का दिन और जिस समय दक्षिणायन होता है, उस समय देवों का अहोरात्र देवों की रात्रि होती है ।

श्री तिलक देवों के अहोरात्र से ध्रुव^३ प्रदेश के ६ महीने^४ के दिन और ६ महीने की रात्रि का संकेत मानते हैं ।^५

भूगोल शास्त्रियों के मतानुसार भूमध्य रेखा पर १२ घंटे का दिन और १२ घंटे की रात होती है । ६६ $\frac{१}{२}$ अक्षांश पर बड़े-से-बड़ा दिन २४ घंटे का; ७० अक्षांश पर दो महीने का और ७८ $\frac{१}{२}$ अक्षांश पर ४ मास का होता है । यह अन्तर भूमध्य रेखा के उत्तर और दक्षिण में समान रूप से मिलता है ।

१. मं. १, सू. १२३, ऋ. ८.

२. मनुस्मृति १—६७ और भगवद्गीता ८—२४ और २५.

३. महाभारत (वनपर्व, अध्याय १६३ और १६४) में पांच हजार वर्ष पूर्व की अर्जुन की मेरु यात्रा का वर्णन है—‘सूर्य, चन्द्र, और तारे मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं । पर्वत और औषधियों के प्रकाश (अरोराबोरियालिस) से दिन-रात में भेद प्रतीत नहीं होता । वहाँ का दिन-रात वर्ष के समान प्रतीत होता है । परन्तु वास्तव में वहाँ पर पर्वत और औषधियाँ न होकर केवल बरफ ही है । अतः यह वर्णन सुना-सुनाया है ।

४. मास चार प्रकार के होते हैं—(१) तीस सूर्योदयों (दिनों) का सावन मास, (२) एक राशि से दूसरी राशि तक का सौर मास, (३) पूर्णिमा से पूर्णिमा तक का २९ $\frac{१}{२}$ दिन का चान्द्रमास और (४) चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की प्रदक्षिणा में लगने वाला (२७ $\frac{१}{२}$ दिन का) समय नाक्षत्र मास । कहा जाता है कि ४,३२,००० वर्षों में सारे ग्रह घूम-फिरकर करीब-करीब अपने पहले स्थानों पर आ जाते हैं । अतः इसे एक युग या कलियुग माना है । इस का दो गुना द्वापर, तीन गुना त्रेता और चार गुना सतयुग कहा गया है ।

५. ६-६ महीने के दिन-रात (सूर्य सिद्धान्त १२-६७ । सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय ६, ६, व ७) ।

ऋग्वेद में दीर्घ रात्रियों का उल्लेख है।^१ श्री तिलक इसे ध्रुव की लंबी रात का संकेत समझते हैं। परन्तु अन्य लोग इसे यहाँ की सर्दी की रात मानते हैं।

उसी में एक स्थान पर लिखा है कि—‘अन्धकार के दीर्घ अन्त देख पड़ते हैं।^२ परन्तु इसी ऋचा के उत्तरार्द्ध में अहोरात्र सूर्य का पूर्व में उदय होना कहा है। अतः यह ध्रुव का वर्णन नहीं हो सकता। वहाँ तो वह दक्षिण में दिखाई

देता है। ऋग्वेद के रात्रि सूक्त में रात्रि से अपने लिए सुतरा (आसानी से पार करने लायक) होने की प्रार्थना की गई है।^३ परन्तु इसी की पांचवीं ऋचा में रात्रि में सब का सोना कहा है। यदि यहाँ पर सुतरा होने की प्रार्थना से इसे ध्रुव प्रदेश की ६ महीने की रात मानें तो क्या वहाँ पर मनुष्य और पशु-पक्षी इतने लंबे काल तक सोते ही रहते थे। अतः यह ध्रुव प्रदेश की रात्रि का वर्णन न होकर सप्त सिन्धु की रात्रि का ही वर्णन है। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है—‘हे चित्रासु ! हम तुम्हें पार कर लें।’ उसी में आगे लिखा है :—‘चित्रावसु रात्रि है।’ इस से ध्वनित होता है कि प्राचीन काल में ध्रुव की लंबी रात्रि के कारण ब्राह्मण डरते थे कि अब शायद प्रभात न होगा। परन्तु सायणाचार्य यहाँ पर ब्राह्मणों का हेमन्त की रात्रि से डरना मानते हैं।

ऋग्वेद में ‘नानावपु’ वाले दिन-रात का उल्लेख मिलता है।^४ पृथ्वी पर विषुवत् रेखा को छोड़ कर अन्य भिन्न-भिन्न दूरी वाले स्थानों पर भिन्न-भिन्न लंबाई का अहोरात्र होता है। इसके अतिरिक्त ऋतुओं के अनुसार भी अहोरात्र की लंबाई में भिन्नता होती रहती है। उपर्युक्त मन्त्र में दिन-रात को नानावपु वाला कहकर इसी बात का संकेत किया गया है। इस उल्लेख से ध्रुव परके अहोरात्र का तात्पर्य लेने की आवश्यकता नहीं है। पुनश्च इसी मन्त्र में अहोरात्र के दो विशेषण दिये हैं। चमकता और कृष्णवर्ण, तथा गोरा और सांवला। इसी प्रकार उस संहिता में दूसरे स्थान पर ‘उपासानक्ता’ और ‘अहनी’ ये रात-

१. मं. २, सू. २७, ऋ. १४.

२. मं. ७, सू. ६७, ऋ. २-३.

३. मं. १०, सू. १२७, ऋ. ६.

४. १, ५, ५, ४.

५. १, ५, ७, ५.

६. मं. ३, सू. ५५, ऋ. ११.

७. मं. ४, सू. ५५, ऋ. ३.

दिन वाची दो शब्द एक ही स्थान पर मिलते हैं। यद्यपि श्री तिलक इनका अर्थ लंबे दिन-रात और साधारण दिन-रात करते हैं; तथापि अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। सायण 'अहनी' का अर्थ द्यावापृथ्वी करता है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है—^१'सूर्य ने आकाश के बीच अपने रथ को छोड़ दिया।' श्री तिलक इससे ध्रुव पर के लंबे दिन का तात्पर्य लेते हैं। परन्तु ध्रुव प्रदेश पर सूर्य बराबर घूमता रहता है, ठहरता नहीं है। सायण इसका तात्पर्य लगाम को ढीला छोड़कर रथ को अन्धकार से शीघ्र बाहर लाना मानते हैं। उसी संहिता में एक स्थान^२ पर 'दीर्घाः तमिस्राः' से बचने की प्रार्थना की गई है। इसी सूक्त के पांचवें मन्त्र में पापों को छोड़ने की इच्छा प्रकट की गई है और अगले नवें मन्त्र में पुण्यात्माओं का वर्णन है। अतः इस सूक्त में के 'दीर्घाः तमिस्राः' से ध्रुव की लंबी रात का आशय न होकर पापान्धकार का आशय हो सकता है।

देवयान से प्रकाशमय तथा देवताओं और धर्मात्माओं के मार्ग का तात्पर्य है, और पितृयान से अन्धकारमय तथा पितरों और साधारण जनों के मार्ग का संकेत है। इसे यमलोक का मार्ग भी कहते हैं। परन्तु श्री तिलक

देवयान इनसे ध्रुव प्रदेश के लंबे दिन और लंबी रात का आशय
पितृयान लेते हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर देवयान का उल्लेख
मिलता है।^३ परन्तु उससे ध्रुव प्रदेश के दिन का कोई
संबन्ध प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त उसके सातवें मण्डल के एक
मन्त्र^४ में उषा के केतु का पूर्व दिशा में दिखाई देना कहा है। यह सप्तसिन्धु
से ही संबन्ध रखता है, ध्रुव प्रदेश में तो उषा दक्षिण में दिखाई पड़ती है। उक्त
संहिता में देवयान तथा पितृयान दोनों का उल्लेख^५ और दोनों की भिन्नता^६ का
वर्णन भी किया गया है।

१. मं. १०, सू. १३८, ऋ. ३.

२. मं. २, सू. २७, ऋ. १४.

३. मं. १, सू. ७२, ऋ. ७; मं. १, सू. १८३, ऋ. ६, और मं. ७, सू. ७६, ऋ. २.

४. मं. ७, सू. ७६, ऋ. २.

५. मं. १०, सू. ८८, ऋ. १५.

६. मं. १०, सू. १८, ऋ. १.

शतपथ ब्राह्मण में^१ वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा को देव-ऋतु तथा शरद्, हेमन्त और शिशिर को पितृ ऋतु कहा है। श्री तिलक इनका संबन्ध भी ध्रुवप्रदेश के दिन-रात से करते हैं। परन्तु यह विचारणीय है; क्योंकि वहीं पर लिखा है कि—शुक्ल पक्ष देव पक्ष और कृष्ण पक्ष पितृ पक्ष है। इसी प्रकार दिन और दिन का पूर्व काल देवकाल, तथा दिन का उत्तरार्द्ध और रात्रि पितृ काल, है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि देवों का एक दिन मनुष्यों के एक वर्ष के बराबर होता है। यह कथन केवल काल का मान निश्चित करने को है। जैसे पितरों का एक दिन मनुष्यों के एक मास का माना गया है।

पारसियों की एक कथा में कहा गया कि—देवों के उत्पीडन से दुःखी होकर सूर्य और चन्द्र ने भ्रमण करना छोड़ दिया, और वे एक ही स्थान पर खड़े हो गये। तब फ़वशियों (पितरों) ने उन्हें असुरों का बनाया मार्ग और मज्द का बनाया मार्ग दिखलाया। इससे उन दोनों की मुक्ति हुई। इस कथा में सूर्य के साथ चन्द्र के होने से इसका संबन्ध भी ध्रुव प्रदेश के दिन-रात से नहीं हो सकता; क्योंकि चन्द्र का उदयास्त सब जगह एक-सा ही रहता है।

ऋग्वेद में कहीं सूर्य के सात चक्कों वाले रथ में सात घोड़ों का^२, कहीं सात घोड़ियों का^३, कहीं (उसके एक चक्ररथ में) सात नामों वाले घोड़े का^४ जुड़ा होना कहा गया है। इसी प्रकार कहीं सात सूर्यों का भी कथन है।^५ एक स्थान पर लिखा है^६ कि अदिति अपने आठ पुत्रों में से सात को साथ लेकर और आठवें को आकाश में छोड़कर स्वर्ग चली गई। लोकमान्य तिलक इन उल्लेखों से सात महीने वाले ध्रुव प्रदेश के दिन का तात्पर्य लेते हैं; जिसमें बराबर यज्ञ होता रहता है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर सूर्य के दस घोड़ों का उल्लेख है।^७ श्री तिलक इससे दस महीने वाले दिन का संकेत मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण में १२ आदित्य कहे हैं।^८ ये आजकल माने जाने वाले वर्ष के १२ महीनों के कारण ही कहे गये होंगे।

१. २, १, ३, १.

२. मं. १, सू. ५०, ऋ. ८.

३. मं. १, सू. ५०, ऋ. ९.

४. मं. १, सू. २६४, ऋ. २.

५. मं. ९, सू. ११४, ऋ. ३.

६. मं. १०, सू. ७२, ऋ. ८-९.

७. मं. ९, सू. ६३, ऋ. ९.

८. ११-६-३-८.

उपर्युक्त सात महीने व दस महीने वाले दिन का निष्कर्ष संभवतः सूर्य और आदित्य को एक मानकर निकाला गया है। परन्तु ऋग्वेद से इन की भिन्नता प्रकट होती है। उसमें एक स्थान पर अनेक सूर्यों और आदित्यों का उल्लेख है।^१ दूसरे स्थान पर सूर्य को अनेक कहा है।^२ ऐसा संभवतः उसके १२ राशियों, २७ नक्षत्रों और वर्ष के ३६५ दिनों में भ्रमण करने के कारण ही कहा गया होगा। सूर्य और आदित्य की भिन्नता दूसरे मन्त्रों में सूर्य, मित्र और वरुण का एक साथ उल्लेख मिलने^३ से भी सिद्ध होती है।^४ एक स्थान पर आदित्यों का वर्णन भी किया है।^५ ये आदित्य गण सूर्य से अधिक महत्व रखते थे।^६

श्री तिलक के उपर्युक्त मत को नहीं मानने वाले विद्वानों का मत है कि सूर्य के रथ के सात घोड़ों से उसका भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् इन सात लोकों के धारक होने का तात्पर्य है, अथवा उसके प्रकाश में के सात रंगों का तात्पर्य हो सकता है। इसी प्रकार उसके रथ के दस घोड़ों से दस दिशाओं का संकेत अधिक संगत प्रतीत होता है। यह बात आगे के अवतरणों से भी सिद्ध होती है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर ६ आदित्यों का उल्लेख है^७ और उसके आगे लिखा है कि ये तीनों भूमियों और तीनों दिव्य लोकों को धारण करते हैं।^८ उक्त दोनों स्थानों पर सातवां प्रसंग से लिया जा सकता है। पहले एक मन्त्र^९ में अनेक सूर्यों और सात आदित्यों के कथन का उल्लेख कर चुके हैं। उसी में सात आदित्यों के साथ सात दिशाओं का भी कथन है। यहां पर सोम की दिशा को छोड़ देने से ६ आदित्यों की संगति ठीक हो जाती है। इसी प्रकार उक्त संहिता में एक

१. मं. ९, सू. ११४, ऋ. ३; तैत्तिरीय संहिता १, ७.

२. मं. ९, सू. ११४, ऋ. ३.

३. मं. ७, सू. ६०, ऋ. १, और ४.

४. क्योंकि मित्र और वरुण आदित्यों में हैं।

५. मं. २, सू. २७, ऋ. २-४.

६. पारसी लोग (सूर्याभिमानी) मिथ्र का प्रकाशकर्ता देव उर्मज्द (सूर्य) और रात्रि के कर्ता देव अहिमन को उत्पन्न करना मानते हैं।

७. मं. २, सू. २७, ऋ. १.

८. मं. २, सू. २७, ऋ. ८.

९. मं. ९, सू. ११४, ऋ. ३.

स्थान^१ पर लिखा है कि ६ जोड़ी वाली (दो-दो महीने की) ऋतुएँ देवज हैं। सातवीं (अधिक मास वाली) अकेली है। (ये सातों आदित्यों के साथ उत्पन्न हुई हैं)। अतः सात आदित्यों का इन से संबन्ध हो सकता है। इन सब बातों का सार यही प्रतीत होता है कि सूर्य दसों दिशाओं और सातों ऋतुओं में प्रकाश प्रसारित करते रहते हैं। इसी से उनके लिए उक्त प्रकार के वर्णन मिलते हैं। यहाँ पर ध्रुव प्रदेश के सात मास के और दस मास के दिनों की कल्पना की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में अङ्गिरा, ययाति, भृगु, अथर्वा, दध्यञ्च, अत्रि और कण्व के नाम आते हैं। कुछ लोग इन्हें व्यक्तियों के नाम न मानकर प्रसिद्ध याजक गोत्रों के नाम मानते हैं, और इनके लिए किये बहुवचन के प्रयोग को आदरार्थ समझते हैं।^१ वहीं पर मिलने वाले 'नवगवा' शब्द का अर्थ^२ नौ महीने का यज्ञ करने वाला, 'दशगवा' का अर्थ दस महीने का यज्ञ करने वाला (अङ्गिरा) किया जाता है। इसी प्रकार 'सप्तगु' सात महीने के यज्ञ करते वाले अङ्गिराओं का उल्लेख भी मिलता है।^३ उक्त संहिता में 'नवगवों' और 'दशगवों' के यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है।^४ वहाँ पर 'नवगवों' का दस मास का यज्ञ करना लिखा है। एक स्थान पर अङ्गिरसों के (जिनमें 'नवगव' और 'दशगव' श्रेष्ठ थे^५) कार्यों का वर्णन है।^६ इन यज्ञों का उद्देश्य अङ्गिराओं का गो-विभाग^७ या गायों की खोज करना कहा है।^८ लोकमान्य तिलक इनको ध्रुव प्रदेश के ९ या १० महीने वाले दिनों के यज्ञ मानते हैं।^९ ये यज्ञ उषा के दर्शन होने से

१. मं. १, सू. १६४, ऋ. १५.

२. मं. १०, सू. १४, ऋ. ६.

३. मं. १०, सू. ६२, ऋ. ५ और ६.

४. मं. १०, सू. ४७, ऋ. ६.

५. मं. ५, सू. ४५, ऋ. ७ व ११; सायण भाष्य मं. १, सू. ६२, ऋ. ४.

६. मं. १०, सू. ६२, ऋ. ६.

७. मं. १०, सू. ३२, ऋ. २ व ३.

८. मं. १०, सू. १०८, ऋ. ८.

९. मं. ३, सू., ३९ ऋ. ५,

१०. विपक्षियों का यह भी पक्ष है कि यदि वेद में ध्रुव प्रदेश के एक वर्ष से एक दिन का तात्पर्य माना जाय, तो शतायु होने के आशीर्वाद की चरितार्थता कैसे होगी ?

प्रारम्भ होते थे । उक्त प्रदेश में देशान्तर के भद से किसी स्थान पर सात मास का अथवा छः मास का दिन होता था । इसी से अङ्गिरसों को विरूप (ननारूप) भी कहा है ।^१ एक स्थान पर लिखा है कि यज्ञ करने वाले अङ्गिरसों ने सत्र या वर्ष के अन्त में वल से गायों का उद्धार करने में इन्द्र को सहायता दी ।^२ दूसरे स्थान पर लिखा है कि अङ्गिरसों ने सूर्य को (अन्धकार से निकालकर) प्रकाश में स्थापित किया ।^३ इससे प्रकट होता है कि वास्तव में वल (मेघ) ने गायों (सूर्य किरणों या जल धाराओं) को रोक रखा था । अन्त में अङ्गिरसों के नवग्व, दशग्व यज्ञों से शक्ति पाकर इन्द्र ने मेघ को मारकर वर्षा करवाई और सूर्य भी बादलों से बाहर निकला । अतः उपर्युक्त वर्णन इन यज्ञों का वर्षा से पहले समाप्त होना ही प्रकट करते हैं । श्री तिलक ने जो इन यज्ञों का उषा से संबन्ध बतलाया है, वह ठीक नहीं है । वहाँ पर उषा को तो केवल अन्धकार को दूर करने वाली कहा है ।^४ इसी प्रकार उक्त संहिता में अन्य प्रमाणों से भी उपर्युक्त बातों का वर्षा से ही सम्बन्ध होना प्रकट होता है,^५ ध्रुव प्रदेश के दीर्घ अहोरात्र से नहीं । इसके अतिरिक्त यदि 'नवग्व', दशग्व का तात्पर्य ध्रुव प्रदेश के ९ या १० महीने वाले यज्ञों का मान लिया जाय, तो 'शतग्व' का अर्थ क्या होगा ?

लोकमान्य तिलक दीर्घतमा उच्यते के पुत्र के आख्यान में भी आयों के ध्रुव प्रदेश के निवास की झलक देखते हैं । ऋग्वेद में इसकी कथा इस प्रकार मिलती है :—औच्य के भरण-पोषण से तंग आकर इसके पुत्रों ने इसे आग में और जल में फेंका । दास त्रैतन ने इसे घायल किया । परन्तु अश्विनो ने

१. मं. १०, सू. ६२, ऋ. ५-६.

२. मं. १०, सू. ६२, ऋ. २.

३. मं. १०, सू. ६२, ऋ. ३.

४. मं. २, सू. ३४ और १२.

५. मं. ५, सू. ४५, ऋ. ११ और १२.

१. मं. १, सू. १५८, ऋ. ४-६ । महाभारत में इसकी माता का नाम ममता और पत्नी का नाम प्रद्वेपी मिलता है । यह जन्मान्ध था । इसके पुत्रों ने इसके भरण-पोषण से तंग आकर इसे बाँसों के बेड़े पर बिठाकर गङ्गा में बहा दिया । वहाँ यह बलि के हाथ लगा । इसके बाद वहाँ पर इसके बलि की स्त्री से और एक दासी से कई पुत्र उत्पन्न हुए ।

इसकी रक्षा की। मामतेय दीर्घतमा जब १०वें युग में वृद्ध हो गया, तब यह जलों के लिये यतियों का ब्रह्मा सारथी हो गया।

ऋग्वेद में भी त्रित नाम मिलता है। कहते हैं कि यज्ञ में गिरे हव्य को घोने के लिये अग्नि ने जल से तीन देवता बनाये—एक, द्वित और त्रित। जल से उत्पन्न होने के कारण ये 'आप्य' हुए। एक बार जल पीते समय ये आप्य कुँए में गिर पड़े। असुरों ने उस कुँए का मुँह बन्द कर दिया। पर त्रित किसी प्रकार बाहर निकल आये। इन्द्र की प्रेरणा से प्राप्त्य ने अपने पिता के शस्त्र लेकर सप्तरश्मि, (त्वष्टा के पुत्र) त्रिशिरस्क त्वाष्ट्र को मार डाला और गायों को छुड़वाया। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर लिखा है^१ :—इन्द्र ने भयंकर शब्द करने वाले तृत्र को मारा, तीन सिर और छः आँखों वाले त्वष्टा के पुत्र (विश्वरूप) को मारने की इच्छा की तथा इन्द्र के तेज से बल पाकर त्रित ने बराह (जलपूर्ण मेघ) को मारा।

श्री अभिनाशचन्द्र दास त्रित और त्रैतन को एक ही मानते हैं। उनका कथन है कि यद्यपि त्रित का अग्नि पुत्र होना और त्रैतन का दास होना लिखा मिलता है, तथापि दीर्घतमा और त्रित की जीवन की घटनाएँ समान-सी ही हैं।

कुछ लोग वेदांग ज्योतिष के अनुसार युग का अर्थ ५ वर्ष करते हैं और जलों के लिये यतियों का ब्रह्मा सारथी होने का तात्पर्य जल (वैदिक यज्ञादि कर्म) के लिये यति (प्राप्त करने वाला) होना कहते हैं। अर्थात् वह कर्मों के फल रूप देवत्व को प्राप्त करने वाला हो गया (यद्यपि वह संकटों के कारण ५० वर्ष में ही वृद्ध हो गया, तथापि अपने सत्कर्मों से प्रशंसनीय हो गया)। श्री तिलक युग का अर्थ मास करते हैं और उसका जलों के साथ जाना मानते हैं।

ऋग्वेद में दो स्थानों पर एक मन्त्र मिलता है।^१ उसमें अग्नि द्वारा इस (दीर्घतमा) का अन्वापन दूर करना कहा गया है। यह प्राकृतिक दृश्य का एक रूपक भी हो सकता है और एक ऐतिहासिक घटना भी हो सकती है। श्री तिलक इस कथन से दीर्घतमा सूर्य का दस महीने चमक कर वृद्ध होना

१. मं. १०, सू. ८, ऋ. ८.

२. मं. १०, सू. १९, ऋ. ६.

३. मं. १, सू. १४७, ऋ. ३. और मं. ४, सू. ४, ऋ. १३.

और आकाशस्थ जलधाराओं के साथ समुद्र में (क्षितिज के नीचे) चले जाना मानते हैं तथा अग्नि द्वारा फिर से दृष्टि प्राप्ति को सूर्य का फिर से उदय होना बतलाते हैं। परन्तु यदि युग का अर्थ मास और दीर्घतमा का अर्थ सूर्य भी मान लिया जाय, तो भी इससे सूर्य का दस मास बाद वर्षा ऋतु के आने पर बादलों में छिपना और वर्षान्त में फिर से प्रकट होना ही प्रकट होता है। इसी प्रकार त्रित की कथा भी इसका समर्थन करती है। उसके अनुसार त्रित को अग्नि ने बनाया। वह कुँए (अंधेरे) में गिरा। वहाँ से वह फिर बाहर आया। उसने अपने पिता (अग्नि) के बिजली रूपी अस्त्र से असुर को मारा। अर्थात्—जल पूर्ण बादल को विदीर्ण किया। तथा गायों (सूर्य की किरणों या जलधाराओं) का उद्धार किया। वृत्र (बादल) बड़ा गरजने वाला था। सूर्य की किरणों को चुराने (आच्छादित) करने के कारण यह सप्तरश्मि कहाया। वह वर्षा के तीन मास के कारण तीन सिर वाला और तीन मास में सूर्य के छः नक्षत्र बीतने के कारण छः नेत्रों वाला कहा गया है अथवा तीन मस्तक वाला होने से छः आँखों वाला माना गया है। सूर्य के लिये दीर्घतमा शब्द का प्रयोग भी उसके बहुत समय तक बादलों से छिपे रहने के तात्पर्य को ही प्रकट करता है। यहाँ पर ध्रुव प्रदेश का सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वृत्र आदि असुरवाची शब्द ऋग्वेद में बादल के लिये ही प्रयुक्त हुए हैं।^१ ऋग्वेद के एक मंत्र में वर्षा का वर्णन इस प्रकार

१. मं. १, सू. ५६, ऋ. ५ और ६.

आर्य ७ श्लोक और ७ आदित्य मानते हैं। पारसी ७ कश्चरे तथा ७ अघिष्ठाता मानते हैं। उनके मतानुसार एक अहर्मुज्द ही ७ रूप धर सातों लोकों का शासन करता है। इन ७ शासक असुरों को 'अमेषस्पेन्त' (अमर हितकारी) कहते हैं। भूलोक को वे (पारसी) 'ख्वनिरथ' और उसके स्वामी को 'क्षत्रवैर्य' कहते हैं। अवेस्ता में भी जल और प्रकाश के लिये युद्ध का वर्णन मिलता है। कहीं ख्वरेनों के प्रकाश के लिये आतर (अग्नि) और अजि (अहि) दहाक में युद्ध होता है, कहीं अपीष वर्षा को रोकता है और तिश्च्य उससे लड़ता है। पहले वह (तिश्च्य) पराजित हो जाता है। परन्तु बाद में यज्ञ से बल पाकर वह अजि को अपनी गदा (अग्निरूपी वाजिश्त) से मारता है और मरुतों के बताये मार्ग से जल बह निकलता है। त्रैतन की कथा भी अवेस्ता में है। उसमें त्रैतन और त्रित आपत्य दोनों की कथाओं का मेल मिलता है। इससे भी इन दोनों

मिलता है^१—कहा जाता है कि आकाश के दूसरे आधे भाग में १२ रूपों (महीनों) और ५ पैरों (ऋतुओं) वाला (भाप से ढका) पितर है। दूसरे कहते हैं कि इधर वाले आधे में सात चक्कों (किरणों) और छः (ऋतुओं) वाले रथ में विचक्षण (दूरदर्शी) बैठा है।

लोकमान्य तिलक के मतानुसार इस मंत्र के पूर्वार्ध में ध्रुवप्रदेशीय वर्ष का उल्लेख है। (क्योंकि वहाँ पर पाँच ऋतुओं के बाद सूर्य भाप से ढक जाता था। क्षितिज के नीचे चला जाता था)। तथा ध्रुवकाल की स्मृति मात्र के रह जाने से उस स्थान के लिए 'परे अर्धे' (दूर वाले आधे में) शब्द काम में लिया गया है। उत्तरार्ध में सप्तसिन्धु के वर्ष का उल्लेख है। इसीसे यहाँ पर लोगों के लिये 'इमे' (सामने वाले) शब्द का प्रयोग किया है। सूर्य को 'विचक्षण' (अधरे से बचाने वाला—चतुर) कहा है। यह सूर्य प्रतिदिन दीखता था। इसीसे यहाँ पर स्थान के लिये 'उपरे' (इधर वाले) शब्द का उपयोग हुआ है। परन्तु इस मत से असहमत लोगों का कहना है कि क्या ध्रुव प्रदेश पर लोग दो महीने लगातार सोते रहते थे, जिससे उन्हें सर्दी और गर्मी का अनुभव नहीं होता था और उन्होंने इन दो महीनों में रहने वाली छठी ऋतु मानने की आवश्यकता ही नहीं समझी। इसके अतिरिक्त यहाँ पर पाँच ऋतु कहने का क्या तात्पर्य है? भाष्यकार तो वर्षा और शरत् अथवा हेमन्त और शिशिर को एक मानकर इसकी संगति करते हैं। वर्षा और शिशिर में काफी भेद होने पर भी हेमन्त तथा शिशिर में विशेष भेद नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता भी इसका समर्थन करते हैं। श्री दास यहाँ पर वर्ष के दो भागों का तात्पर्य मानते हैं। एक भाग वह था, जिसमें वर्षा ऋतु अन्तर्भूत थी। सूर्य पुरुषी (भाप) से ढक जाता था।^१ दूसरा वह था, जब वर्षा समाप्त हो चुकी होती थी। सूर्य विचक्षण हो जाता था। परन्तु वर्ष के एक अर्ध भाग में पाँच ऋतुएँ और दूसरे अर्ध भाग में छः ऋतुएँ कैसे हो सकती हैं कुछ लोग मंत्र के पूर्वार्ध में वर्षा के पाँच महीने के पूर्वार्ध (चैत्र से श्रावण तक) का, और

का एक होना प्रकट होता है। अवेस्ता के अनुसार श्रौतौन अथ्व्य से अजिदहाक (अहिदैत्य) का, जो त्वाष्ट्र के समान तीन सिर और छः आंखों वाला था, चतुष्कोण वरेण (वरुण=आकाश) में युद्ध हुआ। श्रौतौन ने अहि को मार डाला।

१. मं. १, सू. १६४, ऋ. १२.

२. मं. १, सू. १६४, ऋ. १४.

उत्तरार्ध में वर्ष के सात महीने के उत्तरार्ध (भाद्रपद से फाल्गुन तक) का वर्णन होना अनुमान करते हैं। (अर्थात्—वर्ष में १२ महीने और छः ऋतुएँ होती हैं। इसका पूर्वार्ध पाँच महीने का और उत्तरार्ध सात महीने का माना जाता था)। सायण ने भाष्य करते हुए लिखा है कि कोई इस वर्ष को 'पंचपाद' (पाँच ऋतुओं वाला) और कोई 'षडार' (छः ऋतुओं वाला) कहते हैं। इस प्रकार ऋतुओं के सम्बन्ध में दो मत प्रकट किये हैं। परन्तु यहाँ पर भी ध्रुव निवास की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती।

श्री तिलक प्रवर्ग्य^१ यज्ञ के विधान से और उसमें पढ़े जाने वाले मंत्रों^२ से ध्रुव प्रदेश के दस महीने के दिन का तात्पर्य लेते हैं।

प्रवर्ग्य यज्ञ परन्तु अन्य लोग दस मास बाद वर्षा काल के आने और सूर्य के बादलों में छिपने का अर्थ मानते हैं, और अपने मत की पुष्टि में शुक्ल यजुर्वेद^३ के प्रवर्ग्याग्नि-सम्बन्धी चौबीस मंत्र उपस्थित करते हैं।

इसी प्रकार गवामयन^४ यज्ञ में दस महीने और बारह महीने तक यज्ञ को जारी रखने का जो उल्लेख है, उससे लोकमान्य **गवामयन** तिलक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ध्रुवप्रदेश पर १० मास का दिन होने से १० महीने का यज्ञ

होता था, और सप्तसिन्धु में आने पर १२ मास का होने लगा। परन्तु अन्य लोगों का कहना है कि यहाँ पर सप्तसिन्धु में जो लोग वर्षा में यज्ञ बन्द कर देते थे, उनके दस मास यज्ञ करने का और जो वर्षा में यज्ञ बन्द नहीं करते थे, उनके बारह मास के यज्ञ करने का उल्लेख मात्र है।

श्री तिलक ने रात्रि सत्रों (रात्रि ऋतुओं) से भी आयों के ध्रुवप्रदेश के निवास की पुष्टि की है। इन सत्रों में सबसे छोटा सत्र एक रात्रि^५ में और

१. ऐतरेय ब्राह्मण १, १८, १२.

२. मं. ८, सू. ६१, ऋ. ७-८ और मं. ७, सू. १०१, ऋ. ४.

३. अध्याय ३६ (कण्डिका १०, १२).

४. ऐतरेय ब्राह्मण ४-१७। तैत्तिरिय संहिता ७, ५, १-२.

५. मीमांसक यहाँ पर रात्रि का अर्थ दिन करते हैं। जैमिनि ८, १, १७ पर शारदा भाष्य।

सबसे बड़ा सौ रात्रियों में समाप्त होता था। श्री
रात्रिसत्र अथवा तिलक के मतानुसार यह यज्ञ ध्रुवप्रदेश के उस सात
शम्बर युद्ध महीने के दिन वाले भागों में होता था, जहाँ सात
 महीने का दिन, एक महीने का प्रातःकाल, एक
 महीने का सायंकाल और तीन महीने की रात होती थी। अतः यह यज्ञ
 तीन मास के करीब १५ रात्रियों में समाप्त होता था और उक्त यज्ञ और
 उसमें के सोमगान से बल पाकर इन्द्र उस अन्धकार में बल आदि असुरों
 से लड़ता था परन्तु विरुद्ध मत वालों का कहना है कि इन्द्र और वृत्र
 का युद्ध वर्षा काल से सम्बन्ध रखता है। अतः यह यज्ञ वर्षा के तीन
 महिनों में ही होता था। श्री लोकमान्य तिलक के उद्धृत किये लाट्यायान श्रौत्र
 सूत्र^१ के अवतरण में आदेश है कि वर्ष (वार्षिक सत्र) की समाप्ति पर रात्रि
 सत्रों में राजा (सोम) को खरीदा जाय। वार्षिक सत्र गवामयन दस मास में
 समाप्त हो सकता था। उसके बाद वर्षा में रात्रि सत्र होते होंगे। उसी समय सोम
 के खरीदने का आदेश है। ऋग्वेद में इन्द्र को 'शतक्रतु' कहा है। श्री तिलक
 शतरात्र यज्ञ के कारण ही इन्द्र का यह नाम होना मानते हैं।^२ ऋग्वेद में एक
 स्थान पर जल को ढकने वाले वृत्र, शम्बर और वर्ची को परास्त करने वाले
 इंद्र को सोम पिलाने का आदेश दिया है।^३ इससे भी इन बातों का संबंध
 ध्रुव निवास से न होकर वर्षा से होना ही प्रतीत होता है।

१. लाट्यायन श्रौत्र सूत्र ८, २, १६.

२. पुराणों में सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले का इन्द्र होना कहा है।
 अवेस्ता में इन्द्र को सौ शक्तियों वाला 'मेष' कहा है। (यश्त १४, २३ और
 १७, ५६)। ऋग्वेद में इन्द्र का मेघ्यातिथि की सहायता के लिए मेष बनने
 का उल्लेख है (मं. ८, सू. २, ऋ. ४०)। परन्तु श्री तिलक अवेस्ता में के
 'सत्तोकरहे' का अर्थ सौ क्रतु वाला करते हैं; क्योंकि रात्रि के सत्र के समय
 सौ दिनों तक इन्द्र बराबर युद्ध करता रहता था।

३. मं. २, सू. १४, ऋ. २ और ६। (सोम सप्तसिन्धु में ही होता था।)

श्री तिलक ध्रुव प्रवेश के लंबे दिन के कारण किसी समय आर्यों में दस
 मास के वर्ष के होने का अनुमान करते हैं। रोमन वर्ष के पिछले चार महीने
 सितम्बर (सप्तम मास), अक्तूबर (अष्टम मास), नवम्बर (नवम मास) और
 दिसम्बर (दसम मास) थे परन्तु जिस समय ध्रुवप्रदेश के आर्य रात्रिसत्र

ऋग्वेद में इन्द्र का सिन्धु को उदञ्चवाहिनी करना^१, पर्वत के द्वार को खोलना^२ तथा अर्बुद को हिम से नष्ट करना कहा
 अवरुद्ध जल है।^३ परन्तु यदि इसे वर्षा का वर्णन मानें और हिम प्रसिद्ध अर्थ वरफ़ समझा जाय तो वर्षा ऋतु में वरफ़ का गिरना सिद्ध नहीं है।

इन्द्र के द्वारा नष्ट किये गये वृत्र के पुरों को 'शारद' कहा गया है। इसका समाधान वर्षा और शरद् को एक मानकर किया जाता है। परन्तु ऋग्वेद^४ में अङ्गिरो गण का वल को 'परिवत्सरे' (वर्ष के अन्त में) मारना लिखा है। इससे उस समय वर्ष का अन्त वर्षा-शरद् में माना जाना सिद्ध होता है। अतः शरद् शब्द का अर्थ वर्षा करना होगा, जो अद्भुत-सा प्रतीत होगा। उसी संहिता में इन्द्र का शम्बर को ४०वें शरद् में खोज निकालना कहा है।^५ यहां पर जीवेम शरदः शतम्' के अनुसार ही शरद् का अर्थ वर्ष माना जाय, तो इन्द्र का शम्बर को ४० वर्ष में खोज निकालना मानना होगा। फिर यदि नैरुक्तों के अनुसार पर्वत का अर्थ बादल करें, तो पूर्वोक्त मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार होगा— 'शम्बर ४० वर्ष तक बादल में छिपा रहा।' परन्तु बादल का लगातार ४० वर्ष तक रहना असम्भव बात ही है।

करते थे, उस समय क्या वे दो मासों की रात्रियों में चेतनाहीन हो जाते थे? यदि नहीं तो फिर उस समय को मासों में विभाजित करने में क्या बाधा थी? रोमन वर्ष के विषय में प्लुटार्क लिखता है कि न्यूमा ने १० महीनों के वर्ष में दो महीने जोड़कर उसे १२ महीने का कर दिया। परन्तु अन्य मतावलम्बियों का कहना है कि उस (न्यूमा) ने पिछले २ महीनों को वर्ष के आदि में ले लिया। अर्थात्—ग्यारहवें मास जनवरी और बारहवें मास फरवरी को पहला और दूसरा मास बना दिया।

१. मं. २, सू. १५, ऋ. ६, (उदञ्चवाहिनी—उत्तर वाहिनी)।
२. मं. २, सू. १५, ऋ. ८. (नैरुक्त पर्वत शब्द का अर्थ बादल करते हैं)।
३. मं. ८, सू. ३२, ऋ. २६. (नैरुक्त अर्बुद शब्द का अर्थ बादल और हिम का अर्थ जल करते हैं)।
४. मं. १०, सू. ६२, ऋ. २.
५. मं. २, सू. १२, ऋ. ११.

श्री तिलक इसका समाधान ध्रुव प्रदेश में रहने वाले कई मास के अन्धकार का आश्रय लेकर करते हैं। उनका कथन है कि ध्रुवप्रदेश में लम्बी रात के बाद उषा का उदय होता है और इस लम्बी रात में हिमपात भी होता है। अथवा इसका अर्थ इन्द्र का शम्बर को शरत् के ४०वें दिन ढूँढ निकालना भी किया जा सकता है। उस समय भी आजकल के समान ही वर्षा वसन्त से प्रारम्भ होता था। शरत् वर्ष का चौथा ऋतु था। अतः शरत् के ४०वें दिन अर्थात्—वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा के समाप्त होने के ४० दिन बाद (सात मास और नौ दिन बीतने पर १०वें दिन अथवा ३० दिन का महीना मानकर वर्षारम्भ से २२० वें दिन) इन्द्र ने शम्बर का पता पाया। (उस दिन इन्द्र और शम्बर का युद्ध प्रारम्भ हुआ।) अर्थात् उस दिन रात प्रारम्भ हुई और अँधेरा छा गया। इतना लम्बा दिन ध्रुव प्रदेश में ही हो सकता है। जल के—‘उदञ्च’ (ऊपर) करने के विषय में उनका कहना है कि आर्य और पारसी पृथ्वी को सूक्ष्म जल कणों से घिरी मानते थे।^१ यह जल मण्डल घूमता रहता है। इसी से

१. ऋग्वेद में ‘दिव्या आपः’ (मं. ७, सू. ४९. ऋ. २) इसी सूक्ष्म जल के लिए प्रयुक्त हुआ है। यही जगत् का उपादान कारण है; क्योंकि पहले अन्धकार और जल ही थे (मं. १०. सू. १२९. ऋ. ३)। सबसे पूर्व जल ने ही गर्भ धारण किया था (मं. १०. सू. ८२, ऋ. ५-६)। शतपथ ब्राह्मण में भी सबका पहले जल रूप में ही होना कहा है (११, १, ६, १.)।

परन्तु विरोधी पक्ष वाले ‘दिव्या आपः’ से भाप या मेघ के जल का ही तात्पर्य मानते हैं। इन्द्र के सिन्धु को उदञ्च वाहिनी करने के विषय में उनका कथन है कि सायण ने जो उदञ्च का अर्थ उत्तर किया है वही ठीक है। सिन्धु पहले हिमालय के साथ-साथ पूर्व से पश्चिम को बहती है और काश्मीर पहुँचकर उत्तराभिमुखी हो जाती है, तथा बाद में घूमकर दक्षिण की तरफ बहने लगती है।

श्री तिलक का इन्द्र का नदियों को बहाना इन्हीं दिव्य धाराओं को बहाना, और सप्तसिन्धु से सूर्य की सात किरणों का सम्बन्ध मानना भी ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ऋग्वेद में इन्द्र का अपने वज्र से नदियों का मार्ग खोदना (मं. २, सू. १५. ऋ. ३), पहणी को पार करने योग्य बनाना (मं. २, सू. १५. ऋ. ५), और सिन्धु को उदञ्च करना (मं. २, सू. १५. ऋ. ६) एक ही स्थान पर लिखा है। अतः यहाँ पर सप्तसिन्धु की नदियों का ही वर्णन है।

सूर्य, चन्द्र, और तारे चलते हैं। असुर पृथ्वी के नीचे के प्रदेश में रहते थे।^१ वे जब सूक्ष्म जलमण्डल को रोक देते थे, तो सूर्य भी रुक जाता था। (अर्थात् कई मास तक सूर्य अस्त रहता था।) इन्द्र के वृत्र को मारने पर जल मुक्त होकर ऊपर को उठता था और उसी के साथ उषा तथा सूर्य भी ऊपर आते थे।^२ आर्य लोग सूर्यादिक का पहाड़ों की गुफाओं के मार्ग से क्षितिज से ऊपर आना मानते थे। राक्षस लोग उन मार्गों को बन्द कर देते थे, और इन्द्र उन्हें फिर से खोलता था। आजकल की उदयाचल और अस्ताचल की भावना से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

इस बात का तात्पर्य यह निकाला गया है कि—इन्द्र और वृत्र का युद्ध न तो प्रकाश और अन्धकार की और न वर्षा ऋतु में होने वाली इन्द्र और मेघ की लड़ाई है। इसका क्षेत्र अन्तरिक्ष=पृथ्वी के नीचे वाला^३ (क्षितिज के नीचे

ऋग्वेद में उषा का सारे जगत् को प्रकाशित करना (अन्धकार को दूर करना) कहा है (मं. ७. सू. ८०. ऋ. १)।

वैदिक काल के सारे ही कार्य यज्ञ से संबद्ध थे और ये यज्ञ या तो उषा-काल से प्रारम्भ होते थे या (रात्रियज्ञ के से यज्ञ) उषा काल में समाप्त होते थे। अतः आर्यों के जीवन में उषा का विशेष महत्त्व था।

१. ऋक् संहिता में एक स्थान पर असुर के लिए तीन पृथ्वियों के नीचे जाने का शाप होना प्रकट किया है (मं. ७, सू. १०४, ऋ. ११), और अश्विनों को तीनों पृथ्वियों के ऊपर चलने वाला बतलाया है (मं. १. सू. ३४. ऋ. ८)। इससे प्रकट होता है कि आर्य पृथ्वी के नीचे और ऊपर ३-३ लोक मानते थे। हाँ, आज का सा ऊपर-नीचे के ७-७ लोकों का विचार उस समय अस्तित्व में नहीं आया था।

ऋग्वेद में जहाँ दो रजसों का उल्लेख है (मं. ७, सू. ८०, ऋ. १), वहाँ द्यावापृथ्वी और जहाँ कृष्णा रजस् का उल्लेख है (मं. १, सू. ३५, ऋ. २), वहाँ रात्रि मानना ही ठीक है।

२. विपक्षियों का कहना है कि यदि इस अन्तरिक्षचारी जल के रोकने से सूर्य रुक जाता था, तो चन्द्रमा और तारे क्यों नहीं रुकते थे।

३. ऋग्वेद में सूर्य को दूर देश से आने वाला (मं. १. सू. ३५. ऋ. ३), अथवा अंधेरे से बार-बार आने वाला (मं. १. सू. ३५. ऋ. २) कहा है। इससे ज्ञात होता है कि इस अंधेरे लोक का स्थान ऊपर के आकाश में न होकर किसी

वाला) भाग ही है। जब वृत्र आदिक अन्तरिक्ष में दिव्य जल की गति रोक देते थे, तब सूर्य स्थिर हो जाता था। परन्तु जिस समय असुर मारा जाता था, उस समय जल मुक्त हो जाता था, और उसके साथ सूर्य भी चलने लगता था। अर्थात् इन्द्र-और शम्बर का यह युद्ध शरत् से प्रारम्भ होकर शिशिर के अन्त में समाप्त होता था। नये वर्ष (वसन्तारम्भ) से फिर सूर्योदय होने लगता था। नये पेड़-पौधे निकलने लगते थे। ये बातें ध्रुव प्रदेश पर ही संभव हो सकती थीं।^१

परन्तु विरोधी पक्ष इस विवेचना को नहीं मानता। उसका कहना है कि सप्तसिन्धु के तीन ओर समुद्र रहने से यहां पर ३ महीने तक घोर वृष्टि होती थी। आकाश मेघाच्छन्न रहता था। सूर्य बहुत कम ही दिखाई देता था। इसी से इन्द्र के वृत्र का सौ पुरों को तोड़कर 'पुरन्दर' नाम धारण करना, अथवा सौ दिन के रात्रि सत्र के सम्बन्ध से उसका शतक्रतु कहना माना जाने लगा। इन्द्र का यह युद्ध वर्षा के २ मास और शरत् के ४० दिन (इस प्रकार कुल १०० दिनों) में रात्रि सत्र के साथ ही समाप्त होता था। इसी से शरत् के ४०वें दिन शम्बर के मिलने और मारे जाने का उल्लेख किया गया है।

बीच का वर्णन उस मन्त्र में न होने से उसका आशय यही है कि उसी दिन शम्बर का पता लगा और उसी दिन वह मारा गया। श्री तिलक के मतानुसार उस दिन युद्ध का प्रारम्भ होना मानना ठीक नहीं है; क्योंकि मन्त्र के पूर्वार्ध में शम्बर का मिलना और उत्तरार्ध में मारा जाना प्रकट किया गया है। यदि शरत् के ४०वें दिन युद्ध का प्रारम्भ होना मान लिया जाय, तो इन्द्र के लिए शत्रु के १०० पुरों को तोड़ने के लिए १०० दिन नहीं बचते। केवल ४० दिन ही बचते हैं। इन्द्र की यह विजय 'परिवत्सरे' (वर्षान्त) में हुई थी। श्री तिलक ने वर्ष का प्रारम्भ वसन्त से माना है। इसके अनुसार वृत्र-वध शिशिर के अन्त में होगा। परन्तु तैत्तिरीय संहिता^२ में जहाँ 'गवामयनम्' का वर्णन है, वहाँ कहा है—

दूर देश में है। मं. ८. सू. ८. ऋ. १४ में इस 'परावत्' (दूर देश) को आकाश से भिन्न बतलाया है।

पृथ्वी के नीचे का यह प्रदेश वरुण और यम का लोक भी माना जाता है।

१. श्री तिलक के मतानुसार प्राचीन भाष्यकारों को ध्रुव की स्थिति का ज्ञान न होने से वे उक्त मन्त्रों का अर्थ न समझते थे।

२. ७, ५, १, १-२.

“इसलिए बिना सींग वाली गाय वर्षा के दोनों महीनों में प्रसन्न होकर चलती (चरती) है।” इसके बाद के अनुवाक् में कहा है—“उनमें से जिन्होंने कहा कि हम दोनों बाहरवें (अन्तिम) मासों में बैठेंगी और संवत्सर समाप्त करके उठेंगी, ये दो महीने अधिक बैठने वाली ‘तूपरा’ (बिना सींग वाली) गायें थीं।” इन कथनों से प्रकट होता है कि वर्षा के दो मास संवत्सर के अन्तिम दो मास थे। नया वर्ष शरत् से प्रारम्भ होता था।^१ इसी से वृत्र का ‘परिवत्सरे’ (वर्ष के अन्त) में मारा जाना कहा है। हिम बर्फ और ओस का वाची है। कभी-कभी वर्षा ऋतु में ओले गिरते हैं और वर्षा के अन्त और शरत् के प्रारम्भ से ओस गिरने लगती है। अतः अर्बुद का हिम से मारा जाना उचित ही कहा गया है। इस सब का यही तात्पर्य है कि शरद् के ४० वें दिन (कार्तिक लगने के दस दिन बाद) इन्द्र ने शम्बर को मार डाला; अथवा वर्षा ऋतु का पूर्ण रूप से अन्त हो गया। उस समय सूर्य स्वाती या उसके पास के किसी नक्षत्र में रहता होगा। इन्द्र ने शम्बर के १०० पुरों को एक-एक दिन में एक-एक करके तोड़ा तो शरत् के ४० वें दिन ही अन्तिम गड़ टूटा होगा।^१

अश्विन् नाम के देवता दो हैं और सदा साथ रहने के कारण यह (अश्विन्) शब्द द्विवचन में ही प्रयुक्त किया जाता है। कुछ लोग इन अश्विनों से मेघ राशि के अन्तर्गत अश्विनी नक्षत्र में के आस-पास दिखाई देने वाले दो तारों का तात्पर्य लेते हैं, और कुछ लोग इनसे मिथुन राशिस्थ दो तारों का संकेत मानते हैं। अश्विनों के उदय होने (दिखने) का समय ऊषोदय के पूर्व (जिस समय रात्रि के अवसान के समय का अंधेरा और अरुणोदय के पूर्व का उजाला

१. ७, ५, २, १-२.

२. नक्षत्रों की गणना अश्विनी से प्रारम्भ होने से भी वर्षा का शरत् से प्रारम्भ होना सिद्ध होता है। अश्विनी नक्षत्र में पूर्णिमा के दिन शरद् ऋतु के प्रथम मास का चन्द्रमा रहने से यह मास आश्विन कहा जाता है। यदि वर्षारम्भ वसन्त (चैत्र) से होता, तो नक्षत्रगणना चित्रा से प्रारम्भ की जाती।

३. ऋग्वेद में इस पुर-भञ्जन का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

४. पुराणों में ये अश्विनी कुमारों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद में इनका रथ-वाहक गर्दभ कहा गया है (मं. १, सू. ११६, ऋ. २)।

मिलता है,^१ उस समय) होता है। वेदों में अश्विनों को वृत्रहन् और शतक्रतु कहा है, इन्होंने वृत्र-वध में इन्द्र की सहायता की थी। इनमें इन्द्र और मरुतों के बहुत से गुण होने के कारण इन्हें 'इन्द्रतमा' और 'मरुतमा' कहा है। इनको 'सिन्धुमातरा'^२ (समुद्रमातरा) भी कहते थे। इन्होंने युद्ध में दिवोदास, अतिथिग्व, और कुत्स, आदि की सहायता की थी तथा नमुचि से लड़ते समय इन्द्र की रक्षा की थी। इनका निवास 'दिवो अर्णवे' (द्युलोक में) कहा गया है। वेदों में इन्हें उच्च स्थान प्राप्त है।^३ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में इनके कई सूक्त हैं। इसी प्रकार उसके अन्य मण्डलों में भी इन की कीर्ति का गान मिलता है। ये 'नासत्य' (सत्य रूप) भी कहाते थे। इनके वेदोक्त कार्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—च्यवन को युवा और अनेक स्त्रियों का पति बनाना, वृद्ध कलि को युवा करना, विमद की पत्नी कमद्यु को रथ पर बिठाकर उसके पास भोजना, शमु की गाय का दूध सूख जाने पर उसे फिर से दूध देनेवाली बनाना, पितृ-गृह में वृद्ध हुई घोषा के लिए वर ढूँढना, हिजड़े की पत्नी को 'हिरण्य हस्त' पुत्र देना, लड़ाई में कटी विष्णला की टांग की जगह लोहे की टांग लगाना, परावृज का अन्धा और लंगड़ापन दूर करना, प्रार्थना करने पर बटेर को भेड़िये के मुँह से बचाना, पिता की १०१ भेड़ों को मारकर वृकी (भेड़िये) को खिला देने के कारण क्रुद्ध हुए पिता द्वारा अन्वे किये गये ऋजाश्व को दृष्टि प्रदान करना, दैत्य द्वारा जल कुण्ड में डाले गये सप्तवध्री अत्रि को बाहर निकालना, वन्दन को सुवर्ण देना, दुष्टों द्वारा आहत किये गये और हाथ-पांव बाँधकर छिपाये गये, तथा नौ दिन और दस रात से पानी में पड़े रेभ को बचाना,

१. ऋग्वेद में कहा है कि जब लाल गायों से काली गायें मिलती थीं; तब अश्विनों का आह्वान होता था (मं. १०; सू. ६१, ऋ. ४)।

२. मं. १०, सू. ४६, ऋ. २। यहाँ पर सिन्धु से (पूर्वी) समुद्र का तात्पर्य है। (उस समय के लोग समुद्र से परिचित थे) मं. ५, सू. ८५, ऋ. ६; और मं. ७, सू. ८८, ऋ. ३। सिन्धु शब्द नदी के अर्थ में भी मिलता है नं. ३, सू. ३६, ऋ. ७)।

३. पुराणों में मित्र और वरुण, आदि के समान इनका पद भी गिरा हुआ मिलता है। ये स्वर्वेद्य माने गये हैं। च्यवन ऋषि के उद्योग से इन्हें यज्ञ में देवों के साथ भाग पाने का अधिकार मिला था।

समुद्र में गिरे तुग्र-पुत्र भुज्यु को सौ डांडों वाले जहाज द्वारा बचाना^१ और अन्वे दीर्घतमा को चक्षु प्रदान करना ।

यहाँ पर सूर्य को बटेर और शीत काल को भेड़िया मानकर जाड़े में सूर्य की शक्ति के क्षीण होने और वसन्त में ठीक होने का तात्पर्य लिया जाता है । इसी प्रकार च्यवन का वार्धक्य और यौवन से भी उपर्युक्त बात का ही संकेत माना जाता है । अथवा सूर्य को भेड़िया और उषा को बटेर कहा जा सकता है; क्योंकि सूर्योदय के बाद उषा लुप्त हो जाती है ।^२

श्री तिलक का कथन है कि अश्विनियों के उपर्युक्त कार्यों से प्रकट होता है कि वे अपने कृपापात्रों को अंधेपने से या अन्धकार से बचाते हैं । भुज्यु ३ दिन और ३ रात तथा रेभ नौ दिन और दस रात पानी में रहे थे । वसन्त मतानुसार भुज्यु और रेभ सूर्य के नाम हैं । शीत ऋतु में सूर्य दक्षिणायन की तरफ़ अग्रसर होता हुआ मकर रेखा तक जाता है । इसके बाद फिर उत्तर को लौटता है । परन्तु दक्षिण यात्रा के अन्त और उत्तर यात्रा के प्रारम्भ में उसकी गति ऐसी धीमी हो जाती है कि वह कुछ दिनों तक स्थिर-सा प्रतीत होता है । पञ्चाङ्ग में भी उन दिनों दिनमान प्रायः एक-सा ही रहता है । मैक्समूलर आदि विद्वान् आर्यों की खगोल (ज्योतिष) विज्ञान की अनुन्नत दशा को इस भ्रम का कारण मानते हैं । परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि ३ दिन या १० दिन के लिए तो सूर्य की स्थिरता का भ्रम होना सम्भव हो सकता है, परन्तु दो मास तक का भ्रम होना असंभव है ।^३ परन्तु यह बात दीर्घतमा के आख्यान से प्रकट होती है । वह दसवें युग में वृद्ध हुआ था ।

अश्विनियों के साथ जल का भी सम्बन्ध है । ये 'सिन्धुमातरा' कहे गये हैं । भुज्यु को इन्होंने जल से निकाला था । इन्होंने मरुभूमि में तपस्या करते हुए गोतम की प्यास बुझाने के लिए कुँए को लाकर उलट दिया था ।^४ यदि जल का

१. भुज्यु को उसके पिता तुग्र ने एक समुद्री द्वीप को विजय करने को भेजा था (मं. १, सू. १६४, ऋ. ३-५) ।

२. परन्तु अन्य आख्यानों का तात्पर्य समझना कठिन है ।

३. तीन मास में तो सूर्य मकर रेखा से विषुवत् रेखा तक पहुँच जाता है ।

४. मं. १, सू. ११६, ऋ. ९ । इसी प्रकार इन्द्र और अग्नि का सात पैदे वाले रुद्ध-द्वार समुद्र को खोलना कहा है (मं. ८, सू. ४०, ऋ. ५), मरुतों का गोतम की तृषा को शान्त करने के लिए कुँए को ऊपर की ओर या टेढ़ा

अर्थ अन्वकार किया जाय, तो भी ३ रात ३ दिन या १० रात ९ दिन अन्वकार में रहने का कारण समझ में नहीं आता। वसन्त के पूर्व शिशिर में तो वर्षा भी नहीं होती है। इसी प्रकार ऋजाश्व तथा सप्तवध्री अत्रि की कथाओं का तात्पर्य भी प्रकट नहीं होता। भेड़ को दो दिन और वृकी (भेड़िये) को रात मान लिया जाय तो, उक्त कथन का यह अर्थ होगा, कि एक सौ दिन एक रात के पेट में चले गये—रात हो गई। इसी प्रकार 'पिता ने पुत्र को अंधा किया' का भाव सूर्यास्त हो गया और १०१ दिन के बाद फिर सूर्योदय हुआ। परन्तु १०१ दिन तक अन्वकार रहने का क्या तात्पर्य रहा। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि—अश्विनो ने अत्रि को सौ द्वार वाले पीडा यन्त्र गृह से बचाया।^१ यहाँ ये फूस की आग से जलाये जा रहे थे। एक स्थान पर इनका अन्वकार से^२ और दूसरे स्थान पर लकड़ी की पेटी से^३ बचाना भी कहा है। यदि इसका यह तात्पर्य लें कि सूर्य कुछ काल के लिए अन्वकार में छिपा और फिर बाहर निकल आया, तो एक तो अत्रि को 'सप्तवध्री' क्यों कहा गया। (यदि रात में पत्नी से अलग रहना इसका कारण माना जाय, तो केवल 'वध्री' कहना था। उसमें सप्त क्यों जोड़ा गया? दूसरा ऋग्वेद के ५वें मण्डल के ७८वें सूक्त में जहाँ अत्रि अश्विनो से अपने छुटकारे की प्रार्थना करते हैं, वहाँ ७वें से ९वें मन्त्र तक 'गर्भं स्राविणी उपनिषद्' (दस मास के गर्भ के बाहर आने की प्रार्थना) कैसे आ गई? सायण यहाँ पर अत्रि का अपनी स्त्री के शीघ्र प्रसव के लिए प्रार्थना करना मानते हैं। परन्तु इसमें यह शङ्का की जाती है कि पहले तो नपुंसक के पुत्र कैसे हो सकता है? और यदि हो, तो वह पिता की सहानुभूति का पात्र क्योंकर होगा। अतः (तिलक के मतानुसार) यह ध्रुव प्रदेश की स्थिति का सूचक है। क्योंकि वहाँ दिन और रात भिन्न-भिन्न लम्बाई के होते हैं। सूर्य अदृश्य होने पर अन्तरिक्ष के दिव्य जल में निमग्न रहता है। उसी के साथ उसका उद्धार होता है। अस्त रहने के समय वह अंधा कहा गया है। अत्रि

प्रेरित करना बताया है (मं. १, सू. ८५, ऋ. १०-११); तथा वरुण का बिना पैंदे के तेजोमय स्तूप को ऊपर को धारण करना प्रकट किया है, जिसकी तेजोमय किरणें नीचे को फैली हुई थीं (मं. १, सू. २४, ऋ. ७)। वरुण का भी जल से सम्बन्ध माना गया है।

१. मं. १, सू. १११, ऋ. ८.

२. मं. ६, सू. ५०, ऋ. १०.

३. मं. ५, सू. ७८, ऋ. ५.

सूर्य है। वही सप्तरश्मी, सप्तवध्री या सप्ताश्व है। वह (ध्रुव प्रदेश पर) १० मास गर्भ (प्रकाश) में रहता है और गर्भ से निकलते ही निऋति की गोद में चला जाता है—अदृश्य हो जाता है। यह १० महीने के दिन और २ महीने की रात वाले ध्रुव प्रदेश का दृश्य है। ऋग्वेद में^१ गर्भ धारण के और निऋति के जाने के उल्लेख से भी उपर्युक्त बातों की पुष्टि होती हैं। इन कथनों का यही तात्पर्य निकलता है कि पृथ्वी और आकाश के बीच की माँ की कोख में सूर्य रूपी गर्भ रहता है और गर्भ से निकलने पर वह (सूर्य) अदृश्य हो जाता है।

उक्त संहिता में एक स्थान पर यह भी लिखा है^२ कि युवती माता आहत कुमार को छिपा रखती है, पिता को नहीं देती। श्री तिलक इससे भी ध्रुव प्रदेश में सूर्य के छिपने का तात्पर्य बतलाते हैं। उनका यह भी कहना है कि ऊपर अत्रि रूपी सूर्य ने स्वयं अपने प्रसव की बात कही है। वह अन्तरिक्ष रूपी पेटि में दस महीने रहकर छूटना (अस्त होना) चाहता है।

परन्तु इस मत के विरोधियों का कथन है कि यहाँ पर ध्रुव प्रदेश के समय की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि रेभ और भुज्यु की कथाएँ ऐतिहासिक घटनाएँ भी हो सकती हैं। परन्तु यदि निरुक्ति ही करनी हो, तो समुद्र से चारों ओर घिरे सप्त सिन्धु की घोर वर्षा से भी समाधान हो सकता है। यहाँ पर वर्षा ऋतु में १०० दिनों तक वर्षा होती रहती थी। सूर्य के दर्शन कभी-कभी ही होते थे। इन दिनों रात्रि-सत्र होते थे। शम्बर के १०० गढ़ तोड़े जाते थे। यही बात ऋक्षाश्व की १०१ भेड़ों वाली कथा से सूचित होती है। अत्रि ओर वध्री की कथा का भी यही भाव है। इसके अतिरिक्त ध्रुव प्रदेश में दस मास का दिन भी नहीं होता; क्योंकि प्रातःकाल और संध्याकाल भी इसी में आते हैं। यदि इन्हें दो-दो मास का मान लिया जाय, तो उस समय सूर्य का प्रकाश अवश्य ही कम रहेगा। उस समय का सूर्य यद्यपि लंगड़ा या रोगी कहा जा सकता है; परन्तु अन्धा नहीं कहा सकता। अत्रि की कथा का ध्रुव प्रदेश से संबन्ध जोड़ने से एक कठिनता और भी आ जाती है। अर्थात् क्या

१. मं. १, सू. १६४, ऋ. ३२-३३.

२. मं. ५, सू. २, ऋ. १-२ (कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा विभर्ति न ददाति पित्रे । अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥१॥ किमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी विभर्षि महिषी जजान । पूर्वोहि गर्भः शरदो ववर्षापश्यं जातं यदसूत माता ॥२॥

सूर्य १० महीने प्रकाशित रहकर स्वयं ही गर्भ से छुटकारा पाना (अंधेरे में जाना) चाहता है? वेदों में सूर्य के लिए अंधेरे को बन्धन कहा है। इन्द्र इससे उसका उद्धार करता है।

वर्षा के अर्थ में इसका भावार्थ इस प्रकार हो सकता है। दस महीनों तक वर्षा की प्रतीक्षा की गई। गोपालकों ने गवामयन यज्ञ किया। दशगवों का दस महीने का यज्ञ समाप्त हुआ। वर्षा ऋतु में बादल आए, सूर्य उन से ढक गया। सौ बार के पीड़ा गृह में से कभी-कभी सूर्य रश्मियों के दर्शन होने लगे। भूसे की आग से उमस का तात्पर्य है, क्योंकि उसमें ताप रहता है, पर ज्वाला नहीं रहती। ऐसे समय अत्रि रूपी सूर्य अश्विनों से प्रार्थना करता है कि १० मास से गर्भ में रही वर्षा को बाहर करो (बरसाओ)। वर्षा हो जाने से मेघ-रूपी काठ की पेटी स्वयं ही नष्ट हो जायगी और सूर्य मुक्त (प्रकट) हो जायगा। यही गर्भ स्त्राविणी उपनिषद् का तात्पर्य हो सकता है।

अश्विनों का वध्रीमती (नपुंसक की पत्नी) को हिरण्यहस्त पुत्र देने का यह भाव हो सकता है कि—वेदों में उषा को सूर्य की पत्नी और माता दोनों कहा है। अतः उषा, वर्षा और अंधेरे के कारण अपने पति सूर्य से दूर हो जाती है। इससे उस समय उसका पति वध्रि (नपुंसक) के समान है। परन्तु अन्त में अश्विनों की कृपा से उसे (उषा को) हिरण्य हस्त (सूर्य) रूपी पुत्र मिलता है। ऋग्वेद में सूर्य को हिरण्यपाणि कहा है।^१

इसी प्रकार कहा जा सकता है कि गोतम (प्रकाशमय) सूर्य प्यासा था। अश्विनों की कृपा से बादल आये और उलटे गये कुँए की तरह पानी बरसाया। सब की तृषा शान्त हो गई।

वेदों में इन्द्र को सूर्य का मित्र और सहायक कहा गया है। वह वृत्रादि को मारकर सूर्य की रक्षा करता है। परन्तु एक स्थान पर इन्द्र द्वारा सूर्य के रथ के चक्र को चुराने का उल्लेख है।^२ सूर्य के रथ में सात सूर्य का रथ चक्र और चक्रों और अधिकतर दो चक्रों तथा एक चक्र का होना विष्णु के तीन पद भी कहा गया है इस लिए यदि रथ का यह एक चक्का निकाल लिया जायगा, तो सूर्य के रथ की चाल

१. मं. ६, सू. ५०, ऋ. ८। यहाँ पर हस्त और पाणि किरणवाची ही हैं।

२. मं ४, सू. ३०, ऋ. ४ में कहा गया है कि इन्द्र ने सूर्य को चुराया। भाष्यकारों ने यहाँ सूर्य का अर्थ सूर्य का रथचक्र किया है।

घीमी हो जायगी या रुक जायगी। अब प्रश्न यह उठता है, कि इन्द्र ने ऐसा क्यों किया? उत्तर मिलता है कि इन्द्र ने इस चक्के से असुरों को मारा। एक स्थान पर इन्द्र से कुत्स की तरफ से, गायों के लिए, अशुष, कुयव और शुष्ण से लड़ने को कहा गया है। इसी युद्ध में इन्द्र ने सूर्य का रथचक्र चुराकर संकट नष्ट किया था। यहाँ पर कुत्स के तीन विरोधी कहे गये हैं अथवा पहले दोनों शब्द शुष्ण के विशेषण हैं। पिछली अवस्था में 'अशुष्ण' का अर्थ बलवान् और 'कुयव' का अर्थ खेत में खड़े अन्न का विरोधी होगा। शुष्ण का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। इस शब्द का अर्थ सूखा या वृष्टि का अभाव माना है। उक्त मन्त्र में 'दश प्रपित्वे' शब्द आया है। सायण ने 'दश' का अर्थ काट खाना और 'प्रपित्वे' का अर्थ युद्ध में किया है। अर्थात्—इन्द्र ने शुष्ण को काट खाया (मार डाला)। परन्तु अन्य मन्त्र में 'प्रपित्वे' का अर्थ अन्त में किया है; क्योंकि उक्त मन्त्र में 'उदिते', 'मध्यन्दिने' और 'प्रपित्वे' यथा क्रम से आये हैं। ऐसी अवस्था में 'दशप्रपित्वे' का अर्थ होगा 'दश के अन्त में'। श्री तिलक इसका सम्बन्ध ध्रुव प्रदेश से जोड़कर दस महीने बाद सूर्य का चुरा लिया जाना (अदृश्य किया जाना) अर्थ करते हैं।

विरोधी पक्ष का कहना है कि सूर्य तो अदृश्य हो गया, पर शुष्ण-बध कैसे हुआ? फिर क्या ध्रुव प्रदेश में दो मास की रात में फ़सल होती है? परन्तु इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। अतः इसका अर्थ इस प्रकार करना होगा, कि १० मासों के सूखे के बाद (वषा ऋतु में) इन्द्र ने सूर्य को मेघाच्छन्न करके वर्षा की। सूखा नष्ट हुआ। सारी आपदायें दूर हो गईं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र का वृष्टि को रोकने वाले सूर्य को विजय करना कहा है। इससे भी (गायों के लिए) वर्षा वाले अर्थ की ही पुष्टि होती है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है, कि—इन्द्र के सखा विष्णु के कार्यों को

१. मं. ६, सू. ३१, ऋ. ३.

२. मं. ८, सू. १, ऋ. २९. अन्य स्थानों पर भी 'प्रपित्वे' का अर्थ अन्त में किया है।

३. मं. १०, सू. ४३ ऋ. ५.

४. मं. १, सू. २२, ऋ. १७-१९। पुराणों में कहा गया है कि—वामना-वतार विष्णु ने एक पैर से भूलोक, दूसरे पैर से द्युलोक और तीसरे पैर से दैत्य-राज बलि का शरीर नापकर ले लिया। इसके बाद बलि को पाताल भेज दिया और इन्द्र को स्वर्ग का राज्य लौटा दिया। (यह अवतार इन्द्र की सहायतार्थ ही धारण किया गया था)।

देखो। (उन्होंने) इस जगत् में तीन प्रकार से चरण रखे। उनके बूलियुवत चरण से जगत् आच्छादित हो गया। दूसरे स्थान से प्रकट होता है^१, कि— इन्द्र ने, वृत्र का वध करते हुए, कहा—हे मित्र विष्णु ! बड़े-बड़े कदम रखो।^२ विष्णु सूर्य का ही एक नाम है।^३ अब वह प्रश्न उत्पन्न होता है कि—विष्णु का यह चरण-संचार प्रतिदिन होता था, या प्रति वर्ष होता था ? ऋग्वेद के एक मन्त्र में^४ आये 'चतुर्भिः साकं नवति च नामभिः' 'का अर्थ सायणाचार्य ने' ९४ नामों वाला किया है। अतः उक्त मन्त्र का अर्थ 'विष्णु ने ९४ नामों वाला चक्र घुमाया' होता है। श्री तिलक का कथन है, कि इस ९४ की संख्या पूरी करने के लिए सायण को क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। अर्थात्—उसे उसमें १२ राशियों को भी सम्मिलित करना पड़ा है। वैदिक काल में इन १२ राशियों से २७ नक्षत्रों का प्रचलन ही अधिक था, और उन्हें इस संख्या (९४) में सम्मिलित नहीं किया है। अतः 'चतुर्भिः साकं नवति च नामभिः' का अर्थ 'चार नाम वाले नब्बे घोड़ों वाला (४ × ९० = ३६० दिन वाला) अर्थ करना ठीक होगा। परन्तु इन दोनों अर्थों से तात्पर्य यही निकलता है कि वर्ष रूपी चक्र को घुमाया, अर्थात्—सूर्य का यह पद-संचार वर्ष में एक बार ही होता था। ऐसी अवस्था में यह मानना होगा, कि विष्णु का एक पाद भूमण्डल के नीचे के उस प्रदेश में, जहाँ सूर्य ध्रुव प्रदेश से अदृश्य होकर छिपता है और जहाँ इन्द्र और असुर का युद्ध होता है, वहाँ पड़ा होगा। वहाँ अँधेरे का स्थान था। अतः विष्णु का तीसरा पाद यहीं पड़ा। यह तीसरा पैर वर्ष का तीसरा भाग था। दो पाँव (वर्ष के ८ मास) ऊपर पड़े और एक (४ मास) पृथ्वी के नीचे पड़ा। यह कथन ध्रुवप्रदेश के ८ मास के दिन और ४ मास की रात्रि का बोधक है। परन्तु इस युद्ध का वर्षा में होना मानने से विष्णु का यह तीसरा

१. मं० ४, सू० १८, ऋ० ११। सायण ने इस मन्त्र में के 'वितरं विक्रमस्व' का अर्थ 'बड़े पराक्रमी होओ' किया है।

२. एक मत के अनुसार ये चरण पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में रखे गये थे। दूसरे मत के अनुसार ये पैर समारोहण (उदयाचल), आकाश (विष्णु पद) और गयशिरस् (अस्ताचल) पर रखे गये, तथा तीसरे मत के अनुसार इससे विष्णु का पृथ्वी पर अग्नि रूप से, अन्तरिक्ष में वायु रूप से और आकाश में सूर्य रूप से, वर्तमान होना सूचित किया है।

३. पुराणों में विष्णु की गणना १२ आदित्यों में की गई है।

४. मं० १, सू० १५५, ऋ० ६

पाँच वर्षा में पड़ेगा।^१ श्री तिलक आर्यों के ध्रुव प्रदेश में रहने के समय इस शयन का हेमन्त में और प्रबोध का वसन्त में होना और उनके सप्त सिन्धु में आने पर उक्त शयन का वर्षा में और प्रबोध का शरत् में माना जाना बतलाते हैं। परन्तु विरोधी पक्ष इस विषय के प्रमाणाभाव से इसे अमान्य ठहराता है।

श्री तिलक का कथन है कि विष्णु का एक नाम शिपिविष्ट है।^२ विष्णु और सूर्य को एक मानकर इसका अर्थ 'अप्रतिपन्नरश्मिः' (अस्पष्ट किरणों वाला) किया जाता है। ध्रुव प्रदेश में उस समय (रात में) सूर्य अदृश्य रहता है।^३ परन्तु विरोधी पक्ष का कहना है कि वर्षा में भी तो बादलों के कारण सूर्य की वही दशा होती है। अतः यहाँ पर ध्रुव प्रदेश की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है।

पारसियों के धर्म ग्रन्थ अवेस्ता में लिखा है कि अपओष और तिश्य का युद्ध वोउरुकश समुद्र में हुआ। वेदों में जिस प्रकार जल और प्रकाश का घनिष्ठ सम्बन्ध और गो शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त किया गया अन्य देशों की गाथाओं है, उसी प्रकार अवेस्ता में भी इन दोनों का एक ही से ध्रुवप्रदेश-निवास स्रोत माना गया है। वैदिदाद में एक स्थान^४ पर कहा के प्रमाण है, कि—“.....समुद्र जल का भण्डार है। तुम उठो, अन्तरिक्ष के मार्ग से ऊपर जाओ और पृथ्वी पर नीचे उतरो। उठो, बढ़ते चलो। तुम्हारे उदय और वृद्धि के लिए अहुरमज़द ने

१. पुराणों के अनुसार विष्णु चार मास तक क्षीर समुद्र में शेष नाग की शय्या पर सोते हैं। वेद में अहि (नाग) वृत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुराणानुसार विष्णु का शयन वर्षा के चातुर्मास में होता है। कार्तिक शुक्ला एकादशी को, जिसे 'प्रबोधिनी' एकादशी कहते हैं, वे उठते हैं।

२. शिपिविष्ट का अर्थ (शेष इव निवेष्टित) पुरुषेन्द्रिय की तरह ढका हुआ भी किया जाता है।

३. श्री तिलक पौराणिक कथाओं में भी वैदिक आख्यानों में मिलने वाली प्रदेश निवास की स्मृति की झलक मानते हैं। यथा शिव के पुत्र कुमार का माता के गर्भ के बाहर जन्म लेना। अलग रहना। बड़े होने पर देवताओं के सेनानी के रूप से असुरों से युद्ध करना। श्री रामचन्द्र के पिता का नाम दशरथ और रावण का नाम दशानन होना आदि।

४. फर्गद २१-४।

अन्तरिक्ष का मार्ग बनाया है।” प्रकाश और जल का सम्बन्ध होने से और प्रकाश के सूर्य, चन्द्र और तारों से प्राप्त होने से इस वचन से क्रमशः सूर्य, चन्द्र और तारों के साथ जल का आह्वान किया जाता है। श्री तिलक इससे आयों का पृथ्वी के चारों तरफ दिव्य जल धाराओं का अस्तित्व मानना सिद्ध करते हैं। परन्तु विपक्षी इसे इन्द्र और वृत्र के युद्ध की कथा मानते हैं। वे वोउरु-कश से बादलों का भाव लेते हैं और यहाँ पर भौतिक जल के भाप बनकर उठने और बरसने की इच्छा के प्रकट करने का तात्पर्य मानते हैं।

इसी फर्गद के दूसरे वचन में कहा है—हे जरशुश्त्र! कहो, ऐ मेघो! आओ आकाश के वायु में से हजारों लाखों बूँदों के द्वारा पृथ्वी पर आओ।” इससे भी मेघ और वर्षा के तात्पर्य की पुष्टि होती है।

आयों के उदयाचल और अस्ताचल के समान अवेस्ता में भी अत्बुर्ज^१ (हरबेरजैती) पर्वत माना गया है। परन्तु उसमें इसका पृथ्वी के चारों तरफ फैला होना कहा है।

फविशियों^२ (पितरों) के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने अंघ्रिमैन्यु की दुष्टता को नष्टकर जल को उसका प्रवाह रुकने से और औषधियों को उनकी बाढ़ बन्द होने से बचाया। यहाँ भी भौतिक जल का ही तात्पर्य है, दिव्य जल का नहीं।

वेन्दिद के पांचवे और आठवें फर्गद में अन्त्येष्टि का विधान है। वहाँ पर प्रश्न किये गए हैं,—“हे भौतिक जगत् के कर्ता! यदि शीतकाल आ गया हो, तो मज्द के उपासक क्या करें?”^३

हे भौतिक जगत् के कर्ता! यदि मज्द के उपासक के घर कोई कुत्ता या मनुष्य मर जाय और उस समय वर्षा होती हो, बरफ पड़ती हो, हवा चलती हो अथवा मार्ग भुला देने वाला अंधेरा छाने वाला हो, तो मज्द के उपासक क्या करें?”^४

इस पर अहुर्मज्द ने उत्तर दिया—“प्रत्येक घर में और प्रत्येक घरों के समूह में मुर्दों के लिए तीन छोटे घर बनाने चाहिए।” जरशुश्त्र ने पूछा—“ये

१. बुन्दिश २०, ४.

२. फर्वर्दीन यश्त ५६-५७.

३. फर्गद ५.

४. फर्गद ८.

मुदा-घर कितने बड़े हों ?” अहुर्मज्द ने उत्तर दिया—“वर्मानुसार ये घर इतने बड़े हों कि यदि वह मृत पुरुष जीवित अवस्था में खड़ा होकर हाथ पांव फैलाये, तो उसके सिर और हाथ-पांव में चोट न लगे । तथा उस मृत शरीर को दो रात, तीन रात या एक मास तक—जब तक पौधे उगने लगें, जल बहने लगे या वायु पृथ्वी पर से जल को सुखादे—वहां रखा रहने दे ।” इसके बाद शव को समाधि-स्थल पर ले जाने की आज्ञा है । श्री तिलक यहाँ पर भी ध्रुव प्रदेश की स्मृति मानते हैं । परन्तु विरोधी पक्ष का कहना है कि ऐसी अवस्थाएँ तो सप्त-सिन्धु अथवा ईरान (एशिया), आदि सब ही स्थानों पर हो सकती हैं । एक मास की तो अन्तिम सीमा कही गई होगी । यदि ध्रुव प्रदेश की विधि का वर्णन होता तो चार-पाँच मास की अवधि दी गई होती । फिर, उस समय तो ध्रुव प्रदेश में चिर वसन्त का रहना कहा गया है । ऐसी अवस्था में पौधों का उगना कैसे बन्द होता होगा ।

यह सम्भव है कि आर्यों की एक शाखा सप्तसिन्धु से चलकर ध्रुव प्रदेश में जा बसी हो और हिम पात होने के बाद ईरान पहुँच गई हो । फिर भी सारे ईरानी आर्यों का ‘एर्यनवेजो’ वालों के वंशज होना नहीं माना जा सकता । ऐसा होना संभव है कि आर्यों का एक दल भारत छोड़कर सीधा ईरान की तरफ चला गया हो और दूसरा दल उत्तरी ध्रुव प्रदेश की तरफ होता हुआ ईरान पहुँचा हो । ऐसा भी पता चला है कि ईरान में प्रचलित धर्म का संस्कार सा-सानी नरेशों के समय, उत्तर-पश्चिम से आने वाले मग पुरोहितों ने किया था । यद्यपि उस समय भी ईरानी धर्म का यही रूप था, तथापि उसमें के कर्म काण्ड, उपासना और दार्शनिक विचार इतने परिष्कृत नहीं थे । अतः राजाश्रय के कारण मगों द्वारा परिष्कृत धर्म ईरान में स्थापित हो गया । उस समय वहाँ की भाषा पहलवी थी । यह ईरानी और फारसी भाषा का पूर्व रूप थी । मग लोग अपने साथ जैन्द भाषा लाए थे । वैसे तो पहलवी, संस्कृत, आदि सभी एक कुटुम्ब की भाषाएँ हैं, परन्तु जैन्द संस्कृत के अधिक निकट है । अतः सम्भव है मगों द्वारा अवेस्ता को ध्रुव प्रदेश वासिनी आर्य जाति की शाखा की स्मृतियाँ प्राप्त हुई होंगी ।

यूनान में प्रभात को ‘इऔस’ (उषस्) कहते थे । लेट लोग उसे ‘दिएवो दुक्ते’ (दिवो दुहिता) कहते थे और वेदों के समान इस शब्द का बहुवचन में भी प्रयोग करते थे । यूनानियों और आयलैण्ड वालों के यहाँ कथाएँ हैं, जिनमें एक स्त्री के लिए दो पुरुष लड़ते हैं, और दोनों ६-६ मास का रात और दिन मानते हैं । यूनानी हेलिऔस (सूर्य) के साथ ३५० बैलों का होना मानते थे ।

इससे अनुमान किया जाता है कि किसी समय वे ३५० दिन का वर्ष मानते होंगे। आयलैण्ड की एक कथा से ज्ञात होता है कि 'कौडोवर' के फेडेलम नाम की कन्या थी। उसके नौ शरीर थे। कुकुलेन एक दैवी पुरुष था। वह पश्चिम से आक्रमण करने वाले शत्रु को रोकने के लिए आगे बढ़ा; परन्तु सायंकाल होने पर एक गुप्त स्थान को चला गया। यहाँ फेडेलम ने पहले से जाकर एक कुण्ड तैयार कर रक्खा था। इसमें स्नान करने से कुकुलेन युद्ध में विजयी होने लायक हो गया। यूनानियों में ऐथिनी एक देव कन्या थी। उसके भी नौ शरीर थे। श्री तिलक नवगवों के समान इन कथाओं से भी नौ महीने के दिन का संकेत मानते हैं। एक रूसी कथा के अनुसार एक समय एक वृद्धा और वृद्ध रहते थे। उनके तीन पुत्र थे। दो बुद्धिमान् और तीसरा आइवन मूर्ख था। जिस देश में आइवन रहता था, उस देश में सर्प के प्रभाव से दिन नहीं होता था।^१ जब आइवन ने उस सर्प को मार डाला, तब वहाँ पर एक बारह मस्तक का सर्प आ गया। आइवन ने उसे भी मारकर उसके मस्तकों को नष्ट कर दिया। इस पर वहाँ पर तत्काल प्रकाश हो गया। श्री तिलक यहाँ पर भी ध्रुव प्रदेश पर के वर्ष के ३ भागों में से दो भाग (८ मास) का दिन और एक भाग (चार मास) की रात का संकेत मानते हैं। अंधेरा करने वाला सर्प वृत्र है, जिसे वेद और अवेस्ता में अहि कहा है।

एक दूसरी रूसी कथा है कि—कौश्चाइ नाम का एक राक्षस था, जो केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र था। वह एक राजकुमारी को उठाकर अपने पृथ्वी के नीचे विद्यमान महल में ले गया। परन्तु अन्त में एक राजकुमार ने सात वर्ष के सतत प्रयत्न के बाद उसे छुड़वाया। श्री तिलक के मतानुसार यहाँ पर भी सात मास के दिन का संकेत है। परन्तु विरोधी पक्ष इससे सहमत नहीं है। उनका कथन है कि ऐसी और भी अनेक कथाएँ हैं, जिनमें सूर्य का अदृश्य होना, हिमपात और अंधेरा छा जाना रूपक वाँधकर दिखलाया है। इनमें ३, ७, ९ आदि की संख्या के आते ही श्री तिलक इनसे ध्रुव प्रदेश का संकेत होना मान लेते हैं। परन्तु साधारणतया यूरोप के और विशेषतया उत्तर यूरोप के लोग^२

१. अर्थात् वर्ष रूपी वृद्ध के तीन भागों रूपी तीन पुत्रों में से एक के यहाँ अथवा वर्ष के तीसरे भाग (चार मासों) में अंधेरा (रात) रहता था।

२. उत्तरी यूरोप वालों को ध्रुवप्रदेश का कुछ-कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान होना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सर्दी से अच्छी तरह से परिचित थे। वहाँ वर्ष पड़ती थी। उत्तरी नौवें से तो ध्रुव प्रदेश के कुछ दृश्य भी दिखाई देते थे। सम्भव है यूरोप के अन्य उत्तरी प्रदेशों से कुछ साहसी लोग उधर गये भी हों, और उनके अनुभवों की कथाओं के ही, कालान्तर में फैले, विकृत रूप इन कथाओं में मिलते हों। अतः थोड़े से ऊपरी साम्य को देखकर ही यह मान लेना कि वैदिक आयों के ध्रुव प्रदेशीय अनुभव ही इन कथाओं के आधार हैं, उचित नहीं है। ऐसी कथायें फिनलैण्ड वालों के यहाँ भी मिलती हैं। परन्तु वे लोग चीनियों और तुर्कों की तरह मंगोल जाति के हैं। फिर, अन्धकार और प्रकाश के दृश्य तो वर्षा, हिमपात और ध्रुव प्रदेश की रात्रि में बहुत कुछ एक-से ही होते हैं। इसी से भिन्न-भिन्न स्थानों की कथाओं में समानता पाई जाती है।

(परन्तु भारतीय आयों के यहाँ सुमेरु पर देवों का निवास माना जाने से, देवों के एक दिन का मनुष्यों का एक वर्ष समझा जाने से, तथा उत्तरायण में देवों का दिन और दक्षिणायन में देवों की रात्रि रहना कहा जाने से इनका भी उत्तरी ध्रुव से कुछ-न-कुछ घनिष्ठ सम्बन्ध रहना मानना ही पड़ता है)।

ईसाई धर्म के फैलने के पूर्व उत्तरी योरोप में यमीर की एक कथा प्रचलित थी। वहाँ वालों का विश्वास था कि—दक्षिण में मस्येल हाइम (अग्नि का देश) और उत्तर में नाइल्फ हाइम (वर्ष का देश) था। जब दक्षिण की तरफ

से सूर्य प्रकाश आता था, तब नाइल्फ हाइम मनुष्य के निवास के योग्य होता था। सृष्टि के आरम्भ में

यम-यमी कथा

जब दक्षिण का गर्म प्रकाश वर्ष पर पड़ा, तब वह गल गया और उससे मनुष्य की आकृति बन गई। उसका नाम यमीर हुआ। इस कथा का रूपान्तर भी मिलता है। घर-घर शब्द के साथ बहते हुए जल को यमीर कहते हैं। जब वह सो जाता है और विस्तृत हिम समूह का रूप धारण करता है, तब उसे और्ग्लमीर कहते हैं। वही हिम पुर्सर है। उस से पाले के भीमकाय असुर उत्पन्न होते हैं। सोये हुए और्ग्लमीर के शरीर से पसीना निकलता है, तथा उसके बाँये हाथ के नीचे के पसीने में एक स्त्री और पुरुष उत्पन्न होते हैं। जब औघुम्ल—प्रभात रूपी गाय (उषा) इस और्ग्लमीर (असुर) को लगातार चाटती है, तब बुरि (सूर्य) उत्पन्न होता है, और इस (असुर) को मार डालता है।

यह उत्तरी ध्रुव प्रदेश का ही संस्मरण है। और्ग्लमीर-हिमपुर्सर (हिम-पुरुष) वर्ष के रूप में फैला हुआ है। उसे औघुम्ल—उषा रूपी गाय (सूर्य

प्रभा) चाटकर मार डालती है। जब नाइल्फ हाइम पर दक्षिण की तरफ से सुर्त (सूर्य) का प्रकाश पड़ता है, तब उसके गलने से यमीर उत्पन्न होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति टिम् आ धातु से होती है, जिसका अर्थ दौड़ना (या गरजना) है। बर्फ के गलने से प्रबल वेग से बहने वाला जल यमीर है। यह यमीर प्रथम मनुष्य था और सब से पहले मरा था। यह ध्रुव प्रदेश के आधार पर सृष्टि की कल्पना है। अवेस्ता में भी विननघत् के पुत्र यिम की कथा मिलती है। उस (यिम) के राज्य में प्रकाश और उष्णता विद्यमान हैं। लोग समृद्ध हैं। अहुरमज़द ने यिम को, राज-चिन्ह के रूप में एक सुनहरी अंगूठी और एक सोने के काम वाला खड्ग दिया था। यह अंगूठी सूर्य और खड्ग सूर्य की किरणें थीं। जब-जब यिम के राज्य की प्रजा बढ़ी, तब-तब उस (यिम) ने पृथ्वी को बढ़ाया। अर्थात्—बर्फ के गलते रहने से निवास योग्य भूमि का विस्तार होता गया। अन्त में सर्दी बढ़ी और यिम को एक बाड़े में जाना पड़ा। उक्त स्थान में सूर्य के न रहने पर भी 'अरोरा बोरियालिस' से प्रकाश मिलता था।

यूरोप की उपर्युक्त कथा में जिस प्रकार और्गल्मीर के स्वेद से एक स्त्री-पुरुष के जोड़े का उत्पन्न होना कहा है, उसी प्रकार पारसियों के यहाँ यिम के साथ उसकी पत्नी यमिक का उल्लेख है।

आर्यों के वैदिक यमाख्यान में भी यम के साथ उसकी बहन यमी का जन्म लेना बतलाया है। पाणिनि के अनुसार 'यमोऽपरिवेषणे' या 'यम उपरमे' से यम शब्द बनता है, और इसका अर्थ—हटना, घेरना या समाप्त होना होता है। यम के पिता विवस्वान् का दूसरा नाम गन्धर्व था। यह गन्धर्व शब्द घृ, ध्रु या ध्वृ धातु से बनता है और इसका अर्थ गति को धारण करने वाला, स्थिर करने वाला या हानि पहुँचाने वाला होता है। अतः यह आकाश का भी बोधक है। इस प्रकार यम का पिता सूर्य या आकाश होता है। यम की माता का नाम सरण्यु या आप्या योषित् था। सृ धातु से सरण्यु बना, जिसका अर्थ दौड़ने वाली होता है। आप्या का अर्थ व्याप्त करने वाली होगी। दोनों प्रकार से यह शब्द (प्रातः कालीन) उषा या सायंकालीन धुँधले प्रकाश का वाचक है। यम और यमी प्रकाश और जल हैं। उपर्युक्त कथाओं में संज्ञाओं की निरुक्ति ध्रुव प्रदेश की स्मृति को आधार मानकर की गई है। अतः इसका तात्पर्य ध्रुव प्रदेश पर सर्दी में पानी का जमना, उषा के आने पर बर्फ का गलना और पानी का बहना, तथा सूर्य के दक्षिण की तरफ जाने और संध्या होने पर फिर बर्फ का जमना है।

ईरानियों की एक शाखा को ध्रुव प्रदेश का प्रत्यक्ष अनुभव था। इसी

प्रकार उत्तरी ध्रुव प्रदेश वालों को भी इसका अच्छा ज्ञान था। परन्तु वेद के भाष्यकारों ने यम-यमी की निरुक्ति दिन-रात का अर्थ मानकर की है। यम-यमी की कथा भारतीय ही है। इसकी स्मृति को साथ लेकर ईरानियों की एक शाखा 'एर्यनवीजो' पहुँची और वहाँ के निवास के संस्मरणों के मिल जाने से उक्त कथा का रूप बदल गया। इसी प्रकार उत्तरी यूरोप पहुँचते-पहुँचते भी इस कथा की यही दशा हुई। परन्तु यम पहला मनुष्य था, और उसके साथ एक स्त्री थी—ये बातें स्थिर रहीं। इसी प्रकार यम-यमी के साथ सूर्य, जल और अन्धकार का भी थोड़ा बहुत सम्बन्ध बना रहा, बाकी की बातें यथा-स्थान बदलती रहीं। ध्रुव प्रदेश की लम्बी रात और लम्बा दिन भी इस कथा में उलट फेर हो जाने से व्यक्त किया जाने लगा।

कुछ लोग ऋग्वेद के एक मन्त्र^१ से उषा काल में यम का जन्म होना मानते हैं।^२ परन्तु उक्त मन्त्र में तो एक-से-एक अधिक धनवान का उल्लेख है। इसी प्रकार ध्रुव प्रदेश की लम्बी रात के बाद वर्ष पर उषा की पहली किरण पड़ने पर प्रथम दिन के होने का संकेत समझना भी ठीक नहीं है। ऋग्वेद के यम-यमी सूक्त^३ में तो यौन सम्बन्ध की चर्चा होने से यह प्रथम दिन या शैशव काल की कथा नहीं हो सकती; और न प्रथम दिन का वहाँ उल्लेख ही मिलता है। यम-यमी सूक्त के छठे मन्त्र में तो कहा गया है कि—प्रथम दिन की बात कौन जानता है। उसे किसने देखा। किसने उसको कहा। मित्र और वरुण का जो यह बृहद्वाम है, उसके विषय में हे मोक्षबन्धनकर्ता यम ! तुम क्या कहते हो ?

वास्तव में प्रसंग यह है कि जब यमी ने यम से यौन सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा की, तब यम ने उसे अपना भाई-बहन का सम्बन्ध बतलाया। इस पर यमी ने धर्म-भीरु यम से उपर्युक्त बात कही। इससे आर्यों के ध्रुव प्रदेश-निवास का तात्पर्य निकालना उचित प्रतीत नहीं होता।

श्री मैड्लीकौट और श्री ब्लैनफार्ड का कथन है कि उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्धों के सिलूरियन^४ (Silurian)—कालीन पाषाणी भूत वस्तुओं के एक सी

१. मं. १०, सू. ११७, ऋ. ८.

२. Journal Banaras Hindu University (1931) No. 4-1.

३. म. १०, सू. १०.

४. एक प्रकार के समुद्री घोंघों के पाषाणी भूत अवशेषों वाले प्राथमिक चट्टान-युग के द्वितीय स्तर का काल। (प्राथमिक चट्टान-युग का काल ५४,००,००,००० से १८,००,००,००० वर्ष पूर्व तक माना जाता है।)

होने के कारण ही श्री एम० डी० स्पोर्टा का, सृष्टि का सप्तसिन्धु-वाद सबसे पूर्व उत्तरी ध्रुव के पास वाले समुद्र तट पर होना, अनुमान करना ठीक नहीं है।^१ डाक्टर नाइटलिंग का मत है कि पश्चिमोत्तर भारत और पंजाब की पहाड़ियों में जीवन के प्राचीनतम चिह्न मिलते हैं और भारत का जलवायु भी अन्य स्थानों की अपेक्षा पहले ही निवास योग्य हो गया था। अतः जीव-सृष्टि सर्वप्रथम यहीं हुई होगी।^२ भूगर्भशास्त्री पंजाब की नमक की पहाड़ियों से मिले कुछ पाषाणी-भूत वस्तुओं को कैम्ब्रियन (Cambrian) युग की मानते हैं।^३ डाक्टर डाना भी मनुष्य की उत्पत्ति का सर्वप्रथम पूर्व में होना अनुमान करते हैं।^४ श्री एम० लूई जैकोलिअट भारत को ही पृथ्वी पर का आदिसृष्टि-स्थान बतलाते हैं।^५

शतपथ ब्राह्मण में हिमालय को 'उत्तर गिरि' कहा है।^६ यदि आर्य यूरोप, मध्य एशिया या उत्तरी ध्रुव के रहने वाले होते, तो हिमालय को 'उत्तर गिरि' (उत्तरी पर्वत) कभी न कहते। अतः आर्य सप्तसिन्धु के ही निवासी थे और संभव है इन्होंने बाद में किसी समय उत्तरी ध्रुव-प्रदेश पर अपने उपनिवेश बसाये हों; क्योंकि उस समय वहाँ का जलवायु समशीतोष्ण था। परन्तु हिम-युग के आने पर इन्हें हिमालय के मार्ग से फिर सप्तसिन्धु में लौट आना पड़ा।

श्री कर्जन का कहना है कि—“प्राचीनतम ईरानी और जेन्द की भाषा वैदिक संस्कृत से ही निकली है। इससे सिद्ध होता है कि ईरानी ही सप्तसिन्धु प्रदेश से पश्चिम (ईरान) में गये थे; आर्य पश्चिम से सप्तसिन्धु में नहीं आये थे। इसी प्रकार आर्यों का उत्तर या उत्तर-पश्चिम से सप्तसिन्धु में आना भी

१. Medlicot and Blanford's Manual of the Geology of India. p. LXX.

२. Imperial Gazetteer of India (1907), Vol. I, p. 55 and Manual of Indian Geology. p. XXIV.

३. प्राथमिक, या नीची श्रेणी के आदिम जीवों के पाषाणीभूत अवशेषों-वाले, चट्टान-युग के सबसे नीचे के स्तर का काल।

४. Dana's Manual of Geology (1863) p. 585.

५. The Bible in India. p. 17.

६. शतपथ ब्राह्मण १, २, १, ५.

७. Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland, Vol. XVI, (1854) (part II), p. 187-200

सिद्ध नहीं होता; क्योंकि भाषा-विज्ञान के अनुसार वहाँ पर किसी भी ऐसी जाति का पता नहीं चलता, जिसकी भाषा या धर्म आर्यों की भाषा या धर्म के समान हो; तथा जिससे आर्यों की उत्पत्ति मानी जा सके। उधर के शक और तूरानी तो मध्य एशिया में बहुत समय बाद प्रकट हुए थे। इसके अतिरिक्त नृवंश-शास्त्रानुसार वहाँ की ये जातियाँ आर्यों से नहीं मिलतीं। आर्य पूर्व से भी यहाँ (सप्त सिन्धु में) नहीं आये थे; क्योंकि उधर चीनी जाति के लोग रहते हैं। आर्य तिब्बत के उच्च-समतल भू-भाग (अघित्यका) से चलकर पूर्वोत्तर से भी यहाँ नहीं आये थे; क्योंकि उधर हिमालय पर्वत आ गया है तथा तिब्बत के लोग भी चीनी जाति के हैं। ये (आर्य) किसी ऐसे स्थान से भी नहीं आये थे, जहाँ पहले फिनीशियो-अरब या सिमेटिक जाति के लोग रहते थे; क्योंकि उनकी भाषा के शब्द संस्कृत में नहीं मिलते। आर्य मिस्री जाति से निकले हुए भी नहीं हैं; क्योंकि मिस्र वालों की चित्र लिपि के स्वर सिमेटिक परिवार के हैं।^१ इस कथन से प्रकट होता है कि श्री कर्जन भारत को ही आर्यों का मूल निवासस्थान मानते हैं। इनके वंशजों के यहीं से चलकर इधर-उधर फैल जाने के कारण इनकी सभ्यता भी अन्य जातियों में फैल गई।^२ फ्रांसीसी विद्वान् श्री कूजर और एम० लूई जैकालिअट भी भारत को ही आर्य-सभ्यता का आदि स्थान मानते हैं। उनके मतानुसार यहीं से इनके वंशज यूरोप तक फैल गये थे। श्री पोकाक, आदि अन्य पारचात्य पण्डित भी इससे सहमत हैं।^३

ऋग्वेद में इन्द्र के पूर्व पराक्रमों का वर्णन करते हुए कहा है^४—“इन्द्र ने मेघ के अग्रज (प्रथम उत्पन्न हुए अहि) वृत्र को मारकर वर्षा की, पर्वत से निकलने वाली नदियों के मार्ग बनाये, उन्हें (नदियों को) समुद्र वाहिनी किया, उषा और आकाश को उत्पन्न किया और सप्तसिन्धुओं को अप्रतिहत प्रवाह वाली बनाया। ये सारी घटनायें सिन्धु नदी पर हुई थीं।^५ इसी प्रकार उक्त

१. La Bible Dans L. Indie (1870) Preface, p. VII-IX.

२. श्री म्योर तो दस्युओं और असुरों को भी अनार्य (भारत के असभ्य मूल निवासी) नहीं मानते, क्योंकि उनके नामों से उनकी अनार्य उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। (Original Sanskrit Text, (1871), Vol. II, p. 387.)

श्री कर्जन का भी ऐसा ही मत है।

३. मं० १, सू० ३२.

४. मं० २, सू० ११, ऋ. ९.

संहिता में सरस्वती नदी को भी 'वृत्रघ्नी'^१ (वृत्र को मारने वाली) और देव-निन्दकों का वध करने वाली^२ कहा है। उसी में एक स्थान पर कहा गया है कि^३—(सूर्यात्मा) इन्द्र ने उषा के शकट को तोड़कर विपाश (व्यास) नदी पर गिरा दिया। इस पर वह (उषा) भागकर दूर देश में चली गई।

ऋग्वेद में वर्णित इन प्राचीन घटनाओं का सम्बन्ध सिन्धुदेश से होने से भारतीय विद्वान् आर्यों का सप्तसिन्धु देश के मूल निवासी होना अनुमान करते हैं; क्योंकि आर्यों की प्राचीनतम स्मृति और जनश्रुति की यही सीमा थी।^४

सोम-याग भारतीय आर्यों के धर्म का प्राचीनतम अंग कहा गया है।^५ ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल सोम से ही सम्बन्ध रखता है। यह सोम पीले भूरे रंग का होता था, और सप्तसिन्धु देश के आस-पास ही मिलता था। यह शर्यणावत^६ और मूँजवान्^७ पर्वत पर उगता था। उसी संहिता में एक स्थान पर इन्द्र से शर्यणावत के सोम का पान करने को कहा गया है।^८ सिन्धु नदी को

१. मं. ६, सू. ६१, ऋ. ७.

२. मं. ६, सू. ६१, ऋ. ३.

३. मं. ४, सू. ३०, ऋ. ११.

४. इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है—अग्निः पूर्वोभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैस्त (मं० १, सू० १, ऋ० २) अर्थात् अग्नि की स्तुति पहले के ऋषि भी करते थे और नवीन भी करते हैं।

इससे भी ऐसे कथनों का अति प्राचीन बातों का द्योतक होना सिद्ध होता है।

५. "आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः" (मं० ९, सू० २, ऋ० १०)। इसी प्रकार इन्द्र को प्राचीनतम ऋषि कहा है (मं० ८, सू० ६, ऋ० ४१), और उसका जन्मते ही पहले सोम पान करना सूचित किया है (मं० ३, सू० ४८, ऋ० २)। इससे भी आर्यों के यहाँ सोम-पान की प्राचीनता सिद्ध होती है।

६. मं० ९, सू० ११३, ऋ० १। (कुछ लोग इसे कुरुक्षेत्र के पास का तालाब मानते हैं। परन्तु यह चिन्त्य है।)

७. मं० १०, सू० ३४, ऋ० १। (महाभारत में लिखा है :—"गिरेहिम-वतः पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वतः)।

इसके आर्जकीया (व्यास), सुषोमा (सोहान), और सिन्धु नदी के पास मिलने के भी उल्लेख हैं।

८. मं. ९, सू. ११३, ऋ. १.

सोम की माता बतलाया है^१ और सोम का सिन्धु में बहकर आना भी प्रकट किया है।^२ इससे सिद्ध होता है कि यह सोम आर्यावर्त में ही होता था।

पारसियों के धर्मग्रन्थ जेन्द अवेस्ता में इस (सोम) को हौम कहा गया है। परन्तु आर्यावर्त से निकाले जाने पर पारसियों को सोम प्राप्त होना असम्भव हो गया था। इससे उनको इसके स्थान पर सफेद रंग का एक अन्य पीघा अपनाना पड़ा।^३ वास्तव में पहले सप्तसिन्धु-देश के^४ निवासी होने से पारसी भी अपने पूजन में हौम (सोम) का उपयोग करते थे। परन्तु अन्त में आपसी विरोध और जोरो आस्टर के उपदेश से उन (पारसियों) की 'अहुनवैती' गाथा आदि में सोमपान से मत हुए देवों की^५, और स्पेष्टा मैनिअस में सोम तथा पुरोहितों की निन्दा की गई है।^६ परन्तु अन्त में पारसियों के प्राचीन संस्कार की प्रबलता के कारण जोरो आस्टर को भी फिर से सोम को अपनाना पड़ा, और इसी से उसे सोम की तथा उसके उत्पत्ति स्थान-पर्वत और भूमि की स्तुति करनी पड़ी।^७

ऐतरेय ब्राह्मण^८ से प्रकट होता है कि सोम (सरस्वती की) पूर्व दिशा से खरीदा जाता था और इसकी खरीद तेरहवें^९ महीने में होती थी। इसी से यह तेरहवाँ मास यज्ञादिक के लिए अनुपयुक्त माना जाता था। सोम को बैलगाड़ी पर लादकर लाते थे। वहीं पर सोम विक्रेता का पापी होना भी कहा है।

उपर्युक्त बातों से सिद्ध होता है कि सोम आर्यावर्त में ही मिलता था। इसी से यूरोप की किसी भी भाषा में सोम का बोधक शब्द नहीं पाया जाता है।

१. मं. ९, सू. ६१, ऋ. ७.

२. मं. ९, सू. ३९, ऋ. ४.

३. Essays of the Religion of Parsi's, pp. 219-220.

४. जेन्द भाषा में सप्तसिन्धु को हप्तहेन्दु कहा है (वेन्दिदाद पहला फर्गद).

५. Dr. Hang's Parsi Religion, Essay III, (1862), pp. 145-153 + 163-164.

६. Dr. Hang's Parsi Religion, Essay III, (1862), p. 159.

७. Dr. Hang's Parsi Religion, Essay III, (1862), pp. 167-168,

८. १, १४।

९. इससे शायद सौर और चान्द्र मास के अन्तर के दिनों का तात्पर्य होगा।

अतः आर्यों का सप्तसिन्धु देश के निवासी होना और यहीं पर वैदिक ऋचाओं का बनना प्रकट होता है ।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल^१ में सरस्वती नदी की प्रार्थना है । उसी के छोटे मण्डल में सरस्वती से अपने को उसी के घर (सारस्वत प्रदेश) में ही सुखी रखने की प्रार्थना की गई है ।^२ उसे प्रजा-दात्री भी लिखा है ।^३ अतः आर्य इसे ही अपना मूल निवास-स्थान मानते थे, और यहीं से (अग्नि को साथ लेकर) चारों तरफ फैले थे ।^४ शतपथ ब्राह्मण से इनका पूर्व में सदानीरा के आगे तक जाकर बसना सिद्ध होता है ।^५ सदानीरा कोशल और विदेह की सीमा मानी जाती है । अतः आर्य लोग इस दिशा में बढ़ते हुए बिहार और बंगाल तक जा पहुँचे थे ।

ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है कि—विश्वामित्र, (राजा) सुदास से बहुत सी दक्षिणा मिलने पर बहुत से रथों और शकटों वाले भरतों के साथ पश्चिम में सिन्धु, विपाश (व्यास), तथा शतद्रु (सतलज) को पारकर आगे चले गये ।^६ इसी प्रकार उसमें दूसरे स्थान पर कहा है कि—विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को सुदास के घोड़ों को पूर्व, पश्चिम और उत्तर की ओर ले जाने का आदेश दिया ।^७

(पुराणों में वर्णित अगस्त्य मुनि का समुद्र पान करना और विन्ध्याचल को नतमस्तक कर दक्षिण में जाना भी राजस्थान प्रदेश का समुद्र-गर्भ से बाहर आना और आर्यों का दक्षिण में जाकर बसना सूचित करता है ।)

इन से भी अनुमान होता है कि आर्य आर्यावर्त से चलकर ही दिग्विजय करते हुए चारों तरफ फैले थे ।^८

१. मं. १, सू. ३, ऋ. १०.

२. मं. ६, सू. ६१, ऋ. १४.

३. सं. २, सू. ४१, ऋ. १७.

४. मं. १०, सू. १३१, ऋ. १ और ५.

५. १।४।१।१४.

६. मं. ३, सू. ३३.

७. मं. ३, सू. ५३, ऋ. ११.

८. 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।'

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में बहुत-सी साधारण घटनाओं तक का उल्लेख मिलता है। परन्तु आर्यों के भारत विजय का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। यदि आर्य वास्तव में बाहर से आये होते तो उन्होंने इस महत्वपूर्ण घटना का वर्णन अवश्य किया होता।^१

हम लिख चुके हैं कि—ईरानी (पारसी) भी हमारे बांधव और आर्य थे। परन्तु (इन्द्र अथवा यज्ञ की श्रेष्ठता के विषय में^२) आपस में मतभेद हो जाने के कारण उन्हें सप्तसिन्धु देश छोड़कर उत्तर-पश्चिम की ओर से ईरान में

१. मनुस्मृति में कहा गया है कि—सरस्वती और दृषद्वती—इन दोनों देवनदियों के बीच का देश ब्रह्मावर्त और देवनिर्मित देश है। (ये नदियाँ उस देश की उत्तरी और दक्षिणी सीमाएँ थीं।) उसी देश का परम्परागत आचार सदाचार कहाता था। ब्रह्मावर्त के आगे के कुरुक्षेत्र (सरस्वती के बाईं तरफ का विस्तृत मैदान), मत्स्य (जयपुर के निकट का प्रदेश), पञ्चाल (कन्नौज) और शूरसेन (मथुरा प्रदेश) ब्रह्मर्षि देश हैं। यहीं के निवासियों से पृथ्वी के सब मनुष्यों ने अपना-अपना आचार सीखा था। हिमालय और विन्ध्याचल के बीच का तथा सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम तक का मध्य देश है। (ये क्रमशः मध्य देश की उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी सीमाएँ थीं।) पूर्वी और पश्चिमी समुद्र के तथा पूर्वोक्त (हिम और विन्ध्य) पर्वतों के बीच का देश आर्यावर्त है। यहाँ पर काले हिरन घूमते हैं और यह यज्ञों का देश है। इसके आगे का (सारा) म्लेच्छ देश है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इस म्लेच्छ देश को छोड़कर उपर्युक्त वाकी के देशों में रह सकते हैं। परन्तु शूद्र, जीवन निर्वाह के लिये, किसी भी देश में रह सकता है। (अध्याय २, श्लोक १७-२४)। ऐसी अवस्था में यदि आर्य बाहर से आये होते, तो न तो वे अन्य देशों को म्लेच्छ देश ही कहते न द्विजातियों के वहाँ रहने का निषेध ही करते।

श्री कर्जन ने भी अपने पूर्वोद्धृत लेख में म्लेच्छ देश से असभ्यों के देश का तात्पर्य मानकर आर्यों का उक्त देश से संपर्क न रहना ही सिद्ध किया है। कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की अपनी टीका में आर्यावर्त की व्युत्पत्ति “आर्या यत्रावर्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्ति—इत्यार्यावर्तः” की है।

२. ऋग्वेद में अयाज्ञिकों को दण्ड देने का (मं. १०, सू. १३०, ऋ. ८) और असोमपाओं को नष्ट करने का (मं. ८, सू. १४, ऋ. १५) उल्लेख है।

जाना पड़ा।^१ (इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।) इसीसे इनकी जेन्द भाषा में सप्तसिन्धु का नाम हप्तहेन्दु, सरस्वती का नाम हरह्वैती, सरयू^२ का नाम हरोयु और रसा का नाम रंधा मिलता है।

इस प्रकार जो विद्वान् आर्यों को आर्यवर्त्त का आदि-निवासी मानते हैं, उनका अनुमान है कि तृतीय युग के अन्तिम भाग में, हिमयुग के प्रारम्भ के पूर्व ही आर्यवर्त्त और ईरान के आर्यों ने उत्तरी ध्रुव प्रदेश पर अपने उपनिवेश बसा लिये थे। उस समय वहाँ का वायुमण्डल समशीतोष्ण और मनुष्यों के लिये निवासयोग्य था। परन्तु (अन्तिम) हिमयुग के प्रारम्भ में वहाँ पर शीत बढ़ जाने के कारण उस प्रदेश के मनुष्यों के लिये निवास के अयोग्य हो जाने से इन्हें वह स्थान छोड़ना पड़ा। इस पर कुछ लोग तो वहाँ से हिमालय के मार्ग से भारत लौट आये और कुछ ईरान लौट गये। परन्तु कुछ यूरोप और मध्य एशिया में जा बसे। इसीसे अधिकांश युरोपीय जातियाँ आर्य या संकर आर्य हैं और उनकी भाषा में अब तक भी संस्कृत शब्दों के बिगड़े रूप मिलते हैं। साथ ही वहाँ पर प्राचीन आर्य वंशजों के कपालों (खोपड़ियों) के मिलने का भी यही कारण है।

इसी प्रकार श्री बालगंगाधर तिलक के उपस्थित किये, आर्यों के उत्तरी ध्रुवप्रदेश के निवाससूचक, ऋग्वेद^३ और अवेस्ता^४ में के दीर्घ अहोरात्र, आदि के वर्णन तथा शतपथ ब्राह्मण^५ में उत्तर गिरि की ओर शीघ्रता से जाने का उल्लेख आदि यदि ठीक हों, तो वे उत्तरी ध्रुवप्रदेश पर के उपनिवेशों के समय के अनुभवों की स्मृति के कारण ही किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त यह भी एक नियम-सा है कि बहुधा विजित जाति की भाषा में प्रयुक्त होने वाले स्थानों और व्यक्तियों आदि के नाम, विकृत रूप धारण कर विजेताओं की भाषा में प्रविष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ सिकन्दर के भारत

१. इन देश से निष्कासित आर्यों ने अन्त में जोरो आस्टर (जरत्-उत्तर-वृद्धनायक) का अहुरमज्दी (असुर मेघावी) मत ग्रहण कर लिया।

२. इससे पश्चिम की सरयू का तात्पर्य है, अवध की सरयू का नहीं।

३. मं. १०, सू. १३८, ऋ. ३.

४. वेन्दिदाद (४०-४१) में वहाँ के एक दिन का उनका अपना एक वर्ष होना लिखा है।

५. १, २, १, ५.

पर आक्रमण के कारण ग्रीक लेखकों के लेखों में विपाश (व्यास) का नाम 'हिपासिस',^१ परुष्णी (इरावती या रावी) का नाम 'हिअरोटिस'^२ अथवा 'हाइड्राटीज',^३ पाटलिपुत्र का नाम 'पालीबोथ्रा' और चन्द्रगुप्त (मौर्य) का नाम 'सैण्ड्राकोटस' मिलता है। परन्तु ऋग्वेद में विजित जाति की भाषा के इस प्रकार के असंस्कृत शब्द नहीं मिलते।^४ उसमें नदियों, पर्वतों और व्यक्तियों आदि के नाम उनकी अपनी शुद्ध संस्कृत भाषा के ही हैं।

ऋग्वेद में अग्नि का अङ्गिराओं द्वारा उत्पन्न किया जाना लिखा है।^५ तथा उस अग्नि से सरस्वती, आपया और दृषद्वती^६ के तीर पर (सारस्वत प्रदेश में) प्रज्वलित होने की प्रार्थना की गई है।^७ शतपथ ब्राह्मण में भी सरस्वती नदी पर ही अग्नि की उत्पत्ति होना कहा है।^८

ऋग्वेद में अश्विनों को 'सिन्धुमातरा' (सिन्धु के पुत्र) कहा है।^९ इसी प्रकार उनको सिन्धु के जल को मीठा करने वाले^{१०} और (सिन्धु की सहायक नदी) रसा को प्रवाहित करने वाले^{११} बतलाया है। साथ ही उन्हें प्राचीन भी

१. प्लीनी के लेख में।

२. स्ट्रैबो के लेख में।

३. एरियन के लेख में।

४. ऋग्वेद में की एक ऋचा में आये जर्भरी, तुर्फरी पर्फरीका और नैतोश, आदि कुछ शब्दों के अतिरिक्त और कोई असंस्कृत शब्द नहीं मिलता है (मं. १०, सू. १०६, ऋ. ६)। कुछ विद्वानों का कथन है कि आलिगी, बिलिगी, वाण, आदि शब्द तो विदेशी भाषाओं की उत्पत्ति के पूर्व से ही वेद में हैं। अतः यहीं से ये उन भाषाओं में गये होंगे।

५. मं. १, सू. ८३, ऋ. ४.

६. सरस्वती सतलज के दक्षिण में और दृषद्वती सरस्वती के दक्षिण में थी।

७. मं. ३, सू. २३, ऋ. ४.

८. शतपथब्राह्मण १, ४, १, १०.

९. मं. १, सू. ४६, ऋ. २.

१०. मं. १, सू. ११२, ऋ. ९.

११. मं. १, सू. ११२, ऋ. १२.

कहा है^१ और उनका उषा के पूर्व उदय होना बतलाया है।^२

इन उल्लेखों और पूर्वोद्धृत इन्द्र और सोम संबन्धी उल्लेखों से सिद्ध होता है कि इन देवताओं की कल्पना सप्तसिन्धु प्रदेश में ही हुई थी।

ऋग्वेद में खेती की प्रशंसा^३ का, ६ ऋतुओं का और बलों से खेत जोतने^४ का उल्लेख ; तथा भिन्न-भिन्न फसलों के भिन्न-भिन्न समय पर पकने और काटे जाने का^५ कथन मिलता है। गायों को आर्यों का मुख्य धन बतलाया है।^६ इससे भी आर्यों का नाम सप्तसिन्धु देशवासी होना प्रकट होता है।

श्री जिनेडी ए. रागोजिन का मत है कि गाय खानाबदोशी (एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहने) के अयोग्य है। अतः आर्य भारत के ही मूल निवासी थे।^७

श्री ए. सी. दास का मत है कि—ऋग्वेद-काल में सप्तसिन्धु के उत्तर

१. मं. ६, सू. ३२, ऋ. ५.

२. मं. १, सू. ३४, ऋ. १०.

३. मं. १०, सू. ३४, ऋ. १३। वेन्दिदाद में भारतीयों का कृषि-द्वेषी होना, आर्यों और पारसियों के आपस के द्वेष के कारण ही लिखा गया है।

४. मं. १, सू. २३, ऋ. १५.

५. मं. १, सू. १३१, ऋ. २.

६. मं. २, सू. २, ऋ. ९.

७. Vedic India by J. A. Ragozin. (1895,) p. 63.

८. Rigvedic India। भूगर्भ-शास्त्रियों के मतानुसार विन्ध्याचल की अपेक्षा हिमालय एक नया पर्वत है (और अभी उठ रहा है। यह उस समुद्र के गर्भ से निकलता था, जो पहले इसके स्थान पर था)। पौराणिक कथा से भी यही ध्वनि निकलती है। उससे ज्ञात होता है कि नवजात हिमालय के सौभाग्य से ईर्ष्या करके ही विन्ध्य ने अपने को ऊँचा उठाना प्रारम्भ किया था। परन्तु अगस्त्य के आदेश से उसे झुकना पड़ा। (इससे मध्य भारत में भौगर्भिक उपद्रवों के होने की सूचना मिलती है।) जब यह (हिमालय) पृथ्वी के बाहर निकला (मं. २, सू. १२, ऋ. २३ और मं. २, सू. ६७, ऋ. ५), तब पास की भूमि में एक गहरा गर्त बन गया। इसके फिर से भरने में हजारों वर्ष लगे।। उस समय गङ्गा और यमुना छोटी-छोटी नदियाँ थीं। उपर्युक्त गर्त की पूर्ति से जैसे-जैसे समुद्र पीछे हटता गया, वे आगे बढ़ती गईं। आगे चलकर यमुना गङ्गा में आ मिली और गङ्गा गङ्गासागर तक पहुँच कर समुद्र में मिल गई। इसी

में हिमालय और उसके पीछे समुद्र था, जो वर्तमान तुर्किस्तान के उत्तरी सिरे से आरम्भ होकर पश्चिम में कृष्ण सागर तक फैला हुआ था। इस समुद्र के उत्तर में उत्तरीध्रुव प्रदेश तक फिर भूमि थी। सप्तसिन्धु के दक्षिण में अवंली की श्रेणी तक राजस्थान समुद्र था। यह पश्चिम में अरब सागर से मिला हुआ था। पूर्व का समुद्र हिमालय की तलहटी के नीचे-नीचे युक्त प्रान्त और बिहार को ढकता हुआ असम तक गया था। पश्चिम में सुलेमान पर्वत था। परन्तु इस तरफ भी पर्वत के नीचे समुद्र की एक पतली गली थी।

ऋग्वेद में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का उल्लेख मिलता है।^१ इसी प्रकार उसमें चारों समुद्रों (और उनके घन-पूर्ण होने) का भी उल्लेख है।^२ अतः उस समय सप्तसिन्धु के चारों ओर समुद्र होने से यहाँ सर्दी और वर्षा अधिक होती थी, तथा चारों तरफ से उठने वाली भाप के कारण पर्वतों पर बर्फ पड़ती थी।^३

प्रकार समुद्र के हटने पर ब्रह्मपुत्र भी असम के मार्ग से बंगाल में आकर गङ्गा से मिल गई। पहले सरस्वती राजस्थानसमुद्र में गिरती थी। परन्तु इस समुद्र के सूखने पर उसके स्थान पर रेता रह गया। हिमालय से निकलने वाली पूर्व की नदियों की लाई मट्टी से उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल की भूमि बनी। राजस्थान समुद्र का अवशेष भाग सांभर झील है। सरस्वती भी लम्बाई में छोटी होकर राजस्थान की रेती में लुप्त हो गई। सरस्वती और दृषद्वती दोनों को आजकल घग्घर कहते हैं। उत्तर की तरफ का समुद्र भी सूख गया था। उसके अवशेष कैस्पियन सागर, अराल सागर और उधर की बड़ी-बड़ी झीलें हैं। पश्चिमी समुद्र सुलेमान पर्वत तक था। वहाँ सिन्धु प्रान्त का एक भाग बस गया है।

१. मं. १, सू. १३६, ऋ. ५। उस समय जिस समुद्र में सिन्धु गिरती थी, वह पश्चिमी समुद्र और जिसमें यमुना तथा गङ्गा गिरती थी वह पूर्वी समुद्र रहा होगा। ऋग्वेद में गङ्गा के पूर्व की नदियों अथवा स्थानों के नाम न होने से बंगाल की खाड़ी को पूर्वी समुद्र नहीं माना जा सकता। यह समुद्र आजकल के उत्तर प्रदेश में था।

२. मं. ९, सू. ३३, ऋ. ६। सरस्वती दक्षिणी समुद्र में गिरती थी।

३. मं. ५, सू. ३२, ऋ. १ और मं. १, सू. ५४, ऋ. १०। इसी से 'शत हिमा' का प्रयोग मिलता है।

उत्तरी भारत की प्राचीन स्थिति के विषय में भारतीय भूगर्भ-शास्त्रियों का मत यहाँ संक्षेप में उद्धृत किया जाता है^१ :—

‘अति प्राचीन काल में मध्य एशिया के उस भाग में, जहाँ पर इस समय हिमालय-पर्वतमाला विद्यमान है, एक समुद्र था। इसकी चौड़ाई कम-से-कम ४५० कोस की थी इस का नाम टेथिस सागर रखा गया है। इसके दक्षिणी तट पर एक ऊँची भूमि थी। असम और काश्मीर में उस समय भी खुली भूमि थी। काश्मीर के बीच एक बड़ी झील भी थी। कालान्तर में धीरे-धीरे इस समुद्र का तल ऊपर उठने लगा। यही उठा हुआ तल हिमालय पर्वत है। परन्तु इस तल (हिमालय) के उठने के साथ-साथ उसके दक्षिण का भूभाग पृथ्वी में धंसता गया और इस भूमि पर एक समुद्र लहराने लगा। यह समुद्र असम की तलहटी से सिन्ध तक था। इसके उत्तर में इसके और पर्वत के बीच की भूमि पर एक नदी बहती थी। यह असम की तरफ से आती थी। इसका बहाव उत्तर-पश्चिम को था। मरवद के पास यह आजकल की सिन्धु में मिलकर सिन्धु प्रान्त के उत्तरी भाग के किसी स्थान पर समुद्र में गिरती थी। बीच में जो समुद्र पड़ता था, उसमें कुछ तो उत्तर की ओर से मिट्टी पड़ती थी और कुछ दक्षिण के उस भूभाग से बहकर आती थी, जो गोंडवाना महाद्वीप का उत्तरी भाग था^२। दक्षिण की अनेक नदियाँ उस समय उत्तर की ओर बहती

१. D.N. Wadiya's Geology of India.

The Quarterly Journal of the Geological, Mining and Metallurgical Society of India, (December 1932) में श्री वाडिया का लेख।

The Tertiary Geosyncline of North-West Punjab and History of the Quarternary Earth movements and drainage of the Gangatic trough by D.N. Wadiya.

Current Science (August 1936). The Himalayan uplift since the advent of men; its cult historical significance by Dr. Birbal Sahani.

२. यह गोंडवाना महाद्वीप किसी समय पूर्वी अफ्रीका से पश्चिमी मलय द्वीप समूह तक फैला हुआ था। इस समय यह जलमग्न हो चुका है। परन्तु उसके ऊँचे भू भाग अफ्रीका से मलय तक आज भी द्वीपों के रूप में फैले मिलते हैं। अनुमान किया गया है कि ऋग्वेदकाल में यह महाद्वीप जलमग्न नहीं हुआ था।

थीं। धीरे-धीरे यह समुद्र भरने लगा। पहले तो इस स्थान पर कई बड़ी-बड़ी झीलें बन गईं, जिनके चारों तरफ ऊँची भूमि थी। परन्तु फिर क्रमशः ये झीलें भी भर गईं और उत्तर भारत के युक्त प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) से पूर्वी बंगाल तक का मैदान बन गया। इस समय भी हिमालय का ऊँचा उठना जारी था। इसी प्रकार राजस्थान समुद्र भी अपनी स्मृति रूप सांभर झील को छोड़ कर मरुस्थल बन गया। उस महानदी का भी, जो पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर बहती थी, रूप बदल गया। पहले सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक एक 'नदी-माल' बना हुआ था। इसी से भूगर्भशास्त्री इसे 'इण्डोब्रह्म' (सिन्धु-ब्रह्म) कहने लगे। परन्तु बाद में बीच की भूमि के ऊँची हो जाने से यह माला टूट गई। 'सप्तसिन्धवः' या पंजाब की नदियाँ सिन्धु में मिल गईं। पूर्व की नदियाँ अपनी प्रवाह की दिशा बदलकर पूर्ववाहिनी हो गईं। जैसे-जैसे समुद्र का पानी हटता गया और गर्त पटकर भूमि बनती गई, वैसे-वैसे इन नदियों की लम्बाई भी बढ़ती गई। गङ्गा जो पहले अपने स्रोत से निकलकर, थोड़ी दूर के बाद ही पश्चिम की ओर घूम जाती थी, इस समय कई सौ कोस तक बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है।

थोड़ा बहुत परिवर्तन आज भी हो रहा है। हिमालय का उठना इस समय भी जारी है। नदियाँ आजकल भी मट्टी और कंकर लाकर अपने तटों की भूमि को उठा रही हैं। परन्तु भारत का वर्तमान रूप आज से २५-३० हजार वर्ष पूर्व ही बन चुका था। इसी बीच ऋतुओं की तीव्रता में भी परिवर्तन हुआ, भूमि की उर्वरता में अन्तर पड़ा, और कुछ नदियों के मार्ग भी बदल गये। परन्तु भूगर्भशास्त्रियों के विचारानुसार ये गौण बातें हैं।

इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि जिस समय उत्तर का समुद्र भर रहा था, और उसका गड्ढा पटकर भूमि बन रहा था, उस समय काश्मीर और पश्चिमोत्तर पञ्जाब की तरफ मनुष्य बसते थे।

पुनश्च वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी पर मनुष्य को उत्पन्न हुए तीन लाख वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ है। श्री डार्विन के मतानुसार, यह भी कहते हैं, कि मनुष्य बानर का विकसित रूप है। इन किपुरुषों की आकृति ही मनुष्य की आकृति का पूर्व रूप थी। उनकी बुद्धि में भी मानव बुद्धि का बीज विद्यमान था। परन्तु उनमें इतनी योग्यता नहीं थी, कि वे अपनी अस्थियों के अतिरिक्त अपने अस्तित्व का कोई अन्य चिह्न छोड़ जाते। इसके बाद धीरे-धीरे हजारों वर्षों में उन्होंने चट्टानों को खोदकर उन पर चित्र

अंकित करने, पशु पालने या पत्थर के शस्त्र बनाने का कला सीखी होगी। जिन लोगों ने ये काम किये वे अपने आदिम पूर्वजों से कई हजार वर्ष बाद के और सभ्यता और संस्कृति में बहुत बढ़े-चढ़े, थे। इनके बनाये पत्थर के अस्त्र-शस्त्र, जो अनेक स्थानों से मिलते हैं, वे आज से लाख-डेढ़ लाख वर्ष पूर्व का इतिहास प्रकट करते हैं।

भारतीय आर्य ऐसे ही भारतीयों के वंशज थे, या अति प्राचीन काल में बाहर से आकर यहाँ बस गये थे, यह विचारणीय है। परन्तु इनको बाहर से आने की स्मृति बिलकुल नहीं थी। इनके समय के साहित्य से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने भारत के अतिरिक्त कोई दूसरा देश देखा तक न था। ऋग्वेद में पाषाण के शास्त्रों का उल्लेख मिलता है।^१ जब तक प्रबलतर विरोधी प्रमाण न मिल जाँ, तब तक यही मानना होगा कि भारतीय आर्य सप्तसिन्धु के ही निवासी थे और इन्होंने अपने निवासस्थान के पूर्व और दक्षिण में समुद्र देखा था। इनके देखते-देखते ही गङ्गा की धारा पूर्व को मुड़ी, और धीरे-धीरे समुद्र का स्थान भूमि ने ग्रहण कर लिया।

ऋग्वेद में आर्यों के बाहर से आकर सप्तसिन्धु में बसने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उससे तो यही ज्ञात होता है कि उस समय आर्य यहाँ पर पूरी तौर से बसे हुए थे, उनका समाज सुव्यवस्थित था, और उनकी सभ्यता उच्चकोटि की थी।^२ अतः ऋग्वेद में आर्यों की उन्नत अवस्था यदि आर्य बाहर से आये भी होंगे, तो ऋग्वेद संहिता की ऋचाओं और सूक्तों की रचना और उनके संकलन के बहुत पूर्व ही यहाँ पर आकर बस गये होंगे।

ऋग्वेद^३ में यज्ञादिक कर्म करने वालों को आर्य कहा है। यास्क^४ आर्य को ईश्वरपुत्र कहता है।

१. मं० ७, सू० १०४, ऋ. ५.

२. यद्यपि मिस्र या असीरिया वालों की सभ्यता के विशाल भौतिक स्मारकों के समान आर्यों की सभ्यता के स्मारक यहाँ पर नहीं मिले हैं, तथापि यह बात सर्वमान्य है कि वे बुद्धि और धार्मिक आचार-विचार में बहुत बढ़े-चढ़े थे।

३. मं. १, सू. ५१, ऋ. ८.

४. निरुक्त पू. खं. ६, २६.

उस समय के आर्यों का समाज सुव्यवस्थित था। इनका कुल पितृ-परम्परा से माना जाता था। इनके यहां एक पति^१ और एक पत्नीव्रत^२ का प्रचार था।

पति गृहस्वामी और पत्नी गृहस्वामिनी होती थी। समाज विवाह और सदाचार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पिता-कुटुम्ब पुत्री और भाई-बहन का विवाह निषिद्ध था। युवती

कन्याओं का विवाह होता था।^३ पति के वरण में कन्याओं को कुछ हद तक स्वतन्त्रता थी।^४ वे अविवाहिता भी रह सकती थीं और ऋषिका भी बन सकती थीं।^५ कन्या माता-पिता^६ या भाई^७ की संरक्षता में रहती

१. मं. १०, सू. ७५, ऋ. २१.

२. पीछे से इस नियम में शिथिलता आ गई थी (मं. १, सू. ७१, ऋ. १; मं. ७, सू. २६ ऋ. ३; मं. १०, सू. १०१ ऋ. ११; मं. १, सू. ११६, ऋ. १०; मं. ८, सू. १९, ऋ. ३६)।

३. मं. १०, सू. ८५, ऋ. ९ तथा २२; मं. १०, सू. ३०, ऋ. ५-६। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ८५वें सूक्त में सूर्या के साथ विवाह करने को देवों का रथों की दौड़ लगाना कहा गया है। सूर्या (उषा) का विवाह सोम से हुआ, और अश्विनों ने इसमें घटक का काम किया। वहीं पर पत्नी को सुन्दर उपदेश दिये गये हैं (मं. १०, सू. ८५, ऋ. २७), और उसके लिए शुभङ्करी होने की प्रार्थना की गई है (मं. १०, सू. ८५, ऋ. ४३)।

४. मं. १०, सू. २७, ऋ. १२। परन्तु वहीं पर माता-पिता द्वारा किये विवाहों का उल्लेख भी मिलता है (मं. ५, सू. ६१, ऋ. ९-१०; तथा मं. ३, सू. ३१, ऋ. १)। उस समय दस पुत्रों तक की कामना भी की जाती थी (मं. १०, सू. ८५, ऋ. ४५)। स्वयंवर भी होते थे (मं. १, सू. ११६, ऋ. १)।

५. ऋग्वेद में स्त्रियों के रचे सूक्त भी विद्यमान हैं। जैसे—अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा (मं. १, सू. १७९), कक्षीवान् की स्त्री घोषा (मं. १० सू. ३९-४०), रोमशा (मं. १, सू. १२६, ऋ. ६-७), सूर्या (मं. १०, सू. ८५), अपाला (मं. ८, सू. ८०), जुहू (मं. १०, सू. १०९), विश्ववारा (मं. ५, सू. २८), आदि के रचे सूक्त।

६. मं. १०, सू. १७, ऋ. ७.

७. मं. ४, सू. ५, ऋ. ५.

थी। कन्या के विवाह में शुल्क^१ (दहेज) और वस्त्राभूषण^२ दिये जाते थे। विवाह के बाद नव वधू बेलगाड़ी पर बैठकर पति के घर जाती थी, वहाँ पर पति के वृद्ध माता-पिता और छोटे भाई-बहनों की देखभाल करती थी,^३ और यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों में पति के साथ भाग लेती थी।^४ वैदिक विवाह का बन्धन आमरण माना जाता था।^५ विवाह के बाद कन्या के उतारे मैले वस्त्र ब्राह्मण को दिये जाते थे।^६ विवाह में पति पत्नी के पाणि का ग्रहण कर उस सम्बन्ध के निर्वाह की प्रतिज्ञा करता था।^७ राजकन्याओं का विवाह ऋषियों के साथ भी होता था।^८ ऋग्वेद में निर्लज्ज^९।^{१०} व्याभिचारणी^{१०} और गुप्त-प्रसाविनी^{११} स्त्री का भी उल्लेख है। एक स्थान पर असती और पतिद्वेषिणी को नरक प्राप्ति होना कहा है।^{१२} उसमें उपपत्तियों का उल्लेख भी मिलता है।^{१३} विधवाविवाह निषिद्ध था। ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर उपमा के रूप में विधवा का देवर की कामना करना व्यक्त किया गया।^{१४} दूसरे स्थान पर स्त्री को चञ्चल मनवाली और अल्पबुद्धि कहा है।^{१५} इसके आगे के एक मन्त्र में^{१६} स्त्री को ओंठ आदि किसी

-
१. मं. १, सू. १०९, ऋ. २.
 २. मं. ९, सू. ४६, ऋ. २.; मं. १०, सू. ३९, ऋ. १४.
 ३. मं. १०, सू. ८५, ऋ. ४६.
 ४. मं. ८, सू. ३१, ऋ. ५.
 ५. मं. १०, सू. ८५, (विवाह प्रकरण)
 ६. मं. १०, सू. ८५, ऋ. २९, ३४, और ४३
 ७. मं. १०, सू. ८५, ऋ. ३६.
 ८. मं. १, सू. १२५, ऋ. १, और मं. १, सू. १२६, ऋ. २-४.
 ९. मं. ७, सू. ८०, ऋ. २.
 १०. मं. १०, सू. ४०, ऋ. ६.
 ११. मं. २, सू. २९, ऋ. १.
 १२. मं. ४, सू. ५, ऋ. ५.
 १३. मं. १, सू. ११७, ऋ. १८; मं. ९, सू. ३८, ऋ. ४ और मं. १०, सू. १६२, ऋ. ५।
 १४. मं. १०, सू. ४०, ऋ. २ (यास्क ने भी संभवतः इसी के आधार पर देवर का अर्थ द्वितीय वर किया है)।
 १५. मं. ८, सू. ३३, ऋ. १७; मं. १०, सू. ५५, ऋ. १५.
 १६. मं. ८, सू. ३३, ऋ. १८-१९. कुछ लोग इससे पर्दा-प्रथा का होना

को न दिखलाने का आदेश है। एक मन्त्र से^१ स्त्रियों का बाहर जाते हुए वस्त्र से शरीर का ढकना भी प्रकट होता है। एक स्थान^२ पर नौकर और उसके वेतन का भी उल्लेख है।

पिता का उत्तराधिकारी पुत्र होता था; क्योंकि वही उसका अन्तिम संस्कार करता था। पुत्री केवल संमान की अधिकारिणी होती थी।^३ पुत्र न होने पर दौहित्र के कारण पुत्री को धन मिलता था।^४ इसी प्रकार आजीवन अविवाहिता रहने वाली कन्या को भी माता-पिता की संपत्ति में से कुछ भाग मिलता था।^५ पुत्र न होने पर दत्तक पुत्र लेने का भी

उत्तराधिकार

रिवाज था। परन्तु उस पर विशेष श्रद्धा नहीं थी।^६

अतः प्रत्येक व्यक्ति पुत्र^७ की कामना करता था।

संपत्ति चल और अचल दोनों प्रकार की होती थी। चल संपत्ति में पशु,^८ सुवर्ण, आभूषण, दास आदि और अचल संपत्ति में गृह, क्षेत्र, आदि होते थे।

अनुमान करते हैं। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है। इसी मन्त्र सेपुरुष से स्त्री हो जाने का भाव भी प्रकट होता है।

१. मं. ८, सू. १७ ऋ. ७.

२. मं. ६, सू. १७, ऋ. १४; मं. ९, सू. १०३, ऋ. १.

३. मं. ३, सू. ३१, ऋ. २.

४. मं. ३, सू. ३१, ऋ. १। (इस मन्त्र में बतलाया है कि भ्रातृविहीना कन्या का पिता जामाता को वस्त्राञ्जलकार से सन्तुष्ट कर दौहित्र को पौत्र बना लेता है। इसीसे मनु ने ऐसी कन्या से विवाह का निषेध किया है (मनुस्मृति ३।११ और ९।१२७)।

५. मं. २, सू. १७, ऋ. ७.

६. मं. ७, सू. ४, ऋ. ७.

७. ऋग्वेद में पुत्र की कामना ही मिलती है, पुत्री की कामना नहीं है (मं. ५, सू. २३, ऋ. १; मं. ६, सू. २०, ऋ. १; मं. ७, सू. १, ऋ. २१)। यजुर्वेद में तत्काल जन्मी कन्याओं के परित्याग की बात का होना और ऐतरेय ब्राह्मण में कन्या को चिन्ता का कारण मानना कहा गया है।

८. पशु को धन समझते थे। इसी से पशु शब्द के विकृत रूप पेसस् या पेकुस् लैटिन भाषा में धन के वाचक हैं। अंग्रेजी का पिक्यूनरी (pecuniary) शब्द भी इसी से सम्बन्ध रखता है।

संपत्ति

पशु-धन ही मुख्य धन समझा जाता था । परन्तु वीर और योग्य पुत्र भी संपत्ति के रक्षक और वर्धक होने के कारण संपत्ति में गिने जाते थे । सुवर्ण को रक्षित रखने के लिए कलश में भरकर भूमि में गाड़ दिया जाता था ।^१ मं. ५, सू. २७, ऋ. २ से सुवर्णमुद्रा का प्रचलन भी प्रकट होता है । धन को वे चञ्चल मानते थे^२ और उसे धर्म और परोपकार के कामों में लगाना ही उचित समझते थे ।^३ खेत माप-दण्ड से नापे जाते थे ।^४ कुछ विद्वान् 'खिल्य' शब्द से खेतों को विभक्त करने वाले मार्ग (पगडंडी) का तात्पर्य मानते हैं ।

निर्वाह के साधनों में पशु-धन ही मुख्य था । सांड या बैल^५ हल चलाने या गाड़ी खींचने के काम आते थे । कभी-कभी इनका उपयोग युद्ध के रथों में भी होता था ।^६ गायों से दूध और घी मिलता था । घोड़ों^७ का प्रयोग युद्ध, रथ खींचने और घुड़ दौड़ में होता था । कभी-कभी गधे भी रथ खींचते थे^८ और दान में दिये जाते थे ।^९ इन से बोझा ढोने का काम भी लिया जाता था । भेड़-बकरी से ऊन मिलता था । कुत्ते चौकीदारी करते, बोझा ढोते^{१०}, या शिकार में सहायता देते थे ।^{११} ऊँट बोझा ढोने में^{१२} या युद्ध में^{१३} काम आते थे

-
१. मं. १, सू. ११७, ऋ. १२.
 २. मं. १०, सू. ११७, ऋ. ५.
 ३. मं. १०, सू. ११७, ऋ. ६.
 ४. मं. १, सू. ११०, ऋ. ५.
 ५. मं. ६, सू. २८, ऋ. २.
 ६. मं. ८, सू. ४६, ऋ. ३०.
 ७. मं. १०, सू. १०२, ऋ. ६.
 ८. घोड़ों के सुवर्ण के आभूषणों से भी सजाते थे (मं. ४, सू. २, ऋ. ८.)
 ९. मं. ८, सू. ७४, ऋ. ७० और मं. १, सू. ७६, ऋ. २.
 १०. मं. ८, बालखिल्य सूक्त ८.
 ११. मं. ८, सू. ४६, ऋ. २८.
 १२. मं. ७, सू. ५५, ऋ. ३-५.
 १३. मं. ८, सू. ६, ऋ. ४८.
 १४. मं. १, सू. १३८, ऋ. २.

और ये दान में भी दिये जाते थे। हाथी^३ राजा की सवारी में काम आता था और अंकुश^४ के द्वारा वश में रक्खा जाता था। आर्य लोग भैंस^५ भी पालते थे। इनके गाय, भेड़, बकरी आदि पशु ग्वालों की संरक्षकता में गोष्ठों में चरने जाया करते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है^६—“सहस्रं मे ददतो अष्टकर्णः।” इससे अनुमान होता है कि गायों आदि की पहचान के लिए उनके कानों पर चिन्ह बना दिये जाते थे। यहाँ पर ‘अष्टकर्णः’ से कान पर आठ के चिन्ह वाली गाय माना जाता है। आर्यों को अपने पशुओं के लिए घास की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी जाना पड़ता था।

आर्य लोग खेती के लिए हल में^७ बैल जोतते थे।^८ खेतों में गोबर (करीष) की खाद देते थे और सिंचाई भी करते थे।^९ सिंचाई करने वाले पुरुष धान्य की रक्षा के लिए हल्ला करके पक्षियों को उड़ाया करते थे।^{१०} धान्य के पक जाने पर उसे हंसिये (दात्र या^{११} सृणि) से काटकर^{१२} गट्टों (पर्षों) में बाँध लेते थे और खलियान (खल) में लाकर^{१३} और मलकर, सूप^{१४} (तितउ या शूर्प) की सहायता से^{१५} अन्न को भूसे से अलग करते थे। ये धान्य साफ करने वाले ‘धान्यकृत्’^{१६}

१. मं. ८, सू. ४६, ऋ. २२.

२. मं. ४, सू. ४, ऋ. १.

३. मं. १०, सू. ४४, ऋ. ९.

४. मं. ८, सू. १२, ऋ. ८ और मं. ८, सू. ३५, ऋ. ७.

५. मं. १०, सू. ६२, ऋ. ७.

६. मं. ८, सू. २२, ऋ. ६.

७. मं. १०, सू. ०१, ऋ. २-३.

८. मं. १०, सू. १०१, ऋ. ६.

९. मं. १०, सू. ६८, ऋ. १.

१०. मं. ८, सू. ७८, ऋ. १०.

११. मं. १०, सू. १०१, ऋ. ३.

१२. मं. १०, सू. ४८, ऋ. ७.

१३. विद्वान् लोग तितउ शब्द को किसी प्राचीन भाषा का बिगड़ा हुआ रूप मानते हैं। सम्भव है, यह प्राचीन भाषा भारतीय और ईरानी आर्यों के पूर्वजों की भाषा हो।

१४. मं. १०, सू. ६१, ऋ. २.

१५. मं. १०, सू. ९४, ऋ. १३.

कहाते थे । इस प्रकार से उत्पन्न किया हुआ अन्न ऊर्दर (नापने के पात्र) से नापकर^१ अन्न रखने की कोठी^२ (स्थिवि) में भर दिया जाता था । अनुउपजाऊ खेत को आर्तन कहते थे ।^३ खेतों का विभाजन भी होता था^४ और उन पर व्यक्ति का अधिकार माना जाता था ।^५

मनुष्यों और पशुओं के लिए अलग-अलग कुँए^६ होते थे । इन पर पत्थर की चरखियाँ (अश्मचक्र) लगी रहती थीं और उनकी सहायता से डोल (कोश) में चमड़े की रस्सी (वरत्रा) बाँधकर पानी बाहर खींचा जाता था ।^७ सिंचाई के लिए कूँओं, झीलों (ह्रदों) और नहरों^८ (कुल्याओं) से पानी दिया जाता था ।

ऋग्वेद में अन्न के लिए 'यव' और 'धान्य' ये दो ही शब्द मिलते हैं । ये दोनों साधारणतया अन्न के ही बोधक हैं । अनुमान किया जाता है कि संभवतः उस समय जौ और चावल का ही विशेष उपयोग होता था ।

आर्य पशु-पालन और खेती के अतिरिक्त शिकार भी किया करते थे । इस से पेट भराई, मन बहलाव, और पशुओं तथा खेतों की रक्षा में सहायता मिलती थी । इसके लिए साधारणतया तीर-कमान ही काम में लिये जाते थे ।^९ इनके अतिरिक्त जाल या पाश^{१०} भी काम में आते थे । इसे 'निघा' या 'मुक्षिजा'^{११} कहते

शिकार

-
१. मं. २, सू. १४, ऋ. ११.
 २. मं. १०, सू. ६८, ऋ. ३.
 ३. मं. १, सू. १२७, ऋ. ६.
 ४. मं. १, सू. ११०, ऋ. ५.
 ५. मं. ८, सू. ९१, ऋ. ५.
 ६. मं. १०, सू. १०५, ऋ. १७.
 ७. मं. १०, सू. १०१, ऋ. ५-७.
 ८. मं. ८, सू. ६९, ऋ. १२.
 ९. मं. ८, सू. ४२, ऋ. २.
 १०. मं. ३, सू. ४५, ऋ. ३.
 ११. मं. १, सू. १२५, ऋ. २.

थे। बहेलिया 'निधापति' कहलाता था। जानवरों को पकड़ते समय हरिण (ऋश्य) को खड्गे (ऋश्यदा) द्वारा, सूअर को कुत्तों द्वारा^१, भैंसे (गीर) को रस्सी (ज्या) के फंदे (पाश) द्वारा,^२ सिंह को छिपकर हल्ले द्वारा तृणावृत खड्गे में गिराकर^३ और जंगली हाथियों को पालतू हथिनियों की सहायता^४ से पकड़ते थे। कभी-कभी सिंह को घेरकर उसका शिकार भी करते थे।^५ ऋग्वेद में एक स्थान पर पिंजरे में बन्द सिंह का उल्लेख है।^६ मछली जाल से पकड़ी जाती थी।

कारीगरों में बड़ई (तक्षा), रथ^७ और गाड़ी (अनस्) बनाता था। किसी-किसी गाड़ी पर छत (छदि) भी लगी रहती थी। 'सोने बैठने के लिए पलंग भी बनाये जाते थे।^८ बड़ई के औजार को, जिससे वह रथ या पात्र आदि बनाता था कुठार (परशु) कहते थे। यह पत्थर^९ या लोहे^{१०} का होता था। लुहार (कर्मार) कच्चे लोहे को घौंकनी (ध्मातृ) की सहायता से आग में गलाकर उसकी अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाता था।^{११} इनके बनाये तीरों की

१. मं. १० सू. ८६, ऋ. ४. और मं. ७, सू. ५५, ऋ. ४.

२. मं. १०, सू. ५१, ऋ. ६.

३. मं. ५, सू. ७४, ऋ. ४.

४. मं. ८, सू. २, ऋ. ६. (इस मन्त्र में हाथी के लिए मृग शब्द का प्रयोग किया गया है)।

५. मं. ५, सू. १५, ऋ. ३.

६. मं. १०, सू. २८, ऋ. १०.

७. भृगुवंशी रथ बनाने में विशेष कुशल थे (मं. १०, सू. ३९, ऋ. ४)।

८. मं. १०, सू. ८५, ऋ. ९० (किसी-किसी रथ में सुन्दरता के लिए सुवर्ण का उपयोग भी होता था) मं. ३, सू. ६१, ऋ. २।

९. मं. ७, सू. ५५, ऋ. ८ (इसी मन्त्र में 'वह्य' का उल्लेख है। यह शायद पालकी या डोली हो। परन्तु वहाँ इस पर स्त्रियों का सोना कहा गया है।

१०. मं. १०, सू. १०१, ऋ. १०.

११. मं. ८, सू. २९, ऋ. ३.

१२. मं. १०, सू. ७२, ऋ. २ (घौंकनी पक्षियों के परों की बनी होती थी)।

गति को ठीक रखने के लिए उनके पीछे पर भी लगाये जाते थे। वे अच्छे समझे जाते थे, और उनका मूल्य सुवर्ण में भी मिलता था।^१ सुनार^२ (हिरण्य-कार) सुवर्ण के आभूषण आदि बनाता था। यह सोना सिन्धु की रेती से (और सम्भवतः पृथ्वी से भी) मिलता था। इसी से सिन्धु को हिरण्मयी कहा गया है।^३ चमार^४ चमड़े की धनुष् की प्रत्यंचा (डोरी), पानी खींचने और रथ को ढकने^५ या रथ के भिन्न-भिन्न भागों को बाँधने की रस्सियाँ, घोड़े की लगाम^६, बैल आदि को हाँकने का कोड़ा, पानी निकालने के डोल और गोफन आदि बनाता था। विद्वानों का अनुमान है कि चर्म को परिष्कृत करने की कला का भी उनको ज्ञान था।^७ जुलाहा (वाय) कपड़ा बुनता था।^८ उसके वस्त्र करघा^९ (वेमा), ढरकी (तसर)^{१०}, ताना (ओतु) और बाना (तन्तु) की सहायता से तैयार होते थे।^{११} साधारणतया यह काम स्त्रियाँ करती थीं।^{१२} इसी प्रकार वे सुई से कपड़े पर बेल-बूटे बनाने का काम भी करती थीं।^{१३} माली (मालाकार) पुष्पों की मालायें आदि बनाता था।^{१४} नाई उस्तरे से बाल काटता था।^{१५} उस समय काम में जाति का कोई सम्बन्ध नहीं था एक ही कुटुम्ब के लोग निर्वाह

१. मं. ९, सू. ११२, ऋ. २.

२. मं. ८, सू. ४७. ऋ. १५.

३. मं. १०, सू. ७५, ऋ. ७-८.

४. मं. ८, सू. ५, ऋ. ३८.

५. मं. ८, सू. ५, ऋ. ३८.

६. मं. ६, सू. ४७, ऋ. २६.

७. मं. १०, सू. १०२, ऋ. २.

८. वैदिक इण्डेक्स १, २३४, २५७.

९. मं. १०, सू. २६, ऋ. ६.

१०. मं. १९, सू. ७१, ऋ. ९.

११. मं. १०, सू. १३०, ऋ. २.

१२. मं. ६, सू. ९, ऋ. २.

१३. मं. २, सू. ३, ऋ. ६ और मं. ५, सू. ४७, ऋ. ६.

१४. मं. २, सू. ३२, ऋ. ४.

१५. मं. ८, सू. ४७, ऋ. १५.

१६. मं. १०, सू. १४२, ऋ. ४.

के लिए भिन्न-भिन्न काम करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में लिखा है:^१—
“मैं स्तोत्र-रचयिता (स्तोता) हूँ, मेरा पिता वैद्य है, और मेरी माता पत्थर
से अन्न पीसने वाली है। (इस प्रकार) हम भिन्न-भिन्न कर्म करने वाले हैं।”

ऋग्वेद के एक मन्त्र^२ में अश्विनी कुमारों के तीन खंभों, और तीन चक्कों-
वाले रथ का उल्लेख है। दूसरे^३ और तीसरे में
ऋग्वेद में यन्त्र विद्या अश्विनियों के बिना अश्वों के रथ का वर्णन है। इसी
प्रकार अन्य मन्त्र^४ में कक्षीवान् ऋषि का किया रथ
वर्णन इस प्रकार मिलता है:—

“अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।

महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्चपुष्यथ ॥”

अर्थात्—हे ऋभुवो! तुम्हारा कर्म प्रशंसनीय है। तुम्हारा दिया (अश्विनी
कुमारों का) तीन चक्कों वाला रथ घोड़े के बिना, और लगाम के बिना आकाश
में घूमता है जिसके द्वारा तुम द्यावा-पृथिवी का पोषण करते हो, वह महत्वशाली
(रथ बनाने का) काम तुम्हारे देवत्व को प्रकट करता है। एक मन्त्र^५ में परो
वाली नाव का उल्लेख मिलता है।

कुछ विद्वान् इनसे, उस समय यन्त्र-चालित रथों, या विमानों का रहना
अनुमान करते हैं। परो वाली नाव से पाल वाली नावों का तात्पर्य हो सकता है।

व्यापारी साधारणतया वस्तु-विनिमय (एक वस्तु के बदले
दूसरी वस्तु देने) के द्वारा व्यापार करते थे।^६ ऋग्वेद के एक मन्त्र में
लिखा है कि—“मेरे इन्द्र को १० गायें देकर कौन
व्यापार और मुद्रा खरीदेगा? वस्तु खरीदते समय मूल्य-निर्धारण के
लिए कहा—सुनी भी होती थी। परन्तु एक बार सौदा

१. मं. ९, सू० ११२, ऋ. ३.

२. मं. सू. ३४, ऋ. २.

३. मं. १, सू. ११२, ऋ. १२; मं. १, सू. १२०, ऋ. १०; और

मं. ४, सू. ३६, ऋ. १.

४. मं. ४, सू. ३६, ऋ. १.

५. मं. १, सू. १८२, ऋ. ५.

६. मं. ८, सू. १, ऋ. ५.

७. मं. ४, सू. २४, ऋ. १०.

तय हो जाने पर फिर उसके मूल्य में कमी-बेशी नहीं की जा सकती थी ।^१ एक मन्त्र में कक्षीवान् को सौ निष्क मिलने का उल्लेख है ।^२ संभवतः यह कोई सुवर्ण-मुद्रा होगी । इसी प्रकार राजा अरुण का अत्रि ऋषि को दस हजार सुवर्ण-निष्क देने का उल्लेख भी मिलता है ।^३ आर्य व्यापारी समुद्री व्यापार से भी पूर्णतया परिचित थे ।^४ समुद्र में नावें चलती थीं । ये व्यापार करने और शत्रु पर आक्रमण करने के काम आती थीं ।^५ किसी-किसी नाव के चलाने में सौ डॉंड तक काम में लिए जाते थे ।^६

घोड़े, ऊँट, और कुत्ते भी अन्न, आदि ढोने के काम आते थे ।^७

उस समय ऋण (कर्ज) का लेन-देन भी होता था ।^८ असमर्थ होने पर कर्जदार अपने कर्ज को थोड़ा-थोड़ा करके चुकाता था ।^९ यह कर्ज अधिकतर जु के कारण लिया जाता था । ऋण न चुका सकने पर ऋणी को ऋण-दाता की दासता स्वीकार करनी पड़ती थी । पूर्वजों के ऋण का भार भी उनके वंशजों पर रहता था ।^{१०} और ऋणी के सामने सदा चिन्ता का अन्धकार रहता था । पणि लोग ही अधिकतर ऊँचे सूद^{११} पर ऋण देने का व्यापार करते थे ।

१. मं. ४, सू. २४, ऋ. ९.

२. मं. ५, सू. २७, ऋ. २. मं. १, सू. १२६, ऋ. २. (गले के आभूषण को भी निष्क कहते थे—मं. ५, सू. १९, ऋ. ३) ।

३. मं. ५, सू. २७, ऋ. १.

४. मं. ४, सू. ५५, ऋ. ६. और मं. ७, सू. ८८, ऋ. ३.

५. मं. १, सू. ११६, ऋ. ३.

६. मं. १, सू. ११६, ऋ. ५ । ऋ. ५ । ऋग्वेद में पालवाली नावों का भी उल्लेख है (मं. १, सू. १४३, ऋ. ५.) । अतः उस समय आर्य समुद्रयात्रा से परिचित थे (मं. १, सू. ११२, ऋ. ६; मं. ६, सू. ६२, ऋ. ६-७ और मं. १, सू. २५, ऋ. ७) । उस समय स्थलीय व्यापार के समान ही सामुद्रिक व्यापार होता था । विद्वान् लोग ऋग्वेद में आये 'कृशन' शब्द (मं. १, सू. ३५, ऋ. ४) का अर्थ मोती मानते हैं ।

७. मं. ८, सू. ४६, ऋ. २८.

८. मं. २, सू. २७, ऋ. ४.

९. मं. ८, सू. ४७, ऋ. १७.

१०. मं. २, सू. २८, ऋ. ९.

११. इसी से पणियों को 'बेकनाटा' कहा गया है (निरुक्त ६।२७).

आर्यों के वस्त्र साधारण तौर पर भेड़ की ऊन के बनते थे।^१ उस समय गान्धार (कन्धार) प्रदेश भेड़ों के लिए^२ और परुष्णी (रावी) का प्रदेश ऊन के लिए^३ प्रसिद्ध था। सिन्धु प्रदेश में सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र तैयार-होते थे। ऋग्वेद में मिलने वाले 'पेशस्'^४ और 'हिरण्य-अत्क'^५ शब्दों से उस समय क्रमशः बेल-बूटे कड़े और जूरी के वस्त्रों का होना भी अनुमान किया जाता है। आर्यों के यहाँ कपड़ों की सिलाई होने का भी उल्लेख मिलता है।^६ साधारणतया आय दो वस्त्र काम में लेते थे। उनमें के एक को अधोवस्त्र (नीवि) और दूसरे को ऊर्ध्व वस्त्र (अधिवास^७) कहते थे। विद्वान् लोग ऋग्वेद में आये 'शिप्र' शब्द का अर्थ उष्णीष या साफा करते हैं।^८ तपस्वी लोग मृग चर्म या वल्कल (अजिन^९ या मल^{१०}) पहनते थे। उस समय सिले हुए कपड़ों को 'स्मृत' और बुने हुए को 'व्युत'^{११} कहते थे। द्रापि भी एक प्रकार का पहनने का कपड़ा होता था।^{१२} वस्त्र दान में भी दिये जाते थे।^{१३} एक स्थान^{१४} पर मेष लोम के कंबल का भी उल्लेख है। वस्त्रों के बुनने का काम

१. मं. १०, सू. २६, ऋ. ६.

२. मं. १, सू. १२६, ऋ. ७.

३. मं. ४, सू. २२, ऋ. २. और म. ५, सू. ५२, ऋ. ९.

४. मं. २, सू. ३, ऋ. ६; मं. ८, सू. ३१, ऋ. ८ और मं. ७, सू. ३४,

ऋ. ११

५. मं. ५, सू. ५५, ऋ. ६; मं. १०, सू. १, ऋ. ४ और मं. १०, सू. ९२, ऋ. ४ में उषा के रंगीन और जूरी के वस्त्रों का उल्लेख है।

६. २. २, सू. ३२, ऋ. ४.

७. मं. १, सू. १४०, ऋ. ९; मं. १०, सू. १०२, ऋ. २

८. मं. ७, सू. २५, ऋ. ३.

९. मं. १, सू. ६६, ऋ. १०। [संभवतः यह पहले अज (बकरे) के चर्म का होता होगा और बाद में हरिण के चर्म का होने लगा।]

१०. मं. १०, सू. १३६, ऋ. २.

११. मं. १, सू. १२२, ऋ. २.

१२. मं. १, सू. २५, ऋ. १३, और मं. ४, सू. ५३, ऋ. २.

१३. मं. १०, सू. १०७, ऋ. २.

१४. मं. १०, सू. २६, ऋ. ६.

स्त्रियाँ करती थीं ।^१ परन्तु कपड़ा बुनने वाले जुलाहे भी होते थे ।^२ कुछ विद्वान् ऋग्वेद में आये वट्टदरिणापदा से जाँघ तक लम्बे जूतों का तात्पर्य लेते हैं ।^३

आर्य स्त्री-पुरुष दोनों ही सुवर्ण के बने कुण्डल (कर्णशोभन^४), माला^५, कंठा (निष्क^६), कङ्कण^७ और नूपुर^८ (रवादि), तथा हार (स्वम^९), आदि पहनते थे । इनके अतिरिक्त माणियों, आदि का कण्ठा आभूषण (मणिग्रीव^{१०}) पहनने का भी प्रचलन था । विवाह के समय वर के आभूषण पहनने का उल्लेख मिलता है ।^{११} स्त्रियों के मस्तक के एक आभूषण का नाम 'कुरीर' मिलता है ।^{१२} ऋग्वेद में बच्चों को गहने पहनाने का भी उल्लेख है ।^{१३} सुनार को 'निष्कं कृष्वा^{१४}' कहते थे ।^{१५} घोड़ों को भी सोने के गहनों से सजाते थे ।

आर्य केशों को चिकना करके कंधे से सँवारते थे । औरतें चोटी (वेणी) रखती थीं । एक स्थान पर एक युवती की चार चोटियों के (कपर्दा) का उल्लेख है ।^{१६} आदमी जटावलय भी रखते थे । वासिष्ठ कुल वालों के ये वलय

-
१. मं. ५, सू. ४७, ऋ. ६ और मं. २, सू. ३, ऋ. ६.
 २. मं. १०, सू. १०६, ऋ. १.
 ३. मं. १, सू. १३, ऋ. २.
 ४. मं. १, सू. १२२, ऋ. १४.
 ५. मं. ५, सू. ५३, ऋ. ४.
 ६. मं. २, सू. ३३, ऋ. १०.
 ७. मं. ५, सू. ५८, ऋ. ३.
 ८. मं. ५, सू. ५४, ऋ. ११.
 ९. मं. २, सू. ३४, ऋ. २४.
 १०. मं. १, सू. १२२, ऋ. १४.
 ११. मं. ५, सू. ६०, ऋ. ४.
 १२. मं. १०, सू. ८५, ऋ. ८.
 १३. सं. ९, सू. १०४, ऋ. १.
 १४. मं. ८, सू. ४७, ऋ. १५.
 १५. मं. १०, सू. ११४, ऋ. ३.

केश-भूषा

दाहिनी ओर रहते थे ।^१ दाढ़ी (श्मश्रु) रखने^२ और मुंडवाने^३—दोनों तरह—के रिवाज थे । एक प्रकार की गोल केश रचना को 'ओपश' कहते थे ।^४

भोजन में फल, दूध, दही,^५ घी, खीर, पनीर (छेना),^६ मधु (शहद), रोटी,^७ अपूप^८ (जौ या चावल की घी में बनाई रोटी), सत्तू^९ (जौ को भून और पीसकर बनाया चूर्ण) और मांस ही मुख्य

खान-पान

भोजन थे । मांस में साधारण तौर पर भेड़, बकरा, आदि अनिन्द्य पशुओं का मांस खाया जाता था । गाय में पूज्य भावना उत्पन्न हो चुकी थी ।^{१०} उसका मारना निन्द्य समझा जाता था ।^{११} परन्तु ऋग्वेद में गाय के मांस को यज्ञ में होमने^{१२} का, इन्द्र के लिए सांड के पकाने का,^{१३} अश्वमेध में (घोड़े के अतिरिक्त)^{१४} सांड के होमने का,^{१५} गोवध करने के स्थान का^{१६} और—गोवध^{१७} आदि का उल्लेख भी मिलता है ।

१. मं. ७, सू. ३३, ऋ. १ । इनके सफेद वस्त्र पहनने का भी उल्लेख है ।

२. मं. २, सू. ११, ऋ. १७.

३. मं. १०, सू. १४२, ऋ. ४.

४. मं. १, सू. १७३, ऋ. ६.

५. मं. ८, सू. २, ऋ. ९.

६. मं. ६, सू. ४८, ऋ. १८

७. मं. ४, सू. २४, ऋ. ५.

८. मं. १०, सू. ४५, ऋ. ९.

९. मं. १, सू. ८७, ऋ. ९ । ऋग्वेद में भड़भूँजे का उल्लेख भी मिलता

है (मं. १, सू. ११२, ऋ. १).

१०. मं. ६, सू. २८; और मं. १०, सू. १६९.

११. मं. ८, सू. ९, ऋ. १५-१६.

१२. मं. १०, सू. १६९, ऋ. ३.

१३. मं. १०, सू. २७, ऋ. २.

१४. मं. १०, सू. ९१, ऋ. १४.

१५. मं. १०, सू. ९१, ऋ. १४.

१६. मं. १०, सू. ८९, ऋ. १४.

१७. मं. १, सू. ६१, ऋ. १२.

इसके अतिरिक्त तृत्सु नरेश सुदास के पिता राजा दिवोदास की उपाधि 'अतिथिगव' थी ।^१ कुछ विद्वान् इसका अर्थ गोमांस से अतिथियों का सत्कार करने वाला मानते हैं । आर्य गन्ता भी खाते थे ।^२

सुरा^३ का सेवन निन्द्य समझा जाता था ।^४ क्योंकि इसके कारण सभा में कलह^५ हो जाता था । परन्तु सोम रस का पान धर्म समझा जाता था । ऋग्वेद के सारे नवें मण्डल में और ६ अन्य सूक्तों में इसकी प्रशंसा की गई है । यह लता या पौधा मूजवन्त^६ पर्वत पर या कीकर^७ देश में पैदा होता था । इसे गो चर्म पर रखकर तैयार करते थे । इसका रस निकालने के लिए इसे वेदी पर रखकर^८ मूसल या पत्थर से कूटते थे । यह निकाला हुआ रस मेष लोम के बने छनने से छानकर^९ कलश या गो-चर्म-निर्मित पात्र में भर लिया जाता था । सोम का रस भूरा या पिङ्गल वर्ण होता था ।^{१०} इसके बाद इसमें पानी, दूध, दही, सत्तू, शहद,^{११} आदि मिलाये जाते थे ।^{१२} यह एक मादक और उल्लासवर्धक रस था ।^{१३} इसीसे योद्धा लोग भी युद्ध के समय इनका उपयोग करते थे ।^{१४}

ऋग्वेद में एक स्थान पर 'प्रोष्ठ' पर सोने वाली, 'बह्य' पर सोने वाली

१. मं. १, सू. ५३, ऋ. ८.

२. मं. ९, सू. ८६, ऋ. १८.

३. साधारणतया घान्य से बनी सुरा का उपयोग होता था परन्तु यज्ञ में सोमरस पिया जाता था ।

४. मं. ७, सू. ८६, ऋ. ६.

५. मं. ८, सू. २, ऋ. १२.

६. मं. १, सू. ९३, ऋ. ६.

७. मं. ३, सू. ५३, ऋ. १४.

८. मं. ९, सू. ७९, ऋ. ४.

९. मं. ९, सू. ६८, ऋ. ७.

१०. मं. ९, सू. ६६ (सारा सूक्त) ।

११. मं. ८, सू. ४, ऋ. ८.

१२. मं. ७, सू. ३७, ऋ. १,

१३. मं. ८, सू. ४८, ऋ. ३ और मं. १०, सू. ११९, ऋ. २.

१४. मं. ९, सू. १०६, ऋ. २.

‘तल्प’ पर सोने वाली स्त्रियों का उल्लेख है^१। अतः ये भिन्न-भिन्न प्रकार की चारपाइयों, पलंगों या खाटों के नाम होंगे। ऋग्वेद घर की सामग्री में कलश का भी उल्लेख मिलता है।^२ इसी प्रकार उसमें मूसल, चलनी, सूप, सोम-पान के पात्र (प्याले), चर्म-निर्मित पात्रों, आदि का और भोजन बनाने के पात्रों का उल्लेख भी है। कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था और पेशे के अनुसार इनमें से कुछ पात्र सोने, ताँबे, लोहे, काठ, चर्म या मट्टी के होते थे। इनके अतिरिक्त शस्त्र, औज़ार, सिल-बट्टा, आदि अन्य उपयोगी उपकरण भी घरों में रहते थे। इनका उल्लेख यथा स्थान किया जा चुका है।

आर्यों के मनोविनोद के साधनों में रथों और घोड़ों की दौड़,^३ नाच और गान था। उपर्युक्त दौड़ को ‘आजि’^४ और दौड़ के मैदान को ‘काष्ठा’ या सप्ता^५ कहते थे। ये मैदान बड़े-बड़े होते थे, और नापकर बनाये जाते थे। रथों में ४ घोड़े जोतने का भी उल्लेख मिलता है।^६ जूआ पासों (अक्षों) पर शर्त बदकर खेला जाता था। पासों की संख्या ५३ बतलाई गई है,^७ और इनका रंग पीला (बभ्रु कहा गया है)।^८ जुए की आदत के कारण जुआरियों की और उनके कुटुम्ब की दशा शोचनीय हो जाती थी। जुआरी कर्जदार हो जाता था, और अपना कर्जा चुकाने के लिए उसे दासता तक करनी पड़ती थी। यह कर्जा थोड़ा-थोड़ा करके भी चुकाया जाता था। ऋग्वेद में एक मन्त्र से जुआरी और उसके कुटुम्ब की शोचनीय दशा का वर्णन यहाँ पर दिया जाता है—^९

१. मं. ७, सू. ५५, ऋ. ८। ‘वह्य’ शब्द का अर्थ एक स्थान से दूसरे पर ले जाने लायक है। अतः यह पालक्री या डोली की तरह की चारपाई होगी।

२. मं. १, सू. ११७, ऋ. १२।

३. मं. १, सू. ११६, ऋ. १७.

४. मं. ५, सू. ३५, ऋ. ७.

५. मं. ८, सू. ४१, ऋ. ४.

६. मं. १, सू. १२६, ऋ. ४.

७. मं. १०, सू. ३४, ऋ. ८.

८. मं. १०, सू. ३४, ऋ. ५.

९. मं. १०, सू. ३४, ऋ. १०.

“जुआ खेलने वाले की स्त्री दुखी रहती है । माता जुआरी पुत्र को इधर-उधर भटकते देखकर कष्ट पाती है कर्जा देने वाला अपने धन के वापस मिलने में शंङ्का के कारण चिन्तित रहता है और जुआरी स्वयं दूसरों के घरों में रात बिताता है ।”

ऋग्वेद के दशवें मण्डल के ३४वें सूक्त में जुआरी की शोचनीय दशा का विशद वर्णन है । अन्त में जुआरी को जुआ खेलना छोड़कर खेती करने की सम्मति दी गई है । इसी प्रकार उक्त संहिता के मं० २, सू० २८, ऋ० ९ में कर्जदार की दशा का विशद वर्णन किया गया है :—

“हे वरुण ! पूर्वजों के किये और मेरे किये ऋणों को दूर करो । दूसरे के द्वारा उपार्जित धन से मैं पेटभराई करना नहीं चाहता । बहुत-सी उषायें मेरे लिए अनुदित ही रहती हैं । हे वरुण ! आप आज्ञा देकर उन उषाओं में मुझे जीवित रखिये ।”

इससे पिता के ऋण के भार का भी पुत्र पर रहना प्रकट होता है ।

नाच और गान में स्त्री और पुरुष दोनों ही भाग लेते थे । नाच में आघाति^१ (झाँझ) से ताल भी दिया जाता था । वाद्यों में दुन्दुभि^२ (ढोल), कर्करी^३ (वीणा या सारंगी), क्षोणी^४ (वीणा विशेष) और बाण^५ (वाद्य विशेष, जिसके सप्त स्वर साफ सुनाई देते थे), होते थे । इनके अतिरिक्त नाली^६ या नाड़ी (बंसी) का भी उपयोग होता था ।

उस समय के अश्लील परिहास का उदाहरण ऋग्वेद में इन्द्र और इन्द्राणी के संवाद^७ में मिलता है । आसंग की भार्या अश्लील परिहास शश्वती का उद्गार भी इसका एक उदाहरण है ।^८

१. मं. १, सू. १४६, ऋ. २.

२. मं. १, सू. २८, ऋ. ५.

३. मं. २, सू. ४३, ऋ. ३.

४. मं. २, सू. ३४, ऋ. १३.

५. मं. १०, सू. ३२, ऋ. ४.

६. मं. १०, सू. १३५, ऋ. ७.

७. मं. १०, सू. ८६, ऋ. १६-१७ । समग्र ऋग्वेद में करीब २० संवाद सूक्त हैं । उनमें यमयमी-संवाद-सूक्त (मं. १०, सू. १०), पुरुरवा-उर्वशी-संवाद-सूक्त (मं. १०, सू. ९५) और सरमा-पणि-संवाद-सूक्त (मं. १०, सू. १०८) विशेष महत्व के हैं ।

८. मं. ८, सू. १, ऋ. ३४.

आर्य लोग कपोत (कबूतर या पेडुकी—फाह्ला) के घर के अन्दर आ जाने को और उल्लू के बोलने को अमङ्गलजनक मानते थे। इसी से ऋग्वेद में इनके दोषों को दूर करने के लिए 'कपोतोलूक-मिथ्या धारणाएँ अमङ्गल-नाशक सूक्त' दिया गया^१ है। इसी प्रकार वे इन पक्षियों के शब्दों से शकुन भी लेते थे, और इसी से उक्त संहिता में उनके अमङ्गलजनक शब्दों के दोष निवारण के भी दो सूक्त^२ मिलते हैं। ये (आर्य) दुःस्वप्नों को भी अशुभकारक मानते थे। अतः एक सूक्त^३ में उस (दुःस्वप्न) के अमङ्गल नाश की कामना की गई है। आर्यों का यह भी विश्वास था कि पति का वधू के वस्त्रों से अपने अङ्गों को ढकने की चेष्टा करना भी हानिकारक होता है।^४

ऋग्वेद में यक्ष्मा या राजयक्ष्मा का उल्लेख है और उसके नाश के लिए राजयक्ष्मा नाशक दो सूक्त^५ दिये हैं। इसी प्रकार उसमें चक्षुप्राप्ति-सूक्त^६, गर्भरक्षण-सूक्त^७, गर्भाशीर्वाद-सूक्त^८, गर्भसंचारण-रोग और चिकित्सा सूक्त^९ और सर्वाङ्ग रोगनाशक-सूक्त^{१०} भी मिलते हैं। उस संहिता में जल और औषधियों से भी कल्याण की कामना की गई है। इससे आर्यों को जलचिकित्सा^{११} और औषधि-चिकित्सा^{१२} का ज्ञान होना पाया जाता है। एक स्थान पर अश्वावती, सोमावती,

१. मं. १०, सू. १६५.

२. मं. २, सू. ४२-४३.

३. मं. १०, सू. १६४.

४. मं. १०, सू. ८५, ऋ. ३०.

५. मं. १०, सू. १६१ और १६३

६. मं. १०, सू. १५८.

७. मं. १०, सू. १६२.

८. मं. १०, सू. १८३.

९. मं. १०, सू. १८४.

१०. मं. १०, सू. १६३। इसमें सिर से पैर तक के रोगों को दूर करने के लिए प्रार्थना है।

११. मं. ६, सू. ५०, ऋ. ७.

१२. मं. ८, सू. २०, ऋ. २६.

ऊर्जयन्ती और उदोजस् नामक औषधियों का उल्लेख है।^१ एक स्थान पर “था ओषधीः पूर्वा जाताः” कहकर अचर वृक्षों का चरजीवों से पहले उत्पन्न होना कहा है।^२ इसी प्रकार ऋग्वेद में एक स्थान पर कटी टांग की जगह लोहे की टांग लगाने का,^३ दूसरे स्थान पर कोढ़, अंधापन और बहरापन को दूर करने का,^४ तीसरे स्थान पर कटे शरीर के अङ्गों को सीने का,^५ चौथे स्थान पर बुढ़ापे को दूर करने का^६ और पांचवें स्थान पर नपुंसक की स्त्री को पुत्र देने का^७ उल्लेख है। उसमें हस्तस्पर्श से रोग नाश का^८ भी उल्लेख है। चिकित्सक को भिषक्^९ कहा गया है।

इसी प्रकार उसमें मानसिक दुःखों की निवृत्ति के लिए भी कुछ सूक्त मिलते हैं। जैसे—सपत्नी-पीडन-सूक्त^{१०} सपत्नी-नाशन-सूक्त^{११}, दरिद्रता-नाशक सूक्त^{१२} और शत्रुनाशक-सूक्त^{१३}।

आर्य लोग जीवात्मा को अमर मानते थे।^{१४} उनका मत था कि जीवात्मा मृत्यु के बाद यमलोक में^{१५} पहुँचकर अपने कर्मानुसार^{१६} स्वर्ग,^{१७} आदि में स्थान

१. मं. १०, सू. ९७, ऋ. ७.
२. मं. १०, सू. ९७, ऋ. १.
३. मं. १, सू. ११६, ऋ. १५.
४. मं. १, सू. ११७, ऋ. ७-८.
५. मं. १, सू. ११७, ऋ. २४.
६. मं. १, सू. ११६, ऋ. १०.
७. मं. १, सू. ११६, ऋ. १३.
८. मं. १०, सू. ६०, ऋ. १२ और मं. १०, सू. १३७, ऋ. ७ ।
९. मं. २, सू. ३३. ऋ. ४.
१०. मं. १, सू. १४५.
११. मं. १०, सू. १५९.
१२. मं. १०, सू. १५५.
१३. मं. १०, सू. १६६.
१४. मं. १, सू. १६४, ऋ. ३०.
१५. मं. १०, सू. १३५.
१६. मं. १०, सू. १५, ऋ. १.
१७. मं. १०, सू. १४.

पाता है । अच्छे कामों में तपस्या, दान-पुण्य अथवा युद्ध में वीरत्व-प्रदर्शन गिने जाते थे ।^१ यम वहाँ का शासक था^२ और वह सब के कर्मों को देखने वाला और उनके अनुसार निर्णय करने वाला था ।^३ यह विवस्वत् का पुत्र और मरकर^४ स्वर्ग में निवास करने वाला प्रथम मनुष्य था; तथा इसी ने मनुष्यों के लिए पितृलोक में जाने का मार्ग खोज निकाला था ।^५ यम के लिए देव शब्द के स्थान पर राजा शब्द ही प्रयुक्त किया गया है । उनके मतानुसार मनुष्य के मरने के उपरान्त उसका आत्मा दिव्य रूप^६ धारण कर सदा के लिये पितरों के साथ यमलोक में निवास करता था^७ और उसका जीवन भी हमारे जीवन के समान ही था । यज्ञादि में बुलाये जाने पर यह मृत पितर (प्रेतात्मा) भी सूक्ष्मरूप से अपना भाग लेने को आता था ।^८ उस समय तक यम और मृत्यु की भयानकता की कल्पना नहीं हुई थी ।^९ हाँ, यमदूतों की कुरूपता का कुछ उल्लेख अवश्य मिलता है ।^{१०} यम-यमी संवाद से तो यम का भी हमारे समान ही एक व्यक्ति होना प्रकट होता है । यम-लोक में पहुँचने के लिए नदी पार करनी पड़ती थी । मार्ग में सरमा नामक शुनी के लम्बी नाक और चार-चार आँखों वाले दो पुत्र (कुत्ते) पहरा देते थे ।^{११} पितृलोक एक दिव्य (प्रकाश पूर्ण) लोक था; जहाँ पर प्रेतात्मा, पितरों और राजा यम के साथ

-
१. मं. १०, सू. १४.
 २. मं. १०, सू. १०.
 ३. मं. १०, सू. १५४.
 ४. मं. ७, सू. २४, ऋ. ५ । (स्वर्ग का आकाश में होना कहा है) ।
 ५. मं. १०, सू. १४, ऋ. २.
 ६. दिव्य रूप से अविकलाङ्ग और नीरोग तथा स्वस्थ होने का भी तात्पर्य लिया जाता है ।
 ७. मं. १०, सू. १४, ऋ. १.
 ८. मं. १०, सू. १५, ऋ. ३ और ६ । (इन्हें 'स्वघा' के द्वारा भाग दिया जाता था) ।
 ९. मं. १०, सू. १४, ऋ. ५ और मं. १०, सू. १० ।
 १०. मं. १०, सू. १४, ऋ. १२.
 ११. मं. १०, सू. १४, ऋ. १०-११ । (विद्वान् लोग इससे क्रमशः आकाश-गङ्गा तथा श्वन् और प्रश्वन् तारों का संकेत मानते हैं ।)

आनन्द मनाता था ।^१ वहाँ के सुख यहाँ के सुखों से उच्च कोटि के समझे जाते थे । ऋग्वेद में पितृयान और देवयान^२ का भी उल्लेख है ।

शव का अग्नि संस्कार किया जाता था,^३ और अग्नि का प्रेतात्मा को पितृलोक या देवलोक में पहुँचाना माना जाता था । चिता प्रज्वलित करने के पूर्व प्रेत की स्त्री को, जो शव के पास लेटी होती थी, उठकर घर जाने को कहा जाता था^४ और फिर मृत व्यक्ति का घनुष, जो उसके हाथ में रक्खा होता था, ले लिया जाता था ।^५ वहीं पर अग्निसंस्कार के समय शव को गोचर्म में लपेटने का उल्लेख भी मिलता है ।^६ ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों^७ के आधार पर आर्यों के यहाँ किसी समय मृतकों के गाड़ने की प्रथा के प्रचलित होने का भी अनुमान किया जाता है । परन्तु इससे शव के अग्निदाह के बाद उसकी अस्थियों को पृथ्वी में गाड़कर उस पर स्तूप सा बना देने का तात्पर्य भी लिया जाता है । वहीं पर अस्थिकुम्भ को पत्थर और मट्टी के नीचे सुरक्षित कर उस पर (निशान के लिए) खूँटी गाड़ना भी कहा है ।^८ शव के साथ जो कुटुम्ब की सघवा स्त्रियाँ रोती हुई, श्मशान तक, आती थीं, उन्हें शव के अग्नि-संस्कार के पूर्व ही (आँखों में) कज्जल और (केशों में) घी लगाकर, तथा रुदन को बंदकर, घर लौट जाने को कह दिया जाता था ।^९ पापात्मा के अन्धकारमय लोक (नरक) में ढकेले जाने का भी उल्लेख है ।^{१०} परन्तु उस समय तक नरक का भीषण और पौराणिक रूप अस्तित्व में नहीं आया था ।

१. मं. १०, सू. १४, ऋ. ८.

२. मं. १०, सू. १८, ऋ. १-२; मं. १०, सू. ८८, ऋ. १५.

३. मं. १०, सू. १६, ऋ. १, ४-५.

४. मं. १०, सू. १८, ऋ. ८.

५. मं. १३, सू. १८, ऋ. ९.

६. मं. १०, सू. १६, ऋ. ७.

७. मं. १०, सू. १८, ऋ. १०-१२ । (वहाँ ११वीं ऋचा में कहा गया है कि—जिस प्रकार माता पुत्र को वस्त्र से ढकती है, उसी प्रकार हे पृथ्वी ! तुम भी इस शव को ढक लो । तथा मं. १०, सू. १५, ऋ. १४ ।)

८. मं. १०, सू. १८, ऋ. १३.

९. मं. १८, सू. १८, ऋ. ७.

१०. मं. १०, सू. १५२, ऋ. ४ और मं. ४, सू. ५, ऋ. ५.

ऋग्वेद में एक स्थान^१ पर अचेतन हुए मनुष्य के मन को आकाश, सूर्य, और वृक्षों, आदि से वापस लौटकर पुनर्जीवित होने को कहा गया है। इससे विशेष परिस्थिति में आत्मा का शरीर से बाहर निकलकर फिर लौटना माना जाना प्रकट होता है। पुनर्जन्म की भावना का उल्लेख भी मिलता है।^२ ऋग्वेद के एक मन्त्र^३ में कुपथ-गामिनी, पतिद्वेषिणी, दुष्टाचारिणी स्त्री और अग्निद्वेषी, असत्यवक्ता पुरुष का नरक में जाना सूचित किया है।

ऋग्वेद काल में समाज पांच विभागों में विभक्त था। (१) गृह या कुल (कुटुम्ब), (२) ग्राम (गांव), (३) विश्व (वर्ग या संघ), (४) जन (जनता या लोग) और (५) राष्ट्र (देश)।

कुल—सामाजिक इकाई का कुल या कुटुम्ब होता था। इसमें एक ही कुल-पति के आश्रय में रहने वाले अनेक कुटुम्बी रहते थे। यह कुलपति या कुलप कुटुम्ब का पिता या बड़ा भाई होता था। लोग परिश्रम का महत्व भी समझते थे।^४

ऋग्वैदिक आर्यों में राष्ट्र भावना भी विद्यमान थी। वे राष्ट्र की स्थिरता के लिए देवों से प्रार्थना करते थे।^५ वे अपने राजा से शत्रुओं और आक्रमण-कारियों को पराजित करने का आग्रह करते थे।^६ राष्ट्र-भावना उनमें स्वराज्य की भावना उत्पन्न हो चुकी थी,^७ और वे उसकी उन्नति के लिए प्रयत्न करने में तत्पर रहते थे।^८

१. मं. १०, सू. ५८.

२. मं. ०, सू. १६, ऋ. ५; मं. १०, सू. १३५. ऋ. ६; मं. १०, सू. १७७.

३. मं. ४, सू. ५, ऋ. ५.

४. मं. १०, सू. १७९. ऋ. २.

५. "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" (मं. ४, सू. ३३, ऋ. ११)
अर्थात् बिना परिश्रम के देवता मित्र नहीं बनते।

६. मं. १०, सू. १७३, ऋ. ५.

७. मं. १०, सू. १७४, ऋ. २.

८. मं. ५, सू. ६६, ऋ. ६.

९. मं. ५, सू. ६६, ऋ. ६.

गृह—जिस स्थान में यह सम्मिलित परिवार और इन के पशु^१ रहते थे, उसे गृह^२ कहते थे। बड़े घर को हर्म्य^३ कहा जाता था। इसमें कई कोठे भी होते थे।^४ घर पत्थर, मट्टी, लकड़ी और बाँस के बनाये जाते थे। पिछले प्रकार के घरों को कुटी कह सकते हैं। इसमें घास और पत्तों का भी उपयोग होता था।

ऋग्वेद के एक मंत्र में हजार खंभों वाले घर का उल्लेख है।^५ दूसरे में त्रिघातु शब्द मिलता है।^६ सायणाचार्य ने इसका अर्थ त्रिभूमि किया है। इससे घरों में तीन आँगन होना या उनका तीन तल्ले का होना प्रकट होता है। पशुशाला को गोत्र कहते थे। राजाओं के बहुत बड़े घरों का उल्लेख भी मिलता है।^७ इन घरों का रक्षक वास्तोष्पति देवता माना जाता था।^८ यह देव कुक्कुरी सरमा का वंशज था।^९

ग्राम—कुटुम्बों या गृहों के समूह को ग्राम^{१०} (गाँव) कहते थे। कहीं-कहीं ग्राम शब्द जन-समूह के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। गाँव का मुखिया ग्रामणी^{११} कहलाता था। ग्रामवासियों की आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु वहीं तैयार की जाती थी। गाँवों में वैद्य भी मिलते थे।^{१२} ऋग्वेद में संवाद सूक्तों के मिलने से कुछ विद्वान् उनमें उन अभिनयों के बीज मानते हैं, जो यज्ञोत्सवों पर गाँवों में किये जाते थे।

१. मं. ७, सू. ५६, ऋ. १३.

२. मं. २, सू. ४२, ऋ. ३। साधारण जन लकड़ी के घरों में और गरीब मट्टी के घरों या झोपड़ों में रहते थे। कुछ लोगों का अनुमान है, कि जिन परिवारों की गायें एक बाड़े में रहती थीं, वे एकगोत्री कहलाते थे।

३. मं. ७, सू. ५५, ऋ. ६.

४. मं. ८, सू. ४०, ऋ. १२.

५. मं. ५, सू. ६२, ऋ. ६.

६. मं. ६, सू. ४६, ऋ. ९.

७. मं. १०, सू. ७६ ऋ ५-७.

८. म. ७, सू. ५४, और ५५.

९. मं. ७, सू. ५५, ऋ. २.

१०. मं. १, सू. ४४, ऋ. १०.

११. मं. १०, सू. १०७, ऋ. ५.

१२. मं. २, सू. ३३, ऋ. ४.

विश्व—गांव से बड़ी बस्ती को शायद विश्व^१ (वर्ग या संघ) कहते थे और इसका मुखिया विश्वपति^२ कहाता था। परन्तु ऋग्वेद में आये विश्व शब्द का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। या तो यह कोई स्थानीय विभाग था या गोत्र-विभाग। उस समय नगरों के अस्तित्व के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग विश्व से जनता का तात्पर्य मानते हैं।

जन—विश्वों के समूह को जन कहते थे।^३ ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पंचजनाः^४ (पाँच जनों) का उल्लेख मिलता है। यास्क और सायण ने इसका अर्थ—देव, पितर, गन्धर्व, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद किया। परन्तु उक्त संहिता में ही अन्य स्थानों पर 'भारतं जनम्'^५ और 'याद्वं जानम्'^६ का प्रयोग मिलने से इनसे अनु, द्रुह्यु, तुर्वश, यदु, भरत या पुरु वंशों या जातियों का तात्पर्य लिया जाता है। इस जन का गोप्ता (रक्षक) राजा होता था।

राष्ट्र^७—यह शब्द देश या राज्य के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऋग्वेद में स्वराज्य का उल्लेख भी मिलता है।^८

इसके अतिरिक्त उक्त संहिता में मिलने वाले 'शर्घ', 'व्रत' और 'गण'^९ शब्दों का अर्थ क्रमशः कुल, ग्राम और जाति का गण किया जाता है। इसी प्रकार उसमें कुलपतियों के अधिनायक के लिए ब्राजपति^{१०} शब्द आया है।

उस समय आर्यों और और आनार्यों (अथवा विभिन्न आर्य-दलों) के बीच होने वाले अनवरत युद्धों के कारण राजा का रहना आवश्यक

१. मं. ४, सू. ४, ऋ. ३।

२. म. १ सू. ३७, ऋ. ८.

३. मं. २, सू. २६, ऋ. ३.

४. मं. १, सू. ८९, ऋ. १०.

५. मं. ३, सू. ५३, ऋ. १२.

६. मं. ८, सू. ६, ऋ. ४८.

७. मं. १०, सू. २७३, ऋ. ५ और मं. ४, सू. ४२, ऋ. १.

८. मं. ५, सू. ६६, ऋ. ६.

९. मं. ५, सू. ५३ ऋ. ११.

१०. मं. १०, सू. १७० ऋ. २.

था ;^१ क्योंकि ऐसे समय एक नायक के बिना एकता का रहना कठिन होता है। ऋग्वेद के एक मंत्र^२ में कहा है कि भय के समय राजा के बिना प्रजा को आश्रय नहीं मिलता। अतः राजा ही आक्रमण करने और आक्रान्त होने के समय प्रजा के बीच एकता बनाये रखता था। यह अधिकतर कुल क्रमागत ही होता था। परन्तु ऋग्वेद के मंत्रों से इसके निर्वाचित किये जाने की सूचना मिलती है।^३ यही अनुचित कार्य करने वालों को दण्ड देता था।^४ इन्हीं कारणों से प्रजा उसका शासन मानती और उसके निर्वाह के लिए बलि^५ (कर) देती थी। इसके अतिरिक्त उसे हराये गये शत्रुओं से भी बलि (कर) मिलता था।^६ दीवानी और फौजदारी के मामलों में इसका निर्णय सर्वोपरि होता था। यह स्वयं अदण्ड्य होकर दुष्टों के दमन के लिए दण्ड धारण करता था। यह मित्रों और शत्रुओं का गुप्त हाल जानने के लिए गुप्तचर भी रखता था।^७ यह बड़-बड़े महलों (हम्यों) में, अनेक परिचारकों के बीच, बड़े ठाट से रहता था।^८ ऋग्वेद में हजार स्तम्भों^९ और हजार^{१०} द्वारों वाले महलों का भी उल्लेख मिलता है। शत्रुओं या अपराधियों को कारागार में बन्द किया जाता था।^{११}

राजा के मंत्रियों के सबसे पहला स्थान पुरोहित का था। इसके कार्य को पौरोहित्य कहते थे।^{१२} यह राजा का गुरु, उपदेशक, मार्गदर्शक और शुभ-

१. मं. १०, सू. १७४, ऋ. ७.

२. मं. १०, सू. १२४, ऋ. ८.

३. मं. १०, सू. ११३, ऋ. १। मं. १०, सू. ११३, ऋ. १-२.

४. मं. ९, सू. ७, ऋ. ५। (न्याय का साधारण कार्य सभासदों द्वारा होता था।)

५. मं. १०, सू. १७३, ऋ. ६.

६. मं. ७ सू. ६, ऋ. ५.

७. मं. ८. सू. ४७, ऋ. ११.

८. मं. ७, सू. ५६, ऋ. १६.

९. मं. २, सू. ४१, ऋ. ५.

१०. मं. ७, सू. ८८, ऋ. ५.

११. मं. १, सू. ११६, ऋ. ८.

१२. मं. ७, सू. ८३, ऋ. ४। (प्रत्येक कुल में पुरोहित का होना आवश्यक था।)

चिन्तक होता था। इसके उदाहरण—तृत्सु जाति के राजा सुनास के पुरोहित ऋषि विश्वामित्र^१ और वसिष्ठ हैं।^२ इसी प्रकार त्रसदस्यु के पुत्र राजा कुहश्चवण के पुरोहित ऋषि ऐलूष कवष और राजा शन्तनु के पुरोहित देवापि^३ का भी उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि पुरोहित का मुख्य कार्य घर में होने वाले यज्ञ और अन्य धार्मिक कृत्य करवाना ही था, तथापि वह राजकार्य में भी भाग लेता था। वह राजा के साथ युद्ध में भी जाता था और वहां उसकी रक्षा और विजय सम्बन्धी प्रार्थनाओं^४ के द्वारा उसका बल (उत्साह) बढ़ाता था।^५ इस प्रकार राजनीति में भी ब्राह्मणों की प्रधानता का प्राचीनतम काल से रहना सिद्ध होता है।

राजा के मन्त्रिमण्डल में सेनानी^६ (सेनापति) और ग्रामणी^७ (गांवों की जनता का प्रतिनिधि) भी रहता था। राजा के व्यक्तिगत अनुचर उपस्ति या इम्य कहाते थे।

राजकार्य में प्रजा का मन्तव्य प्रकट करने के लिए सभा^८ या समिति होती थी। यह प्रजा के अभाव-अभियोगों को राजा के सामने उपस्थित करती थी।

१. मं. ३, सू. ५३, ऋ. ९.

२. मं. ७, सू. १८, ऋ. २३.

३. मं. १०, सू. ३३, ऋ. ४.

४. मं. १०, सू. ९८, ऋ. ७. (देवापि शन्तनु का बड़ा भाई था।)

५. मं. ७, सू. ८३, ऋ. ७.

६. मं. ७, सू. १८, ऋ. १३। (ये पुरोहित सूक्तों की रचना कर मित्रों की तरह देवों का आह्वान करते थे।) ये प्रसन्न होकर, दान (गायें, घोड़े, रथ, दास, वस्त्र सुवर्ण आदि) देने वाले, राजा या यजमान की, प्रशंसा करते थे। ये अपने सूक्तों के प्रभाव का भी वर्णन करते थे और अप्रसन्न होने पर आपस में एक दूसरे पर देवों को क्रुद्ध करने का प्रयत्न करते थे। कभी-कभी इन्हें दक्षिणा में भेड़ें और गधे भी मिलते थे।

७. मं. ९, सू. ९६, ऋ. १.

८. मं. १०, सू. १०७, ऋ. ५.

९. मं. ८, सू. ४, ऋ. ९। अथर्व वेद में सभा और समिति का दो भिन्न संस्थायें होना कहा है (७।१२।१)।

सभा (समिति)

राजा के निर्वाचन में भी इसका मत लिया जाता था। इससे राजा की निरङ्कुशता पर अङ्कुश रहता था। सभा या समिति शब्द का प्रयोग लोगों के अन्य कार्यों के लिए एकत्रित होने के स्थान के लिए भी किया गया है। जुआ खेलने वालों के इकट्ठे होने के स्थान को भी सभा कहा है।^१ सभा में मुख्य पुरुषों को सभासह^२ और सभा के योग्य पुरुषों को सभेय कहते थे। इनके अतिरिक्त सभा में आने वाले उच्च कुल के व्यक्ति को सुजात^३ और घनाढ्य को रयिः सभावान्^४ कहते थे। कुछ विद्वान् ऋग्वेद के एक मन्त्र^५ के आधार पर राजा का भी समिति में उपस्थित होना मानते हैं। परन्तु सायणाचार्य ने यहाँ पर समिति का अर्थ युद्ध किया है। फिर भी ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के 'समानो मन्त्रः समितिः समानी'-इस मन्त्र में^६ समिति का अर्थ युद्ध न होकर सभा ही होता है। कुछ लोग सभा और समिति को भिन्न मान कर दो संस्थाओं का रहना मानते हैं।

यद्यपि न्याय-विधान के विषय का विशेष वृत्तान्त नहीं मिलता, तथापि कुछ विद्वान् ऋग्वेद में मिलने वाले 'शतदाय'^७ और 'वेरदेय'^८ शब्दों से अनुमान करते हैं कि उस समय क्रमशः आर्य की हिंसा का दण्ड सौ गायें था, और आर्योत्तर की हिंसा अपने पुराने वैर का प्रतिशोध मानकर क्षम्य समझी जाती थी। अर्थात् उस समय आर्यों में आपस में प्राण के बदले प्राण नहीं लिया जाता था।

विवाद में मध्यस्थता करने वाले को 'मध्यमशी' कहते थे।^९

-
१. मं. १०, सू. ७१, ऋ. ६
 २. मं. १०, सू. ७१, ऋ. १०.
 ३. मं. २, सू. २४, ऋ. १३.
 ४. मं. ७, सू. १, ऋ. ४.
 ५. मं. ४, सू. २, ऋ. ५.
 ६. मं. ९, सू. ९२, ऋ. ६.
 ७. मं. १०, सू. १९१, ऋ. ३.
 ८. मं. २, सू. ३२, ऋ. ४.
 ९. मं. ५, सू. ६१, ऋ. ८.
 १०. मं. १०, सू. ९७, ऋ. १२.

उस समय के युद्ध, विजय, आत्मरक्षा और लूट^१ के लिए होते थे। युद्ध को युद्ध, या रण, योद्धा को 'योध',^२ और सेना को 'पृत' या 'पृतना' कहते थे। इस सेना में 'पत्ति' (पैदल) और 'रथी'^३ (रथ सवार) दोनों रहते थे। लड़ाई में 'मुष्टिहत्या'^४ (मुक्के बाजी) भी होती थी। रथों में दो, तीन^५ या चार^६ घोड़े तक जोते जाते थे। इनकी लगाम सारथी के हाथ में रहती थी,

और वह घोड़ों को हांकने के लिए कोड़ा^७ भी रखता था। कभी-कभी युद्ध के रथों में बैल भी जोते जाते थे,^८ और कभी-कभी ऊँट भी युद्ध में काम आते थे।^९ युद्ध में मरने से योद्धाओं को स्वर्ग की प्राप्ति होना माना जाता है या।^{१०} रथों पर^{११} सारथियों के बैठने के तीन स्थान होते थे।

शस्त्रों में धनुष और बाण मुख्य थे। धनुष मजबूत डंडे को मोड़कर बनाया जाता था। उसके दोनों सिरों गो-चर्म की रस्सी (ज्या) से बँधे रहते थे। बाणों के आगे मृग-शृङ्गा^{१२} (हिरन का सींग) या लोहे का फाल^{१३} लगाया जाता था। इसे विषाक्त भी किया जाता था।^{१४} यह चर्म की रस्सी से मजबूत बँधा रहता था।^{१५} बाण के वायु में उड़कर दूर तक जाने के लिए उसके पीछे पर

१. मं. १०, सू. १४२, ऋ. ४.

२. मं. १, सू. १४३, ऋ. ५.

३. मं. २, सू. १२, ऋ. ८.

४. मं. १, सू. ८, ऋ. २.

५. मं. १०, सू. ३३, ऋ. ५.

६. मं. १, सू. १२६, ऋ. ४.

७. मं. ६, सू. ७५, ऋ. १३.

८. मं. १०, सू. १०२, ऋ. ६.

९. मं. १, सू. १३८, ऋ. २.

१०. मं. १, सू. १३२, ऋ. २; मं. ७, सू. ८३, ऋ. २.

११. मं. ७, सू. ६, ऋ. २.

१२. मं. ६, सू. ७५, ऋ. ११.

१३. मं. ६, सू. ७५, ऋ. १५.

१४. मं. ६, सू. ७५, ऋ. १५.

१५. मं. ६, सू. ७५, ऋ. ११.

बाँधे जाते थे ।^१ घनुष की प्रत्यञ्चा को कान तक खींच कर तीर चलाया जाता था । इसी से तीर को 'कर्णयोनि' कहते थे ।^२ बाण रखने का तूणीर 'इषुधि या निषङ्ग' कहा जाता था । इसमें बहुत से बाण भरे रहते थे । इसी से एक स्थान पर इसे बाणों का पिता कहा गया है ।^३ ऋग्वेद के एक मन्त्र^४ में योद्धा का वर्णन इस प्रकार दिया है:—

“वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इपुमन्तो निषङ्गिणः । सश्वस्य सुरथा.....स्वायुधा..... ॥ (अर्थात्—कोकाहल करते हुए, खड्गधारी, बुद्धिमान्, घनुष-बाण और तूणीरवाले, अच्छे घोड़ों और रथों से युक्त,...तथा अच्छे शस्त्र वाले योद्धा... ।)

ये योद्धा युद्ध में शरीर की रक्षा के लिए कवच (वर्म) पहनते थे, जो धातु के पत्रों को इकट्ठे सीकर बनाये जाते थे ।^५ इनको 'अत्क' भी कहते थे । कलाई को प्रत्यञ्चा की चोट या रगड़ से बचाने के लिए उस पर जो चर्म बाँधा जाता था, उसे 'हस्तघ्न'^६ कहते थे । सिर के बचाव के लिए शिरस्त्राण (शिप्रा) पहना जाता था । यह लोहे,^७ (ताँबे) या सोने^८ का होता था ।

अन्य शस्त्रास्त्रों में खड्ग (असि^९), शूल (सक्ति^{१०}), भाला (सूक^{११}),

-
१. मं. ९, सू. ११२, ऋ. २.
 २. मं. २, सू. २४, ऋ. ८.
 ३. मं. ६, सू. ७५, ऋ. ५.
 ४. मं. ५, सू. ५७, ऋ. २.
 ५. मं. १०, सू. १०१, ऋ. ८.
 ६. मं. ६, सू. २९, ऋ. ३.
 ७. मं. ६, सू. ७५, ऋ. १४.
 ८. मं. ४, सू. ३७, ऋ. ४.
 ९. मं. २, सू. ३४, ऋ. ३.
 १०. मं. १, सू. १६२, ऋ. २०.
 ११. मं. ७, सू. १८, ऋ. १७.
 १२. मं. १, सू. ३२, ऋ. १२.

कुठार,^१ फरसा (परशु)^२, फैंक कर चलाया जाने वाला अस्त्र (दिशु)^३ अदि^४ और गोफन या वज्र (अशनि)^५ काम में लाये जाते थे। योद्धा लोग समय पर शस्त्रास्त्र चलाने का अभ्यास भी करते थे।^६ ऋग्वेद में योद्धाओं को स्वर्ग-प्राप्ति का भी उल्लेख है।^७

युद्ध के अन्य उपकरणों में ध्वज^८ और दुन्दुभि^९ होते थे। योद्धा लोग युद्ध में कोलाहल (ऋन्द)^{१०} भी कहते थे और शत्रु देश में पहुँच वहाँ के धान्य को भी नष्ट करते थे।^{११} एक स्थान पर^{१२} इन्द्रसेना नाम की मुद्गलानी (मुद्गल की स्त्री) का बँल जुते रथ पर चढ़कर शत्रुओं की गायें छीनना और 'रथी' होना कहा गया है।

खेल ऋषि की पत्नी विशपला का, पति के साथ, युद्ध में जाने से लंगड़ी हो जाने का भी उल्लेख मिलता है।^{१३} नमुचि ने स्त्री-सेना तैयार की थी।^{१४} इन्द्र ने वृत्रासुर की माता दनु को युद्ध में मारा था।^{१५} इससे स्त्रियों का भी युद्धों में भाग लेना प्रकट होता है।

१. मं. ८, सू. २९, ऋ. ३.

२. मं. ९, सू. ६७, ऋ. ३०.

३. मं. १, सू. ७१, ऋ. ५.

४. मं. १, सू. ५१, ऋ. ३.

५. मं. ६, सू. ६, ऋ. ५.

६. मं. १, सू. ९२, ऋ. १.

७. मं. १०, सू. ५४, ऋ. ३.

८. मं. ७, सू. ८५, ऋ. २.

९. मं. १, सू. २८, ऋ. ५.

१०. मं. ५, सू. ५७, ऋ. २.

११. मं. ७, सू. ८३, ऋ. ३.

१२. मं. १०, सू. १०२, ऋ. २.

१३. मं. १, सू. ११२, ऋ. १०; मं. १, ११८, ऋ. ८।

१४. मं. ५, सू. ३०, ऋ. ९.

१५. मं. १, सू. ३२, ऋ. ९.

यद्यपि पौराणिक काल में 'पुर' का अर्थ नगर किया जाता था, तथापि वैदिक काल में 'पुर' दुर्ग (किले) का तात्पर्य माना जाता था। उस समय भी राजा लोग आक्रमणकारी शत्रु से बचाव के लिए, किले बनवाते थे। ये (किले) पत्थर के बनाये जाते थे।^१

पुर (दुर्ग) ऋग्वेद में 'आयसी' लोहे के (या मज्जूत) किलों का भी उल्लेख मिलता है।^२ इनमें से अनेक किले बहुत बड़े-बड़े भी होते थे।^३ ऋग्वेद में 'शतभुजि' (सौ खंभो या दीवारों वाले) किलों का भी उल्लेख मिलता है।^४ दस्युओं के किलों के लिए 'शारदीः'^५ (शरत्कालीन) शब्द का प्रयोग किया है। इससे प्रकट होता है कि शरत्काल में आर्यों के आक्रमण से बचने के लिए दास लोग इनमें घुसकर बैठ जाते थे। ऋग्वेद में शम्बर के १०० किलों का उल्लेख है।^६

उस समय का आर्य-समुदाय, एक-सत्तात्मक आधिपत्य के लिए आपस में लड़ता रहता था। ऐसे ही एक युद्ध का उल्लेख ऋग्वेद में सामाजिक और राजनीतिक कारणों से होने वाले युद्ध (दाशराज युद्ध) मिलता है।^७ यह युद्ध तृत्सु-नरेश सुदास और दस राजाओं के बीच हुआ था। सम्भवतः यह युद्ध सप्तसिन्धु के उत्तरपश्चिम में रहने वालों और ब्रह्मावर्त निवासियों के बीच हुआ होगा। इस युद्ध में उस समय के सारे ही आर्य और अनार्य बस्तियों के छोटे-बड़े राजाओं का सम्मिलित होना पाया जाता है। युद्ध में पूरु,^८ क्रिवि और सृञ्जय तृत्सु-नरेश की ओर थे। दस राजाओं ने मिलकर तृत्सुओं के देश पर आक्रमण किया

१. मं. ४, सू. ३०, ऋ. २०

२. मं. १, सू. ५८, ऋ. ८; मं. २, सू. २०, ऋ. २८; मं. ४ सू. २७, ऋ. १ और मं. १०, सू. १०१, ऋ. ८।

३. मं. १, सू. १८९, ऋ. २.

४. मं. १, सू. १, सू. १६६, ऋ. ८.

५. मं. ६, सू. २०, ऋ. १०.

६. मं. ४, सू. ३०, ऋ. २०.

७. मं. ७, सू. १८, ऋ. १९, ३३ और मं. ७, सू. ८३, ऋ. ७.

८. मं. ७, सू. ८३, ऋ. ६.

९. पूरु और भरत बाद में कुहओं में मिल गये थे।

था ।^१ इन दस राजाओं में पाँच राजा सिन्धु के पश्चिम की इन जातियों के थे:—आलन (आधुनिक काफ़िरिस्तान की), पक्य (अफ़गानिस्तान की पक़तून), भलानस (संभवतः बोलन दर्रे की), शिव (सिन्धु पर की) और विषाणी। इसी प्रकार अन्य पाँच नरेश आर्य प्रदेश की भीतर की इन जातियों के थे:—अनु, द्रुह्यु, तुर्वश, यदु और पूरु। इनके साथ पूर्व की तरफ़ के यमुना पर के तीन अनार्य^२ नेता भी थे।^३ ये सम्भवतः अज, शिगु और यक्षु जातियों के थे और इनका नेता भेद नामक अनार्यनरेश था। इसी प्रकार एक अनार्यनरेश शिम्यु भी इनके साथ था। इनके अतिरिक्त इनके साथ के अन्य राजाओं के नाम इस प्रकार मिलते हैं:—कवप, शम्बर, और दो वैकर्ण। इन वैकर्णों के साथ उनके २१ अनुयायी भी थे। सुदास के इस शत्रु-दल के नेता विश्वामित्र थे। परन्तु अनुओं के नेता भृगु थे। इसी प्रकार सुदास के पुरोहित वसिष्ठ^४ उसके दल के नेता थे। इससे प्रकट होता है कि यह युद्ध राज-पुरोहित विश्वामित्र और वसिष्ठ के नेतृत्व में हुआ था। इस युद्ध में सुदास के विजयी होने से, उसका अधिकार और प्रभाव उस समय के सारे ही आर्यावर्त पर फैल गया था।^५ यह युद्ध पुरुष्णी (रावी) के पास हुआ था

१. मं. ७, सू. ८३, ऋ. ८. (इसी से इसे दाशराज्ञ युद्ध कहते हैं)।
२. मं. ७, सू. ८३, ऋ. ४.
३. मं. ७, सू. ८३, ऋ. १.
४. वसिष्ठ भरतों और तृत्सुओं के गुरु थे (मं. ७, सू. ३३, ऋ. ६)।
५. इस युद्ध का इतिहास ऋग्वेद के सातवें मण्डल में बिखरा हुआ मिलता है (मं. ७, सू. १८, मं. ७, सू. ३३, मं. ७, सू. ८३)। वहाँ पर सुदास के शत्रुओं के 'अयज्यवः' (यज्ञ विमुख) और 'अनिन्द्र' (इन्द्र विमुख) अर्थात्—अनार्य कहा है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के १०४वें सूक्त की १४वीं, १५वीं, और १६वीं ऋचाओं से ज्ञात होता है कि विरोधियों ने वसिष्ठ पर अनृत देवों के उपासक और यातुवान (राक्षस) होने का झूठा कलङ्क भी लगाया था, और वसिष्ठ ने दुःख के साथ उसका विरोध किया था। इसी प्रकार उस संहिता में वसिष्ठ के नौकरों द्वारा विश्वामित्र के अपमान का उल्लेख भी है (मं. ३, सू. ५३, ऋ. २३)। एक स्थान पर वसिष्ठ के ज्ञान और उनके देवोपम महत्त्व का भी वर्णन है (मं. ७, सू. ३३, ऋ. ७-१३ और मं. ७, सू. ७६, ऋ. ४)।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वसिष्ठ आर्य-रक्त को शुद्ध रखने के

और दाशराज्ञ युद्ध कहाता है ।^१

ऋग्वेद में सुश्रवा नरेश पर चढ़ाई करने वाले बीस राजाओं और उनके ६०,०९९ सैनिकों की पराजय का उल्लेख भी मिलता है ।^२ इसी प्रकार उसमें आर्यों और अनार्यों के बीच की अनेक लड़ाइयों के उल्लेख भी हैं । ये युद्ध बहुधा सामाजिक और राजनीतिक कारणों से भी होते रहते थे ।

देव का अर्थ प्रकाशमान और असुर का अर्थ प्राण-शक्ति वाला या बलवान् होता है । ऋग्वेद में पहले असुर शब्द देवों के लिए भी प्रयुक्त हुआ मिलता है ।^३ परन्तु ऋग्वेद काल में ही आपस के विरोध

देवासुर संग्राम

के कारण यह असुर शब्द सुर-विरोधी हो गया ।

पारसियों ने असुर को ही पूज्य माना, देव को दानव समझ लिया, तथा अपने ईश्वर का नाम 'असुर महान्'—अहुरमज्द रक्खा । इस प्रकार भारतीय आर्यों और पारसियों में विरोध चल पड़ा । आर्य मुर्दों को जलाते थे । पारसियों ने इसे घोर पाप माना । ये दोनों ही मित्र और वरुण को पूजते थे । मित्र (सूर्य) दिन का स्वामी था और वरुण (चन्द्र-ताराओं से शोभित) रात्रि तथा आकाश का । यह आकाश जल के समान नील और समुद्र के समान विस्तृत दिखाई देता है । अतः वरुण जल का स्वामी भी मान लिया गया । हिन्दुओं में आजकल मित्रावरुण की पूजा नहीं होती है, परन्तु पारसी आज भी मित्र के द्वारा ईश्वरोपासना करते हैं । उनके यहाँ वरुण भी वरन नाम से विद्यमान है । पारसी अतर (अग्नि) को भी पूज्य मानते हैं ।

पक्षपाती थे, और विश्वामित्र दस्युओं को शुद्ध कर उनके और आर्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे । इसी से यह विरोध उत्पन्न हुआ था । ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि पहले विश्वामित्र सुदास के पुरोहित थे । परन्तु बाद में किसी कारण से विश्वामित्र का यह पद वसिष्ठ को मिल गया । इससे क्रुद्ध होकर विश्वामित्र ने सुदास पर हुए इस आक्रमण का आयोजन किया था ।

१. इस युद्ध में शत्रुओं के ६६,०६६ पुरुषों का मारा जाना (मं. ७, सू. १८, ऋ. १४) और शम्बर की ९९ पुरियों का नष्ट होना और १००वीं का उसके हाथ से निकलना (मं. ७, सू. १९, ऋ. ५ और मं. ६, सू. ४७, ऋ. २) कहा जाता है ।

२. मं. १, सू. ५३, ऋ. ९.

३. मं. १, सू. १७४, ऋ. १.

ऋग्वेद के पहले मन्त्र में (अग्निमीडे पुरोहितं) अग्नि की स्तुति की गई है। भारतीय हिन्दू अब विशेषतौर पर यज्ञ नहीं करते, परन्तु पारसी अब भी अग्नि को पूज्य और पवित्र समझते हैं। उनके यहाँ सूर्य के वाद यही (अग्नि ही) ईश्वर की अभिव्यक्ति तथा उपासना का साधन हैं। उनके मन्दिरों की अग्निहोत्र की अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाती है। यद्यपि सोम-पान की प्रथा उनके यहाँ लुप्त हो चुकी है, तथापि अवेस्ता में हौम की महिमा मिलती है। हिन्दुओं और पारसियों में यम, वायु आदि और भी कई समान देवता पाये जाते हैं। ऋग्वेद में विवस्वान् का पुत्र यम कहा गया है। अवेस्ता में विवनघत् का पुत्र यिम है। ऋग्वेद में इन्द्र की स्तुति सबसे अधिक मिलती है।^१ इसे ही सब देवताओं में प्रधान माना है।^२ परन्तु पारसियों के धर्मग्रन्थों (गाथा और अवेस्ता) में इसको देवों (दैत्यों) में गिना गया है। आर्य इन्द्र को^३ पूज्य और वृत्रघ्न (आवरण या मेघ का नाशक) मानते हैं। पारसी यद्यपि इन्द्र की पूज्य-सत्ता को नहीं मानते,^४ तथापि वे अहुरमज़द को वेरेश्मध्न (वृत्रघ्न) (दानव को मारने वाला) कहते हैं। इससे प्रकट होता है कि यह कथा उनके यहाँ भी प्रचलित हो चुकी थी। सम्भव है यह इन्द्र की महत्ता ही भारतीय आर्यों और पारसियों के बीच विरोध का कारण हुई हो। भारतीय आर्यों के यहाँ देव तो सुर हुए और दैत्य असुर। इसी प्रकार पारसियों के यहाँ देव दैत्य हुए और असुर देवता। संभवतः यह देवाऽसुर संग्राम था। अर्थात् भारतीय आर्यों के दो दलों में संघर्ष उत्पन्न हो गया। पुराणों के अनुसार प्रजापति की पत्नी अदिति से आदित्य (देवता) और दिति से दैत्य हुए। इस प्रकार ये दोनों सौतेले भाई थे। अर्थात् ये एक ही कुटुम्ब की दो शाखा थे। जब दैत्य आदित्यों के यज्ञों में विघ्न करने लगे, तब आदित्यों ने उनका घोर विरोध किया।

१. मं. १०, सू. ८९, ऋ. १०; मं. १०, सू. १२८, ऋ. ७; मं. १, सू. १०२, ऋ. ८; मं. ८, सू. ८७, ऋ. १ और ११, आदि।

२. मं. १, सू. १०२, ऋ. ९

३. कालान्तर में वरुण का महत्त्व कम होकर इन्द्र का महत्त्व बहुत बढ़ गया था।

४. अवेस्ता के १०वें फर्गद में इन्द्र को पापमति कहा है, और उसके उपासकों को संसार से निकाल देने को कहा है। अवेस्ता में वृत्र का आर्य-निवास वाले वेबीलोन नगर को विजय करने में असफल रहना भी बतलाया है। ऋग्वेद के अनुसार इस वृत्र को इन्द्र ने मारा था। (मं. १, सू. ४, ऋ. ८)।

ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है,^१—‘हे इन्द्र! जो मित्र, अर्यमा, मरुत् और वरुण को अपमानित करते हैं, उनको मारो।’ इसी प्रकार दूसरे स्थान पर अनिन्द्रों (इन्द्र के विरोधियों) के नाश की कामना की गई है।^२ उसमें इन्द्र की कृपा से दिवोदास, त्रिसदस्यु, श्रुतर्वा, और कुत्स का विजयी होना, और इन्द्र-विरोधी तुग्र, बृहद्रथ, शम्बर और कृष्ण का पराजित होना प्रकट किया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र का त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप, वृत्र और असुर मेघों को मारना कहा है।^३ श्री अविनाश चन्द्रदास यहाँ पर असुर से अहुरमज्द के उपासकों का संकेत मानते हैं। ऋग्वेद में त्वष्टा को जगत् का उत्पादक कहा है।^४ जरथुश्त्र (जरत् त्वष्टा) पारसियों का महान् आचार्य था। इस विरोध के काण इन्द्र-विरोधियों को सप्तसिन्धु छोड़ना पड़ा, और वे ईरान (पर्सिया) में जाकर बसने के कारण पारसी कहाये। सप्तसिन्धु में इन्द्र का प्रभाव फैल गया।^५

वैदिक साहित्य में देव-शत्रुओं को ‘मृध्वाचः’^६ कहा है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है, कि—‘वे (देव-शत्रु) मृदुवाक् होने के कारण ‘हे अरयः’ के स्थान में ‘हे अलवः’ कहने से हार गये। इसी को आसुरी वाक् भी कहा है।^७ ईरानी (पारसी) भी दन्त्य अक्षर के स्थान में मूर्धन्य अक्षर का प्रयोग करते हैं।

१. मं. १०, सू. ८९, ऋ. ९.

२. मं. १, सू. ४, ऋ. ५; मं. १, सू. १३३, ऋ. १.

३. ऐसा माना जाता है कि ये मग लोग ईरान के उत्तर-पश्चिम में स्थित मीडिया के रहने वाले थे। ईरान में शुद्ध मज्द धर्म का प्रचार इन्होंने ही किया था। उगासना के समय ये ही आश्वन (अथर्वन्—यज्ञ करवाने वाले पुरोहित) होते थे।

४. मं. १०, सू. ११०, ऋ. ९.

५. मं. ५, सू. ३२, ऋ. ११.

६. मं. १, सू. १७४, ऋ. २.

७. शत. ब्रा. ३-२-१ और २-३-२४.

८. विद्वान् लोग इससे ईरानी भाषा का तात्पर्य लेते हैं; क्योंकि उसमें पञ्च को पज, मातर को मादर, घर्म को गर्मा, भीम को वीम, आतर को वातर, अस्मि को अस्मि, दश को दह, सन्ति को हन्ति, सप्त को हप्त, सोम को होम और सर्व को होर्व उच्चारण करते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि पारसी आर्यों की ही एक गाथा थे, और इनका विरोध ही देवासुर संग्राम का मूल था ।

इस प्रकार असुर (असुर के उपासक आर्य) सप्त-सिन्धु से बाहर जाने के लिए बाध्य किये जाने पर उत्तर-पश्चिम के मार्ग से चलकर ईरान पहुँचे ।

वहीं पर इनमें जरथुश्त्र ने अपने धर्म का प्रचार असुरों (पारसियों) का किया । उस्तन्वैति^१ गाथा में जरथुश्त्र स्वयं अपनी उपनिवेश-स्थापन असहाय अवस्था और चारों तरफ से अपना अपमान होना सूचित करता है, शरण खोजता है, और अपने केवल थोड़े से अनुयायी होना प्रकट करता है । यह वर्णन इनके भारत से भगाये जाने की दशा का सूचक है ।^२

सोम का इन्द्र से विशेष सम्बन्ध होने के कारण, पारसियों ने सोम-पान की निन्दा कर, उसे भी छोड़ दिया था । परन्तु अन्त में प्राचीन संस्कार के कारण उसे फिर से ग्राह्य माना ।^३ जेन्द में सोम को होम कहा है । पारसियों के यहाँ कथा है कि—सोम ने स्वप्न में आकर जरथुश्त्र को, प्राचीन समय के सत्पुरुषों के समान ही, फिर से अपने (सोम के) पूजन की आज्ञा दी । इस पर जरथुश्त्र ने मस्तक झुकाकर सोम की स्तुति की ।

पारसियों के यहाँ की एक कथा के अनुसार जिस समय पारसियों का (एक) दल ऐर्यन वेइजा में^४ पहुँचा उस समय वहाँ पर ५ महीने की सरदी

१. इस गाथा की भाषा अवेस्ता के अन्य भागों की भाषा से पुरानी और वेदों की भाषा से मिलती हुई है ।

२. जरथुश्त्र कहता है :—“मैं किस देश में जाऊँ, कहाँ शरण लूँ, कौन-सा देश उपदेशक (मुझे) और उसके साथ वालों को शरण देता है । न कोई सेवक, न देश का दुष्ट राजा मेरा आदर करता है ।” ४ (४६) १ ।

“मैं जानता हूँ कि मैं सहाय हीन हूँ, मेरी तरफ देख, मेरे साथ बहुत थोड़े आदमी हैं । हे जीवित देव अहुर्मज्द ! मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ ।”— ४ (४६) २ ।

३. ईरान में सोम के न मिलने से, उन्हें इसके स्थान पर एक दूसरी औषधि का रस ग्रहण करना पड़ा ।

४. ‘आर्याणां बीज’ आर्यों का मूल (स्थान) । सप्तसिन्धु से भगाये जाने पर, असुरों ने इस देश का नाम यही रक्खा था ।

और ७ महीने की गरमी होती थी। परन्तु अन्त में दुष्ट अंग्रमेन्यु ने वहाँ पर १० महीने की सरदी और दो महीने की गरमी करदी। अतः उनको वह देश छोड़ना पड़ा।^१

पारसियों के धर्मग्रंथ में कहा गया है कि—जरथुश्त्र के पृच्छने पर अहुरमज्द ने कहा कि मैंने तेरे पहले विवनघत् के पुत्र यिम^२ को धर्मोपदेश दिया और उसको इस पृथ्वी पर राजा बनाया। इसके १,२०० वर्ष बाद अहुरमज्द ने उसे (यिम को) भौतिक जगत् में हिमप्रलय आने की सूचना दी और एक बाड़ा बनाकर सब के बीज उसमें रखने का आदेश दिया।^३ उस बाड़े में सृजन और बिना सृजन के प्रकाश होते हैं। वहाँ पर सूर्य, चन्द्र और तारे वर्ष में एक बार ही उदय और अस्त होते दिखाई देते हैं। वर्ष एक दिन का सा होता है।

विद्वानों का अनुमान है कि पहले उत्तरी ध्रुव पर बर्फ था। परन्तु बाद में वहाँ पर बर्फ लुप्त होकर विरवसन्त का-सा मौसम हो गया। अन्त में आज से १०,००० वर्ष पूर्व फिर बर्फ गिरा। उस समय से पूर्व उत्तरी ध्रुवप्रदेश के दक्षिण में सात महीने की गर्मी और पांच महीने की सर्दी, तथा (ध्रुव प्रदेश के) उत्तर में दस महीने की गर्मी और दो महीने की सर्दी थी। परन्तु हिम युग से मौसम बदल गया।

पारसियों के धर्मग्रंथ के अनुसार—पृथ्वी पर मनुष्यों और पशुओं की संख्या बढ़ती रहने से राजा यिम ने ३००-३०० वर्षों के अन्तर से पृथ्वी को ४ बार बढ़ाया। प्रत्येक बार यह बाढ़ पृथ्वी के $\frac{1}{3}$ के अनुपात से हुई थी।

विद्वान् लोग इसे पारसियों के उपनिवेश बसाने का संकेत मानते हैं। उनका अनुमान है कि—पारसियों के पूर्वज, सप्तसिन्धु से चलकर एर्यनबेइजो में

१. परन्तु ऋतु परिवर्तन अस्थायी था; क्योंकि जिस समय (यिम के ब्रह्मत काल बाद होने वाले) जरथुश्त्र वहाँ पहुँचे थे, उस समय वहाँ वैसी अवस्था नहीं थी, और इसी से अहुरमज्द ने उनको यिम की प्राचीन कथा से अवगत कराया था।

२. वैदिक साहित्य के अनुसार विवस्वान् का पुत्र यम प्रथम मनुष्य था। अतः सबसे पूर्व मरने पर यमलोक का राजा हुआ।

३. कुछ लोग इस बाड़े का भौतिक जगत् से बाहर होना अनुमान करते हैं। परन्तु एर्यन बेइजो से तो यह अवश्य ही बाहर था।

(ईरान के पश्चिमी किनारे पर) बसे होंगे । इसके बाद वहाँ पर सर्दी का प्रकोप बढ़ जाने से^१ उनमें से कुछ उत्तरी ध्रुव की ओर चले गये होंगे । अन्त में वहाँ हिमपात होने पर, उन्हें उक्त प्रदेश छोड़ कर ईरान के आस-पास आना पड़ा होगा तथा वहीं पर इनके यहाँ आने के पहले की और यहाँ आने के बाद की स्मृतियों और अनुभवों के आधार पर, इनके धर्म का अन्तिम रूप निश्चित किया गया होगा । यद्यपि इनकी धर्म पुस्तक अवेस्ता की जेन्द भाषा ईरान की पहलवी भाषा से मिलती है, तथापि वे दोनों एक नहीं हैं । कहा जाता है कि—मग लोगों ने^२, मीडिया (ईरान के उत्तर-पश्चिम) प्रदेश से आकर ईरान में अहुरमज्द के शुद्ध मज्दी धर्म का प्रचार किया था । अतः उपासना के समय ये (मग) लोग ही आश्विन (अथर्वन्-पुरोहित) हो सकते थे ।

सिकन्दर के आक्रमण के समय अवेस्ता की प्रतियों के जल जाने से इस धर्म की बातों को इधर-उधर से इकट्ठा करना पड़ा । परन्तु इससे बहुत-सा वृत्तान्त नष्ट हो गया ।

पारसियों के धर्म-ग्रन्थों में ज़रथुश्त्र को 'दख्युमा' (दस्यु) और 'दख्युनाम सूरों' (दस्युओं में विद्वान्) कहा है । पारसियों की भाषा में दस्यु का अर्थ आदरणीय है परन्तु आर्य भाषा में इस (दस्यु) शब्द का अर्थ कर्मनाश करने वाला है । ऋग्वेद के तीन मन्त्रों में^३ अग्नि के ज़रथु को जलाने का उल्लेख है । जैसे—

'विश्वा अग्नेऽप दहारातीर्येभिस्तपोभिरदहो जरथुम् ।' (अर्थात्—हे अग्नि ! जिस तेज से तुमने (कर्कश शब्द वाले) ज़रथु को जलाया, उसी से राक्षसों को जलाओ ।)

श्री होडीवाला उपर्युक्त ज़रथु से ज़रथुश्त्र का तात्पर्य लेते हैं । यदि यह ठीक हो, तो अग्नि द्वारा ज़रथुश्त्र का जलाया जाना सिद्ध होता है । पारसियों के 'दीनकर्द' 'बेहराम यस्त' 'दाहेस्तान', आदि से भी ज़रथुश्त्र की मृत्यु का अग्नि द्वारा होना प्रकट होता है ।

१. यह प्रकोप अस्थायी ही था; क्योंकि बाद में ज़रथुश्त्र का स्वयं भी वहाँ जाना कहा गया है ।

२. सम्भव है ये भी ईरान के आर्यों (पारसियों) की ही एक शाखा के हों ।

३. मं. ७, सू. १, ऋ. ७; मं. ७, सू. ९, ऋ. ६ और मं. १०, सू. ८०, ऋ. ३,

ऋग्वेद के एक मन्त्र में^१ इष्टाश्व और इष्टरश्मि राजाओं के नाम आये हैं। इसी प्रकार पारसियों की अहुनवद गाथा में^२ वीस्तास्य का नाम मिलता है। यह गुश्तहम वंशी था। पारसी विद्वानों का अनुमान है कि उपर्युक्त 'इष्टाश्व' वीस्तास्य का और 'इष्टरश्मि' गुश्तहम का ही सूचक है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में^३ वृषागिरि के पुत्र ऋजाश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुराधा का इन्द्र की स्तुति करना कहा है। श्री शेहरियार जी उपर्युक्त ऋजाश्व को बानदरेमैनी के पुत्र अरजास्य का सूचक मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि बानदरेमैनी का अर्थ निर्भय होता है, जो 'भयमान' का ही बिगड़ा हुआ रूप है।^४ इससे भयमान का ऋजाश्व का पिता होना प्रकट होता है। उक्त अरजास्य का भाई 'हुमयक' था। 'हुमयक' और मन्त्रोक्त 'सुराधा' दोनों शब्दों का अर्थ धनवान् होता है।

ऋग्वेद में असुरों के शत्रु 'त्रित' का उल्लेख है।^५ अवेस्ता में अथेन के नाम से इसकी उपासना का उल्लेख है।

ऋग्वेद में वेतसु नामक असुर का उल्लेख आया है।^६ पारसियों की पुस्तकों में जामास्य वएतस नाम मिलता है। श्री शेहरियार जी इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

ऋग्वेद में अनायों को दास, दस्यु^७ या असुर कहा है। उक्त संहिता में

१. मं. १, सू. १२२, ऋ. १३.

२. हा. २८।७.

३. मं. १, सू. १००, ऋ. १७.

४. Cama Commemoration, vol.

५. मं. १, सू. ५२, ऋ. ५.

६. मं. ६, सू. ९१, ऋ. ८.

७. यास्क ने 'दस्यु' का अर्थ 'उपदासयति कृष्यादि कर्माणि' (खेती आदि कर्म का नाश करने वाला) किया है (निरुक्त, उ. खं. २।१७।१)। इसी प्रकार सायण ने भी इस शब्द का अर्थ कर्मनाशक ही किया है (मं. ६, सू. २५, ऋ. २ का भाष्य)। मनु ने अयाज्ञिकों के देश को म्लेच्छ देश कहा है (मनुस्मृति अ. २, श्लो. २३)। अवेस्ता में दस्यु (दाह्यु) शब्द जाति वाचक है। अखैमी-निया वाले शिलालेखों में भी दाह्यु शब्द मिलता है।

उनके राजाओं के नाम—इलिविस, वुनि, चुमुरी, पिप्रु, वर्ची, शम्बर,^१ शुष्ण, वेतसु, तुग्र, और अर्बुद, आदि, तथा उनकी जातियों ऋग्वेद में दास या दस्यु के नाम शिम्यु, कीकट, अज, यक्षु, और शिम्रु आदि मिलते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में युद्ध में कोलाहल मचानेवाले और हलके रक्तवर्ण वाले पिशाचों और राक्षसों का भी उल्लेख है।^२ उक्त संहिता में इन अनार्यों का वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

ये अनार्य कृष्ण वर्ण वाले^३, अदीर्घकाय, यज्ञ न करने वाले^४, वेदों को न

१. शम्बर बड़ा प्रतापी और इन्द्र का शत्रु था। वह अपने को एक देवक (देवता) मानता था (मं. ७, सू. १८, ऋ. २०)।

२. १, सू. १३३, ऋ. ५। वाल्मीकीय रामायण में राक्षस शब्द का अर्थ स्वरक्षा में समर्थ किया है (रामा; उत्त. का; ७, ४, १३)। छान्दोग्य उपनिषद् में अदानी, अविश्वासी और अयाज्ञिक को असुर कहा है (छा. उ; ८, ८, ५)। रामायण में पुलस्त्य ऋषि के पौत्र और विश्रवा के पुत्र रावण को राक्षस (वा. रामा; ७, ९, ४ तथा ७, ९, २८ और २९) और अनार्य (वा. रामा; उत्त. का; ५, २८) कहा है। परन्तु इसी के सहोदर (सगे भाई) विभीषण को अच्छा माना है। इसी प्रकार उसमें श्री रामचन्द्र की विमाता (सीतेली माता) कैकयी को अनार्य की उपाधि दी है (वा. रामा; २, १८, ३१)। राक्षस लोग भी संस्कृत बोलते थे (वा. रामा; ३, ११, ५६)। वाल्मीकि ने राक्षस इत्व का ब्राह्मणों को संस्कृत में आमन्त्रित करना लिखा है (वा. रामा; ३।११।५६) रावण स्वयं वेद-पाठी था (वा. रामा., ३, ४६, १४)। महाभारत में राक्षसों का राजा विरूपाक्ष सत्पुरुष कहा गया है (महा० भा०, १२, १७०)। राक्षसों और आर्यों के बीच विवाह सम्बन्ध भी होता था। राक्षस सुमाली की पुत्री का विवाह विश्रवा ऋषि से हुआ था (वा. रामा; ७, ९, १२ और २०)। गन्धर्व कन्या वसुदा मालिराक्षस को ब्याही गई थी (वा. रामा., ७, १, ३० और ४१)। इससे सिद्ध होता है कि ये राक्षस भी मनुष्य ही थे। परन्तु मध्य देशवासी गौतम नामक ब्राह्मण के समान कुसङ्गति के कारण आचारभ्रष्ट हो गये थे और इनका रहन-सहन और रंग-रूप बिगड़ गया था (महा. भा; १२, १६७, ३)।

३. म. ७, सू. ५, ऋ. ३ और ६.

४. मं. ८, सू. ७०, ऋ. ११.

मानने वाले^१, देवताओं में श्रद्धा न रखने वाले^२, व्रतों (नियमों) को न पालने वाले^३, अन्य व्रतों (दूसरे नियमों) का पालन करने वाले^४, मृधवाच^५ (मृदु वचन बोलने वाले)^६, अनास^७ (चपटी नाक वाले), और शिष्ण देव^८ (व्यभिचाररत या लिङ्ग-पूजक) थे। ये आर्यों के विरोधी थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र का पचास हजार कालों को मारने का उल्लेख है।^९ दूसरे स्थान पर इन्द्र का कृष्ण की स्त्रियों को मारने का उल्लेख है।^{१०} यह कृष्ण असुर था, और अंशुमती के किनारे रहता था, तथा इसके पास दस हजार सैनिक थे। इन्द्र ने इसे भी मारा था।^{११} तीसरे स्थान पर दस्यु और दास शब्द का एक साथ प्रयोग^{१२} करके उन्हें अकर्मा, आर्यों का अपमान करने वाले, अन्यव्रत (यज्ञादिक न करने वाले) और अमानुष कहा है, तथा इन्द्र से उनको मारने की प्रार्थना की गई है।^{१३} चौथे स्थान पर अपने (आर्यों) से अलग रहने वाले और वैदिक कर्महीनों का उल्लेख है।^{१४}

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ये दस्यु या दास सप्तसिन्धु के मूल निवासी

१. मं. ४, सू. १६, ऋ. ९.

२. मं. ८, सू. ७०, ऋ. ११.

३. मं. १, सू. ५१, ऋ. ८.

४. मं. ८, सू. ७०, ऋ. ११.

५. मं. ७, सू. ६, ऋ. ३। यह मृधवाचः विशेषण आर्यों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है (मं. ७, सू. १८, ऋ. १३)।

६. निरुक्त, १।१३।

७. मं. ५, सू. २९, ऋ. १०. सायण ने यहाँ पर 'अन् आसः' ऐसा पद-पाठ मानकर इसका अर्थ अशोभन बोली बोलने वाला किया है।

८. मं. ७, सू. २१, ऋ. ५।

९. मं. ४, सू. १६, ऋ. १३.

१०. मं. १, सू. १०१, ऋ. १.

११. मं. ८, सू. ८५, ऋ. १३-१५.

१२. कुछ लोग दासों और दस्युओं के भिन्न-भिन्न वर्ग मानते हैं। परन्तु इस प्रकार के प्रयोग से यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता।

१३. मं. १०, सू. २२, ऋ. ८.

१४. मं. ५, सू. ३३, ऋ. ३.

अनार्य थे और आर्यों ने इन्हें हराकर वहाँ पर अधिकार किया था। अतः या तो ये अनार्य जंगलों और पहाड़ों में आश्रय लेने को बाध्य हुए, या आर्यों द्वारा पकड़कर दास बना लिये गये। इसी प्रकार इन की स्त्रियाँ भी आर्य-घरों में दासी-वृत्ति करने लगीं। आगे चलकर ये दास शूद्रों में मिल गये।^१ इस प्रकार के दीर्घकालीन संपर्क से एक की सम्यता का प्रभाव दूसरे की सम्यता पर पड़ा और फिर आपस की मैत्री और विवाह के सम्बन्ध से आर्यों और अनार्यों में मेल-मिलाप बढ़ने लगा।^२

इस प्रकार आर्यों को यहाँ पर तीन काम करने पड़े—(१) अनार्यों को हराना, (२) अपनी बस्तियाँ बसाना, और (३) अपनी सम्यता का प्रचार करना। इनके द्वारा आर्यों ने अनार्यों को या तो अपने वश में कर लिया था, या अपने में मिला लिया। परन्तु यह कार्य सहज नहीं था; क्योंकि उस समय के ये अनार्य भी बहुत कुछ सम्य थे। विशेषकर इनकी भौतिक सम्यता बहुत बड़ी-चढ़ी थी। ऋग्वेद में इनके पुरों और दुर्गों का उल्लेख मिलता है। इनके पुर और किले पत्थर^३ या लोहे^४ के बने कहे गये हैं। किसी-किसी किले में सौ-सौ स्तम्भ तक^५ रहते थे। इनके शारदी (शरत् काल के उपयोगी) दुर्गों का भी उल्लेख मिलता है। ये सम्भवतः आर्यों की चढ़ाई से बचने के लिए बनाये जाते होंगे।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पंजाब के हरप्पा और सिंध के मोहं-जोदरो की खुदाई में जो नगरों के भग्नावशेष मिले हैं, और जिनसे वहाँ के निवासियों की समुन्नत भौतिक सम्यता का पता चलता है, वे इन्हीं अनार्यों के नगर थे।

१. मं. १०, सू. १० (पुरुष सूक्त) इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख है।

२. कहते हैं कि इसी संपर्क के कारण आर्यों ने शिव लिङ्ग को उग्रदेव (शिव) के रूप में अपना लिया था, और दासों ने बहुत से वैदिक रीति-रिवाज ग्रहण कर लिए थे।

३. मं. ४, सू. ३०, ऋ. २०.

४. मं. १, सू. ५८, ऋ. ८. (संभव है इनकी मजबूती के कारण ही ई इतको लोहे का बना कहा गया हो)।

५. १, सू. १६६, ऋ. ८.

ऋग्वेद में पणियों को आयों का विरोधी कहा है। ये आयों का गो-घन चुराकर ले जाते थे। यास्क ने अपने निरुक्त में^१ पणि का अर्थ व्यापारी किया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि संभवतः ये ही पणि सिन्धु घाटी की सभ्यता के संस्थापक, और उपर्युक्त नगरों के निर्माता थे। वहाँ की खुदाई में अन्य अनेक वस्तुओं के साथ-साथ शंख की बनी वस्तुएँ भी मिली हैं; इससे पणियों के सामुद्रिक व्यापार की पुष्टि होती है। आयों को ऐसे ही उन्नत सभ्यता वाले शत्रुओं का सामना कर उनके पुरों को नष्ट करना पड़ा था। इसी से उन्होंने अपने युद्ध के देवता इन्द्र का नाम पुरन्दर^२ (अनायों के नगरों को नष्ट करने वाला) रख दिया।

अनायों के विरोध के कारण प्रारम्भ में आयों की स्थिति कैसी थी, इसका वर्णन ऋग्वेद के एक मन्त्र^३ से दिया जाता है :—

“हम चारों तरफ दस्युओं से घिरे हुए हैं। वे यज्ञ नहीं करते। वे वेदोक्त कर्म को नहीं मानते। वे आसुरी स्वभाव के हैं। उनका धर्म दूसरा है। हे शत्रुहन्ता इन्द्र ! तुम इस दस्यु जाति का विनाश करो !”

इसी प्रकार एक स्थान^४ पर राजा दिवोदास का, इन्द्र की सहायता से अनार्य पर्वत-राज शम्बर के ९० पुरों को नष्ट करना कहा है। दूसरे स्थान पर^५ इन्द्र का अपने सारथी राजा कुत्स के लिए शुष्ण, अशुष, और कुवय को वश करना, तथा दिवोदास के लिए शम्बर के ९९ पुरों को विध्वंस करना कहा है। तीसरे स्थान पर^६ इन्द्र का शम्बर के १०० पुरों को भग्न करना, और वर्चिके सौ हजार पुत्रों को भूमिशायी करना बतलाया है। चौथे स्थान^७ पर इन्द्र का अतिथिग्व (सुदास) के लिए करञ्ज, और पर्णय को मारना, और राजा ऋजिश्वा को वृंगद के १०० पुरों को घेरकर नष्ट करने में सहायता देना प्रकट किया है। इसी के आगे सुश्रवा का, इन्द्र की सहायता से, अपने विपक्षी २० नरेशों और उनके ६०,०९९ सैनिकों को हराना दर्शाया है।

१. ६, २७.

२. मं. १, सू. १०३, ऋ. ३.

३. मं. १०, सू. २२, ऋ. ८,

४. मं. १, सू. १३०, ऋ. ७; और मं. १, सू. ५१, ऋ. ६.

५. मं. २, सू. १९, ऋ. ६.

६. मं. २, सू. १४, ऋ. ६.

७. मं. १, सू. ५३, ऋ. ८-९.

इनके अतिरिक्त एक मन्त्र में^१ पुरन्दर (पुरों के नाशक इन्द्र) को कृष्ण-योन (काले वर्ण वाले) दासों की सेना का नाशक घोषित किया है। दूसरे मन्त्र में^२ इन्द्र का पित्रु और मृगय को मारना, विदधि के पुत्र ऋजिश्वा को कैद करना और कृष्णवर्ण वाले ५०,००० दासों को नष्ट करना कहा है। तीसरे मन्त्र में^३ इन्द्र का दभीति के लिए ३०,००० दासों को रण में मारना प्रकट किया है। चौथे मन्त्र^४ में इन्द्र का दभीति के लिए चमुरि के ६०००० दासों को मारना बतलाया है। इस प्रकार के और भी बहुत से उल्लेख ऋग्वेद में मिलते हैं। इनसे अनायों के उस समय के बल-वैभव का और आयों की कठिनाइयों का अनुमान किया जा सकता है।

परन्तु जो लोग आर्यों को सप्तसिन्धु के निवासी मानते हैं, वे उसी के कुछ भाग में दासों या दस्यूओं की बस्ती होना अनुमान करते हैं। श्री म्योर^५ और राँथ का मत है कि दस्यूओं के नाम आर्य व्युत्पत्ति वाले होने से अनुमान होता है कि ये नगर और ग्रामों में रहकर व्यापार और खेती करने वाले आर्य न होकर जंगलों और पहाड़ों में रहकर शिकार तथा लूट-मार से पेट भरने वाले अर्ध-सम्भ आर्य थे। त्रेतायुग में जिस प्रकार किष्किन्धावासी वानर और ऋक्ष कहलाते थे, उसी प्रकार ये अर्धसम्भ आर्य दास, दस्यू, या कृष्णवर्ण कहाते होंगे। संभव है, जंगलों में घूमने से ये कृष्ण वर्ण के हो गए हों, अथवा इनके काले (बुरे) कार्य या आयों के साथ की शत्रुता^६ ही इनके काले कहाने में कारण हुए हों। ऋग्वेद में एक स्थान^७ पर इन्द्र का कथन है कि मैंने दस्यू को आर्य नाम नहीं दिया है। इससे अनुमान किया जाता है कि ये आर्य

१. मं. २, सू. २०, ऋ. ७.

२. मं. ४, सू. १६, ऋ. १३.

३. मं. ४, सू. ३०, ऋ. २१.

४. मं. ६, सू. २६, ऋ. ६.

५. मं. ४, सू. ३०, ऋ. १३.

६. Original Sanskrit texts, (1871), vol. II, p 387.

७. ऋग्वेद में जिस प्रकार शत्रुता के कारण दासों को 'कृष्णगर्भाः' (मं. १, सू. १०१, ऋ. १) या कृष्णाः (मं. ४, सू. १६, ऋ. १३) कहा है, उसी प्रकार पारसियों की उस्नवैती गाथाओं में जोरोआस्टर ने अपने विरोधियों (आर्यों) को 'कृष्णात्मा' बतलाया है (गाथा १२)।

८. मं. १०, सू. ४९, ऋ. ३.

से मिलते हुए ही होंगे। उसी में एक स्थान पर इन्द्र का (पूजन पद्धति द्वारा) दास और आर्य का पता लगाते हुए आना कहा है।^१

ऋग्वेद में^२ भी यज्ञादिक करने वालों को आर्य, और यज्ञहीनों को दास कहा है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में अनेक आर्यों के नामों के अन्त में भी दास या दस्यु शब्द जुड़ा मिलता है। जैसे—राजा पैजवन का नाम सुदास और उसके पिता का नाम दिवोदास था।^३ इसी दिवोदास के सम्बन्ध से अग्नि का नाम दैवोदास हो गया था। ऐतरेय ब्राह्मण की सायण की लिखी भूमिका में ऋषिपत्नी इतरा के पुत्र का नाम महीदास दिया है, और ऐतरेय आरण्यक में उसे महीदास ऐतरेय कहा है। इसी प्रकार ऋग्वेद में^४ राजा पुरुकुत्स के पुत्र का नाम (राजर्षि) त्रसदस्यु मिलता है। ऋग्वेद के चौथे मण्डल का ४२वां सूक्त इसी की रचना है। यह राजर्षि अर्घदेव कहा गया है।^५ इन दासों का अनेक विशों (उप जातियों) में बँटा होना भी प्रकट किया है।^६ ये संपत्ति-शाली भी थे।^७ इनके रंग और आर्यों के रंग में भेद था।^८

यदु और तुर्वश क्षत्रिय थे। ये समुद्र पार जा बसने के कारण संस्कारच्युत हो गये थे। ऋग्वेद में एक स्थान^९ पर इन्हें दास के समान रहने वाले कहा है। साथ ही वहाँ पर^{१०} यह भी कहा है कि इन्द्र ने इन्हें समुद्र पारकर (सप्तसिन्धु में) आने में सहायता दी थी, और ये आर्यों के समाज में मिला लिये गए

१. मं. १०, सू. ६८, ऋ. १९.

२. मं. १, सू. ५१, ऋ. ८,; और मं. ५, सू. ३४, ऋ. ६.

३. मं. ७, सू. १८, ऋ. २५.

४. मं. ४, सू. ४२, ऋ. ९.

५. मं. ४, सू. ४२, ऋ. ८-९.

६. मं. २, सू. ११, ऋ. ४.

७. मं. ४, सू. ३०, ऋ. १३.

८. मं. १, सू. १०४, ऋ. २.

९. मं. १०, सू. ६२, ऋ. १०.

१०. मं. ६, सू. २०, ऋ. १२; मं. ४, सू. ३०, ऋ. १७; मं. १०, सू. ४९, ऋ. ८; मं. १०, सू. ५४, ऋ. ६; और मं. १०, सू. ६२, ऋ. १०। (जो लोग आर्यों का उत्तर-पश्चिम की ओर से सप्तसिन्धु में आना मानते हैं, वे यदु और तुर्वश का दक्षिण की तरफ से आना, और आर्यों का उन्हें योग्य समझ अपने समाज में मिला लेना अनुमान करते हैं)।

थे। इससे सिद्ध होता है कि दास या दस्यु भी अर्ध-सम्य आर्य ही थे। इनमें से कुछ तो ग्रामों और नगरों में बसकर आर्यों में मिल गये^१ और कुछ अन्त में सप्तसिन्धु से बाहर चले गए। इन बाहर जाने वाले आर्यों का एक दल तो, राजस्थान समुद्र के सूख जाने से, दक्षिण में पहुँचकर द्रविड़ों में मिल गया, और दूसरा दल पश्चिम और उत्तर की ओर चला गया।

श्री रामकृष्ण भण्डारकर ने लिखा है,^२ कि ऐतरेय ब्राह्मण^३ के अनुसार विश्वामित्र ने अपने १०० पुत्रों में से पचास पुत्रों की सन्तान को शाप देकर उन्हें आर्य वस्तियों की सीमाओं पर रहने का आदेश दिया था। ये ही आगे चलकर आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब हुए। दस्युओं में भी एक बड़ा भाग विश्वामित्र की सन्तान का था।

हरिवंश में कहा गया है कि वसिष्ठ के कहने से राजा सगर ने शक, यवन, कम्बोज, पारद, पहलव, कोल, सर्प, महीशक, दर्व, चोल और केरल क्षत्रियों का वेद पढ़ने और और यज्ञ करने का अधिकार छीनकर उन्हें देश के बाहर निकाल दिया था। मनुस्मृति के १०वें अध्याय^४ में भी कुछ उपर्युक्त और कुछ अन्य क्षत्रिय जातियों का ब्राह्मणों के साथ के संपर्क के टूट जाने, और क्रियालोप होने से शूद्र होना बतलाया है। इसी के आगे मनु ने कहा है,^५ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य चाहे आर्यभाषा बोलते हों, चाहे अनार्य भाषा, इससे कोई अन्तर नहीं होता। वे केवल मात्र क्रिया के लोप से ही दस्यु होते हैं। इससे दस्युओं का भी आर्यभाषा बोलना प्रकट होता है।

ऊपर गिनाई जातियों में से पौण्ड्र (पुण्ड्र), चोल (चौड़), द्रविड़ और केरल दक्षिण प्रदेश की जातियाँ हैं। काम्बोज, आदि भारत की पश्चिमोत्तर

१. यही पीछे से शूद्र कहाये। इसी से स्मृतिकारों ने शूद्रों के नाम के पीछे दास शब्द लगाने का नियम निर्धारित किया है।

२. Early History of Deccan.

३. ७, १८.

४. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।

वृषलत्वं गता नूनं ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ॥४३॥

पौण्ड्रकाश्चौद्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।

पारदाः पहलवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥४४॥

५. मनुस्मति, अध्याय १०, श्लोक ४५.

सीमा पर की हैं। पारस, पल्लव, शक और चीन उससे आगे की हैं, और यवन (यूनानी) सबसे दूर की है।

यह भी संभव है कि दक्षिणियों और दस्युओं के संमिश्रण से उत्पन्न हुई जाति की समानता वाली किसी जाति ने सुमेर, मोहंजोदड़ो, और हरप्पा की सभ्यता की सृष्टि की हो। सप्तसिन्धु से पश्चिम की तरफ जाने वाला आर्यों का दल भी जितना ही आगे बढ़ता गया, अपनी प्राचीन स्मृतियों को भूलता गया। इनमें से कुछ लोग ईराक में जाकर बस गये और वहाँ पर उन्होंने सिमेटिक लोगों से मिलकर, मितन्नी, आदि राज्यों की स्थापना की। परन्तु पश्चिम में और भी आगे बढ़ने वाले दल यूरोप जा पहुँचे। जो दल पहले किसी स्थान पर पहुँचकर बस जाता था, पीछे से पहुँचने वाला दल उसे और भी आगे पश्चिम में ढकेल देता था। इस प्रकार जो दल सबसे पीछे चला, वह यूनान, आदि पूर्वीय देशों में जाकर बस गया। यूरोप में पहुँचने वाले दल वहाँ पर रहने वाली अन्य उपजातियों से मिल गये। इससे इनकी भाषा में मिश्रण होने पर भी उसमें आर्य भाषा का प्रभाव बना रहा। इसी प्रकार इनमें अपनी जातीयता और उपासना की प्राचीन स्मृतियाँ भी जीवित रहीं। पीछे से जाने वालों ने अनुकूल प्रदेशों में बसने के कारण अपनी संस्कृति का विकास शीघ्र कर लिया। उनमें अपनी पुरानी भाषा और संस्कृति की अधिक झलक मिलती है। यही कारण है कि यूनान और रोम वालों की भाषा संस्कृत से अधिक साम्य रखती है। उनकी प्राचीन कथाओं में भी बहुत सी वैदिक स्मृतियाँ मिलती हैं। यदि उपर्युक्त अनुमान ठीक हों, तो मानना होगा, कि दस्युओं और पणियों ने ही बाहर के देशों में आर्य संस्कृति का प्रचार किया था। इसी प्रकार ईरानी आर्यों (पारसियों) ने भी इसके प्रचार में बड़ा कार्य किया।

ऋग्वेद में वरुण, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, भग, नासत्य, द्यौष्पति, विष्णु, रुद्र, आदि की उपासना मिलती है। इसी प्रकार उसमें बल, आदि असुरों के मारे जाने का उल्लेख भी है।

सभ्य आर्यों की सप्तसिन्धु की शाखा में इन्द्र को प्रधानता मिली और ईरान की शाखा में सूर्य और अग्नि ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक माने गये। पर अर्ध-सभ्य आर्यों के दिलों में प्राचीन स्मृतियों का रूप विकृत हो जाने से कहीं भग, कहीं नासत्य, कहीं वरुण, कहीं द्यौष्पति और कहीं बल की उपासना होने लगी। इन सब दलों की भाषाएँ एक मूल भाषा की ही कन्याएँ हैं।

भारतीय आर्यों में इस समय इन्द्र का स्थान शिव, शक्ति, और विष्णु को मिल गया है।

पाश्चात्य सभ्यता का उद्गम क्रमशः यूनान और रोम से हुआ माना जाता है, तथा उक्त सभ्यता को प्रभावित करने वाले देशों पणि और उनके द्वारा, में मिश्र मुख्य है। मिश्र में मिलने वाले स्मारकों के भारत से बाहर के देशों भग्नावशेष उसकी प्राचीन संस्कृति और उसके कई में आर्य-संस्कृति का हजार वर्ष के अविच्छिन्न चले आते इतिहास के साक्षी का प्रसार हैं। मिश्र की नील नदी के तट पर जन्मी सभ्यता यूनान की सभ्यता से बहुत पुरानी है।

इसी प्रकार पाश्चात्य सभ्यता पर गौण रूप से फिनीशियनों का भी प्रभाव माना जाता है। सम्भवतः ये क्रम से ईरान, श्याम और उत्तरी अफ्रिका के समुद्र तटों पर बसे थे। ये जहाज बनाने में और समुद्रयात्रा में कुशल थे, और मिश्र पर भी इनकी सभ्यता का प्रभाव पड़ा था।^१

इनके अतिरिक्त यहूदियों^२ और ईरानियों^३ ने भी पाश्चात्य सभ्यता को कुछ हद तक प्रभावित किया था। परन्तु भारतीयों का पूर्वकाल में बाहर वालों से विशेष सम्बन्ध नहीं था।^४

१. यूरोप की लिपियों का इन्हीं की लिपि से उत्पन्न होना माना जाता है।

२. ईसाई धर्म के प्रचारक ईसा यहूदी थे।

३. इन्होंने मिश्रियों, यहूदियों, ईराक (के अन्य प्रान्त वालों) और यूनानियों से कई बार युद्ध किये। इस प्रकार ईरान का पश्चिम से दीर्घकाल तक सम्बन्ध रहने के कारण आपस में एक दूसरे का प्रभाव पड़ता रहा।

४. गुप्त काल में भारत की सीमा का मध्य एशिया तक पहुँचना और मुगल काल में अफ़ग़ानिस्तान का भारत का अंग होना माना जाता है। महाभारत के युद्ध में केवल भारतीय नरेशों के ही नामों का उल्लेख मिलने से, युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पूर्व अर्जुन का सारी पृथ्वी विजय करना कवि कल्पना ही प्रतीत होती है। ये राजसूय या अश्वमेध यज्ञ भारत के भीतर विजय यात्रा करके ही किये जाते थे। यद्यपि ग्रीकों, शकों, हूणों (ईरानी) क्षत्रपों और चीनियों ने समय-समय पर भारत पर आक्रमण किये थे, तथापि भारत की विशालता के कारण यहाँ के नरेशों की देश के बाहर विजय-यात्रा करने की प्रवृत्ति ही नहीं हुई। इसका दूसरा कारण इनमें आपस में एकता

ईराक^१ की प्राचीनतम सभ्यता अवकाद-सुमेर की थी। श्री हॉल ने अपनी पुस्तकों में^२ लिखा है कि वहाँ (सुमेर) की मूर्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि सुमेरियन लोग दक्षिणी भारत के लोगों से मिलते हुए थे। अतः संभव है दक्षिण के उन्नत संस्कृति वाले लोग ही वहाँ जा बसे हों।

सुमेर के बाद चेल्डिया और बैबिलोनिया का प्रभाव बढ़ा। इन लोगों का भारत और विशेषकर दक्षिणी भारत से व्यापारिक सम्बन्ध था।^३ वहाँ की 'उर' की खुदाई में, छः हजार वर्ष के एक पुराने खंडहर में, भारतीय साल की लकड़ी का टुकड़ा मिला है। यह लकड़ी दक्षिणी भारत के मालाबार प्रान्त में ही होती है। उनका उत्तरी भारत से सम्बन्ध रहना, उनकी भाषा में मल-मल (एक प्रकार के सूती वस्त्र) के लिए 'सिन्धु' शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है।^४ यह वस्त्र वहीं से मंगवाया जाता होगा। वे लोग एक तोल को मना कहते थे। ऋग्वेद में भी यह शब्द^५ इसी अर्थ में आया है। उनका सबसे बड़ा देवता 'अन' था। कुछ लोग इसको 'अहिहन्' (इन्द्र) शब्द का बिगड़ा हुआ

का अभाव भी था। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारकों को बाहर के देशों में अवश्य भेजा था, और वहाँ पर उसकी ख्याति भी हुई थी।

१. यह ईरान (पर्शिया) की पश्चिमी सीमा पर स्थित है।

२. Ancient History of near East (Rigvedic India by A. C. Das

३. डॉ० साइस् (SAYCE) ने अपने हिबर्ट लैक्चर (व्याख्यान) [(१८८७), पृ० १३०-१३७] में यहूदी नरेश सुलेमान (ई. स. पू. १,०००) के जहाजों का भारत से चन्दन, हाथी दाँत, वन्दर, और मोर ले जाना कहा है। यहूदी भाषा का मोर वाची शब्द 'टुफियम्' तमीळ भाषा के मोर वाची प्राचीन शब्द (टोर्कई) से मिलता हुआ है (इससे भी पश्चिमी एशिया और दक्षिणी भारत के बीच व्यापार से संबन्ध होना सिद्ध होता है।)

४. यह कपड़ा, स्थल मार्ग से, ईरान होकर वहाँ पहुँचता तो वहाँ की भाषा के संपर्क के कारण 'सिन्धु' का 'स' 'ह' में परिवर्तित हो गया होता। परन्तु ऐसा न होने से इसका भारत से जल मार्ग के द्वारा सीधे बैबिलोनिया (बाबुल) पहुँचना सूचित होता है।

५. मं. ८, सू. ७८, ऋ २। कुछ लोग 'मना' से सुवर्ण के एक विशेष सिक्के का तात्पर्य लेते हैं।

रूप मानते हैं। वे 'अन' को 'अशुर' (असुर) भी कहते थे। 'अन' के बाद 'वल' या 'बल' का स्थान था। संभवतः यह इन्द्र से युद्ध करने वाला 'वल' असुर हो। तीसरा देवता 'अनु' (अग्नि) या 'दगनु' (दहन) था। उनके एक देवता का नाम 'बिन' भी मिलता है। ऋग्वेद के १०वें मंडल में भी 'वेन' का उल्लेख मिलता है। ये वायु के अधिष्ठाता देवता को 'मतु' या 'मत्तु' कहते थे। यह मरुत् का ही रूप हो सकता है। सूर्य को वे 'दिअनिसु' (दिनेश) कहते थे। उनके यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि—सबसे पूर्व 'अप्सु' (आपः) और 'तिअमत' (तम) दो देवता थे। वेद में भी ऐसा ही माना है।

अनेक चेल्डियन नरेशों के नाम भी भारतीय नामों से मिलते हुए हैं। यथा:—सागन, अमरपाल और असुर-वनिपाल।

उपर्युक्त, प्रदेश और उसके पड़ोस में आज से तीन हजार वर्ष से भी पूर्व मितन्नी, हिती, फ़िजियन, आदि अनेक जातियों के राज्य हो चुके हैं। अतः इनकी संस्कृति के विकास का प्रारम्भ इस समय से बहुत पूर्व ही हो गया होगा।

मितन्नियों में इन्द्र, मित्रावरुण, और नासत्यों (अश्विनों) की पूजा होती थी। उनके राजाओं के नाम—अर्ततन, अर्तसुम, सुतर्न (सुतर्ण), और दशस्त्र (दशरथ)—भी आर्यनामों के समान ही हैं। वहीं पर कासियों (काश्यों) का राज्य भी था। श्री हॉल इनकी भाषा का आर्यभाषा होना मानते हैं। ये देवताओं को 'बग अश' कहते थे। इनके सबसे बड़े उपास्य देव सूर्य थे। उनको वे 'सूर्यअश' कहते थे। यह 'अश्' प्रथमा विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय है। इसका संस्कृत रूप 'सु' या 'अस्' है।^१

फ़िजियन लोगों का मुख्य देवता 'बगै अस्' और मुख्य देवी 'अम्मा' थी। 'बग' 'भग' का और 'अम्मा' 'अम्बा' का बिगड़ा हुआ रूप है। विद्वानों का कहना है, कि इसी प्रकार मिश्र की सभ्यता में भी आर्य सभ्यता की झलक मिल जाती है।

-
१. आप शब्द का सप्तम्यन्त रूप 'अप्सु' ही होता है।
 २. जैसे—राम+सु अथवा राम+अस् से रामः।
 ३. यह वैदिक 'भग' शब्द यूरोप की अनेक भाषाओं में 'बग' बनकर प्रयुक्त हुआ है।

ऊपर जिन फ़िनिशियनों^१ का उल्लेख किया गया है, उन (प्युनिकों) की एक बस्ती, किसी समय, ईरान के दक्षिणी भाग, अरब के पूर्वी भाग या अरब के दक्षिणी सागर^२ पर थी। वहीं से ये चारों तरफ़ फैले थे। ये व्यापार करते, मनुष्यों और पशुओं को चुराकर बेचते, और डाका भी डालते थे। किसी भी प्रकार से धन संग्रह करना इनका मुख्य उद्देश्य था।

ऋग्वेद में जिन पणियों^३ का उल्लेख आया था, वे भी समुद्र यात्रा करते थे, व्यापार^४ करते थे, सूद पर रुपया^५ उधार देते थे, और आर्यों के पशु-धन को चुराते थे। किसी भी तरह धन संग्रह करना उनका प्रधान कार्य था। इनके दल व्यापार के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे। उनके इन नीच कार्यों के कारण आर्य लोग उनसे घृणा करते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर^६ पणि की निर्दयता के कारण उसे भेड़िया कहा है, और उसके नाश की प्रार्थना की गई है। दूसरे

१. फ़िनीशियनों के मुख्य देवता बल और उरेन (वरुण) थे। पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ़्रीका, और दक्षिणी यूरोप के लोग इन (फ़िनीशियनों) से डरते थे। ये समुद्रयात्रा में बड़े प्रवीण थे। इनके देवता बल की मूर्ति के हाथों के बीच अग्नि-कुण्ड रहता था। राष्ट्रीय आपत्ति के समय उसमें सैंकड़ों बालकों की आहुति दी जाती थी। इसी प्रकार युद्ध में पकड़े गये शत्रु भी जला दिये जाते थे। इनकी अन्तिम बस्ती कार्थेज में थी, जिसे कई युद्धों के बाद रोम वालों ने नष्ट कर दिया था। ये युद्ध प्युनिक-युद्ध कहे जाते हैं। भूमध्यसागर के तट पर रहने वालों ने, इन्हीं से जहाज़ चलाना और व्यापार करना सीखा, तथा ज्योतिष, गणित, और लेखन कला का ज्ञान भी प्राप्त किया था।

२. यूनानी ऐतिहासिक हेरोडोटस^५ फ़िनिशियनों का इरिथ्रियन सागर (अरब सागर) के तट के निवासी होना प्रकट करता है। यहीं से चलकर ये, सीरिया होते हुए, भूमध्य सागर के किनारे पर जा बसे थे।

३. संस्कृत में पणिक^६ का अर्थ व्यापारी, 'पण्य' का अर्थ बेचने की वस्तु, 'पण्य-वीथिका' का अर्थ छोटा बाज़ार और 'आपण' का अर्थ बड़ा बाज़ार होता है।

४. कुछ लोग पणि से पणिक् उससे वणिक् नाम की उत्पत्ति मानते हैं।

५. मं. ८, सू. ६६, ऋ. १० (इस मन्त्र में आये 'वेकनाट' शब्द का अर्थ यास्क ने सूदखोर किया है—निरुक्त, ६।२६)।

६. मं. ६, सू. ५१, ऋ. १४.

स्थान पर^१ सरस्वती द्वारा, स्वार्थी या देवों को यज्ञ भाग न देने वाले, पणियों के नाश का उल्लेख है। तीसरे स्थान^२ पर एक मन्त्र में इन्द्र से पणिका युद्ध से भागना कहा गया है। परन्तु इसी मन्त्र के उत्तरार्ध में असुर शुष्ण का उल्लेख होने से पणियों का भी इन्द्र-विरोधी होना प्रकट होता है। ऋग्वेद के एक सूक्त^३ से ज्ञात होता है कि—“जब बल के अनुयायी पणि लोग बृहस्पति की गायें चुराकर ले गये, तब इन्द्र ने सरमा नाम की देव कुक्कुरी (कुतिया) को उनका पता लगाने को भेजा। सरमाने यथास्थान पहुँच पणियों से गायें लोटाने को कहा। इस पर पणियों ने उससे पूछा कि इन्द्र कैसा है। उसके पास कितनी सेना है।” इससे प्रकट होता है कि पणि आर्यों का गोधन चुरा ले जाते थे और वे बल के अनुयायी और इन्द्र के विरोधी^४ थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर^५ पणियों को अक्रतु (अच्छे-कर्मों से वञ्चित), ग्रथिन् (बहुत बोलने वाले), मृधवाक् (मृदुवक्ता), अश्रद्ध (श्रद्धाविहीन), अवृध (स्तुतियों द्वारा देवों का संवर्धन न करने वाले), अयज्ञ (यज्ञविहीन) और दस्यु (कामों का नाश करने वाले) कहा है। परन्तु इन (पणियों) में भी कुछ भले मनुष्य होते थे। कहा गया है^६ कि पणि बृवु ने भरद्वाज ऋषि को बहुत-सा दान दिया था। इसे गङ्गा के ऊँचे तट के समान कहा है। संभव है, यह वहीं का रहने वाला हो। कुछ विद्वान् पणियों को भी आर्य मानते हैं, और इनका निवास सप्तसिन्धु के पूर्वी किनारे (पूर्वी समुद्र के किनारे) पर होना कहते हैं।

विद्वानों का अनुमान है कि इन पणियों में से कुछ सभ्य होकर आर्यों में

१. मं. ६, सू. ३१, ऋ. १; और मं. ८, सू. ६४, ऋ. २.

२. मं. ६, सू. २०, ऋ. ४.

३. मं. १०, सू. १०८. (कीदृक् इन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं द्वुती सरः पराकान् ।)

अर्थात्—हे सरमा ! जिसकी तुम द्वुती हो वह इन्द्र और उसकी सेना कैसी है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र-विमुखों को जला देने का कहा है (दहामि संयही रनिन्द्राः) ।

४. A. G. Das' Rigvedic India. p. 138.

५. मं. ७, सू. ६, ऋ. ३.

६. मं. ६, सू. ४५, ऋ. ३१-३३.

मिल गये हों, और वाद में वैश्य बन गये हों। कुछ पणियों ने समुद्र द्वारा याता-यात करने के लिए समुद्र के दक्षिणी और पश्चिमी तटों पर बस्तियाँ भी बसाई हों।^१ परन्तु समुद्र के सूख जाने से सप्तसिन्धु से इनका सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया, और इनकी आर्य संस्कृति की विकास-धारा स्वतन्त्र हो गई। राजस्थान समुद्र के दक्षिणी या पश्चिमी तट पर इनका संपर्क उन द्रविड़ों से हुआ होगा, जो पहले से ही वहाँ बसे हुए थे। इस प्रकार के संपर्क में, पणियों के अधिक सम्य होने से, द्रविणों पर इनके आचार-विचार का प्रभाव ही अधिक पड़ा होगा। परन्तु इनकी संस्कृति भी—अछूती नहीं बच सकी होगी। उसमें भी संकरता अवश्य आई होगी।

अविनाश चन्द्र दास^२, आदि विद्वान् इन पणियों और फिनीशियनों को एक मानते हैं। उनका मत है कि इन्होंने ही पश्चिमी एशिया से पश्चिमोत्तर-यूरोप तक सम्यता का प्रचार किया था। पणि (क), प्युनिक और फ़िनिक मिलते हुए नाम हैं, तथा इनका स्वभाव भी समान-सा ही है। दोनों ही जहाज़ बनाने में कुशल समुद्रयात्रा के प्रेमी, घनलोलुप, (भेड़िये के समान) निर्मम, लुटेरे और पशु चराने वाले थे। इसी प्रकार ये दोनों सम्य और बल, आदि असुरों के उपासक थे। बल की मूर्ति के सामने का नरमेघ इनमें दूसरों के संपर्क से आया होगा। परन्तु किसी समय यह आर्यों में भी होता था,^३ जो बाद में बन्द हो गया था।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है, कि—“सबसे पहले पुरुष (ईश्वर) बलि के लिए मनुष्य शरीर में गया। परन्तु वह उसको रुचिकर न हुआ। इसके बाद

१. ऋग्वेद में पणियों को भी मृद्यवाचः कहा है (मं. ७, सू. ६, ऋ. ३)। इनके व्यापार के लिए अन्य लोगों के संपर्क में आने के कारण इनका उच्चारण बदल गया हो, और इसी से ऐसा कहा गया हो।

२. श्री अविनाश चन्द्र दास का अनुमान है कि आर्यों के विरोध के कारण पणियों को सप्तसिन्धु छोड़ना पड़ा। अतः ये वहाँ से नौकाओं द्वारा आधुनिक गुजरात में आये, और यहाँ से किनारे के साथ आगे बढ़कर मालाबार तट पर पहुँचे; तथा वहाँ से बेबीलोनिया (बाबुल) और सीनिया में जा बसे। यही पणि वाद में फिनीशियन के नाम से प्रसिद्ध हुए (Rigvedic India, pp. 180-197)।

३. ऋग्वेद की शुनःशेप की कथा में इस नरमेघ का बीज अवश्य मिलता है।

क्रमशः गाय, घोड़े, भेड़—बकरी, और औषधियों में प्रविष्ट हुआ। इसमें से अन्तिम (औषधियाँ) ही उसे अच्छी लगीं।” इस प्रकार नरमेघ से फल-फूलों की बलि तक का हजारों वर्षों का इतिहास इसमें छिपा है।

अनमान होता है कि पणियों ने सप्तसिन्धु से चलकर तत्कालीन समुद्र के पश्चिमी तट पर अपनी बस्तियाँ बसाई होंगी। इसके बाद इनके उपनिवेश ईरान के दक्षिणी और अरब के पूर्वी किनारे पर बसे होंगे। ये फिनीशियन (पणि) अपने इतिहास को दस हजार वर्ष पुराना मानते हैं। इसमें अत्युक्ति होना संभव है। यदि वास्तव में ही फिनीशियन सप्तसिन्धु के पणि हों, तो इन्हें ईराक और शाम तक पहुँचने में एक लंबा समय लगा होगा। अतः समुद्रतट-वासियों में और जिनसे इनका व्यापारिक संबन्ध रहा था, उनमें इन्होंने आर्य-संस्कृति पहले से ही बहुत कुछ विकृत थी, परन्तु इनके सप्तसिन्धु से दूर होते जाने से वह और भी विकृत होती गई।

ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र से पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के शत्रुओं को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है।^१ इसी प्रकार उसमें सरस्वती नदी से भी अपने शत्रुओं का नाश करने और सब आर्यों का उपनिवेश-नदियों को अपने निकट (अपनी पहुँच में) ले आने स्थापन की प्रार्थना है।^२ उसी संहिता में राजा भुज्यु का एक द्वीप पर चढ़ाई करना, और मार्ग में जहाज के डूब जाने पर, बचकर, लौट आना प्रकट किया है।^३ इन अवतरणों से कुछ विद्वान् आर्यों का सप्तसिन्धु देश से चलकर चारों तरफ अपने उपनिवेश स्थापित करना अनुमान करते हैं। उनका मत है कि तृतीयकालीन युग के अन्तिम समय (और अन्तिम हिमयुग के पूर्व) आर्य लोग हिन्दूकुश पर्वत के मार्ग से मध्य एशिया (जम्बु द्वीप) के विस्तृत उच्च-समतल भू-भाग में पहुँचे, और बाद में वहाँ से आगे बढ़कर उत्तरी ध्रुव प्रदेश पर इन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। इसी प्रकार ईरान के आर्य भी वहाँ (उत्तरी ध्रुव प्रदेश) पर

१. मं. १०, सू. १३१, ऋ. १.

२. मं. ६, सू. ६१, ऋ. ९.

३. मं. १, सू. ११२, ऋ. ६.

४. कुछ विद्वान् आर्यों के आदि निवास स्थान का रसा, अनतिभा, कुभा (काबुल नदी), सिन्धु और सरयू के बीच के देश में होना मानते हैं (मं. ५, सू. ५३। ऋ. ९)।

जा बसे थे ।¹ उस समय वहां का वातावरण मनुष्य के निवासयोग्य, और समशीतोष्ण था । वहाँ पर लम्बी उषायें² और लम्बे रात³-दिन⁴ होते थे । इसी से ऋग्वेद में (ध्रुव प्रदेश पर की) अन्तर्हित उषा⁵ का लंबी उषा पर आश्चर्य प्रदर्शन⁶ का, लंबे दिन⁷ और लंबी रातों का,⁸ लंबी रातों के आसानी से कटने की प्रार्थना का,⁹ तथा 'विषरूपे',¹⁰ 'नानावपूषि',¹¹ 'पुरुषरूपावपूषि',¹² आदि शब्दों के प्रयोगों द्वारा अक्षांश के अनुसार घटने-बढ़ने वाले दिन-रात की सूचना¹³ का, संकेत मिलता है और 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' कहकर इस पर आश्चर्य प्रकट किया है ।

अथर्ववेद में भी इस लम्बी रात का उल्लेख है¹⁴ और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन कहा है ।¹⁵

पारसियों के वेन्दिदाद (४०) में भी नक्षत्र, चन्द्र और सूर्य का वर्ष में एक बार उदय होना (दिखाई देना) और एक दिन का वर्ष समझा जाना लिखा

१. पारसियों की अवेस्ता के वेन्दिदाद प्रकरण में यीमा का अपने अनुयायियों सहित उत्तर ध्रुव की तरफ जाना लिखा है ।

२. मं. ३, सू. ५५, ऋ. १ । तैत्तिरीयसंहिता में भी लगातार लंबी उषा का उल्लेख मिलता है (प्र. ३, अ. ११, २) ।

३. मं. २, सू. २७, ऋ. ९४.

४. मं. ५, सू. ५४, ऋ. ५.

५. नं. १, सू. ११३, ऋ. १३.

६. मं. १, सू. ११३, ऋ. १०.

७. मं. ३, सू. ५५, ऋ. ६; मं. १०, सू. १३८, ऋ. ३.

८. मं. २, सू. २७, ऋ. १४.

९. मं. १०, सू. १२७, ऋ. ६.

१०. मं. ६, सू. ५८, ऋ. १.

११. मं. ३, सू. ५५, ऋ. ११.

१२. सं. ६, सू. ५५, ऋ. १४.

१३. सं. ३, सू. ५८, ऋ. १; और मं. ३, सू. ५५, ऋ. ११.

१४. मं. ३, सू. ५५.

१५. अथर्व वेद १९, ४७, २.

१६. तैत्ति. ब्रा. ३, ९, २२, १.

है।^१ इसी प्रकार उनके धर्मग्रन्थ में वर्ष में १० महीने की सर्दी और २ महीने की गर्मी का भी उल्लेख मिलता है।^२

परन्तु अन्तिम हिम युग^३ (हिम-प्रलय) के प्रारम्भ में उत्तरी ध्रुव प्रदेश पर शीत के बढ़ जाने से बहुत से भारतीय आर्य उत्तरगिरि (हिमालय) की तरफ से सप्तसिन्धु में लौट आये, और ईरानी आर्य ईरान की तरफ चले गये। परन्तु कुछ आर्य इधर-उधर फैलकर दूसरे निवासयोग्य देशों (यूरोप, आदि) में जा बसे।

पारसियों के वेन्दिदाद में अहुरमज़द का यिम—विवन्धत् (यम-विवस्वत्) से शीतजन्म विपत्तियों के आने की भविष्यवाणी करना कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में हिम-प्रलय के स्थान पर जल-प्रलय का उल्लेख है।^४ यह सम्भवतः राजपूताना समुद्र तल के ऊपर उठने या हिम के गलने से हुआ होगा। पुराणों में मत्स्य (अवतार) द्वारा वैवस्वत मनु के प्रलय के विषय का भविष्य-कथन करना कहा है। शतपथ ब्राह्मण ने मत्स्य का मनु को नौका द्वारा उत्तर गिरि (हिमालय) की ओर ले जाकर उसकी रक्षा करना लिखा है।^५ वेन्दिदाद में एर्यन-वेइजो में हिम-प्रलय के समय यिम का एक बाड़ा बनाकर सब वस्तुओं के बीजों की रक्षा करना लिखा है।

यूनान (ग्रीस) के इतिहास में भी जल-प्रलय की एक कथा है। अपोलो-डोटस लिखता है कि—जिअस ने लिकाओन के ५० पुत्रों के पास से क्रुद्ध होकर अविरल वृष्टि द्वारा यूनान को जल मग्न कर दिया। केवल वहाँ के

१. वेन्दिदाद (४१) (२)। Dr. Hang's Parsee Religion. (1862) p. 205.

२. (१-४)। Dr. Hang's Parsee Religion, (1862), p. 210.

३. सर चार्ल्स लायल हिम-युग की समाप्ति का ३१,००० वर्ष पूर्व होना मानते हैं। डाक्टर काल २४०,००० वर्ष पूर्व हिम-युग का प्रारम्भ, और ८०,००० वर्ष पूर्व समाप्ति अनुमान करते हैं। परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है।

४. Dr. Hang's Parsee Religion, (1862), p. 204.

५. शत. ब्रा. १, ६, ३, ८ (१-६)। विद्वान् लोग इसका रचना-काल ईसा से २,५०० वर्ष पूर्व अनुमान करते हैं।

६. १, ८, १। (जहाँ पर मनु की नाव ठहरी थी, उसे 'मनोरवसर्पण' (मनु के उतरने का स्थान) कहते हैं। यहीं पर मनु का विवाह श्रद्धा से हुआ था। ऋग्वेद में भी हिमालय का उल्लेख है (मं. १०, सू. १२१, ऋ. ४)।

उच्चतम पर्वत श्रृङ्ग ही डूबने से बच रहे। ड्यूकालिअन एक बड़ी नाव में बैठकर बच सका; क्योंकि उसके पिता प्रोमिथिअस ने उसे पहले ही सावधान कर दिया था। वह नौ दिन तक पानी पर रहकर अन्त में परनासस पर्वत पर उतरा।^१

मिश्र, बैबिलोनिया और उत्तर अमेरिका में भी ऐसी कथाएँ प्रचलित हैं। पश्चिमी एशिया और (रूपान्तर से) उत्तरी ऐफ्रिका में प्रचलित कथा बाइबल में मिलती है। उसमें लिखा है:—हज़रत नूह ने ईश्वर की आज्ञा से एक जहाज़ बनवाकर उसमें सभी प्राणियों का एक-एक जोड़ा रक्खा। इसके बाद ४० दिन-रात लगातार वृष्टि हुई। इससे सब चीज़ें डूब गईं। केवल नूह का जहाज़ बचा। वृष्टि की समाप्ति पर वह अरारत पहाड़ की चोटी पर रुका, और उसमें के जोड़ों से फिर सृष्टि उत्पन्न हुई।

ये घटनाएँ भूकम्प, आदि से दक्षिणी समुद्र के सूखने के समय हुई होंगी, और यह जल, कहीं वृष्टि के रूप में और कहीं हिम के रूप में, गिरा होगा।

श्री कुक टेलर मिस्त्रियों की सम्यता को हिन्दुओं की देन मानते हैं।^२ श्री पोकाक ने यूनान में भारतीय-औपनिवेशिक सम्यता का होना माना है।^३ इसी प्रकार उन्होंने आर्यों के उपनिवेशों का एशिया, यूरोप, ऐफ्रिका, और अमेरिका में होना भी सिद्ध किया है।^४

श्री मैक्समूलर ईरे (आयरलैण्ड) को संस्कृत के अवर (पिछले-पश्चिमी) शब्द का रूपान्तर मानकर, उस देश का आर्यों से संबन्ध होना अनुमान करते हैं।^५

श्री कोलमैन अमेरिका में हिन्दू-सम्यता चिन्हों का प्राप्त होना बतलाते हैं।^६

१. Grob's History of Greece, vol. I, Ch. VI.

२. Nations of Antiquity, 11-12.

३. India in Greece, (1856), pp. 12-19.

४. India in Greece, (1856), p. 410.

५. Science of Language, vol. I, p. 275.

६. Hindu mythology, p. 350.

श्री हार्डी मध्य अमेरिका की पुरानी इमारतों में भारतीय स्तूपों का अनुकरण होना मानते हैं। श्री स्क्वार मध्य अमेरिका के मन्दिरों में बौद्ध मन्दिरों का सादृश्य बतलाते हैं। डाक्टर-जरफी अमेरिका में भारतीय कलावस्तु

का पाया जाना प्रकट करते हैं। बैरन हथ बोल्ट मैक्सिको में गणेशपूजा का प्रचार रहना अनुमान करते हैं। सर विलियम जोन्स लिखते हैं कि पेरू निवासी राम को सूर्यवंशी और सीता का पति मानते हैं और अपने एक त्यौहार को 'रामसित्त्व' कहते हैं (*Asiatic Researches*, I, p. 426)।

श्री ऐलैक्स डेलमार का कथन है कि मिसिसिपी और उसकी तराई में जो मट्टी की बड़ी-बड़ी इमारतें और टीले फैले हुए हैं, वे हिन्दुओं के बनाये हुए मालूम होते हैं, तथा ब्राह्मणों के प्रभाव और उनकी उन्नतावस्था के बोधक हैं। ईसा से १,३०० वर्ष पूर्व के ब्राह्मण सभ्यता के ये चिन्ह केवल मैक्सिको में ही नहीं, प्रत्युत मध्य और दक्षिणी अमेरिक में भी पाये जाते हैं (*Hindu discovery of America*, p. 706)। इनके बनाने वाले चाहे तूरानी हों चाहे अन्य हों, परन्तु उनकी कला और धार्मिक विचार अवश्य ही भारतीय थे। वहाँ के एक घुस में वहाँ के एक कछुवे के खोल पर खुदी (पलथी के आसन वाली) कृष्ण की या बुद्ध की एक मूर्ति मिली है। यह भारतीय कारीगर के हाथ की खुदी प्रतीत होती है। इसके साथ स्वास्तिक का चिन्ह भी मिला है। यह अमेरिका के ढंग से भिन्न ढंग का है।

रामायण में श्री रामचन्द्र की (वा. रा. ४,९० और ६, १०८), तथा महाभारत में अर्जुन की (म. भा. १४, ७४ से ७९ और ८३ से ८५), अन्य राज्यों की विजयों का उल्लेख मिलता है। मनु ने अपनी स्मृति में विजित देशों की व्यवस्था की विधि बतलाई है (अ. ७, श्लो. २०१-२०४)।

यह दिग्विजय और उपनिवेश-स्थापन की प्राचीन प्रथा बहुत काल तक चलती रही। मौर्य गुप्त के समय काबुल, कन्धार, हिरात, गोडेसिया, आर्चसिया और परोपनिसदाई उसी के शासन में थे (*V. A. Smith's Early History of India*, (1908), p. 142.)।

भारतीय द्वीप-पुञ्ज और सुदूर फ़िलिपाइन के टापुओं में भी भारतीय उपनिवेश रहने के, और ब्राह्मण सभ्यता के प्रसार के चिन्ह मिलते हैं (*Times of India*, 1st. October 1892.)।

इसी प्रकार सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, कम्बोदिया, और स्याम में भी बौद्धों के पूर्व की ब्राह्मण-सभ्यता के, और भारतीय उपनिवेश रहने के चिन्हवि द्यमान हैं। उस समय वहाँ की राज-भाषा भी संस्कृत थी। शिव और विष्णु की पूजा होती थी। [तीन ऐतिहासिक इण्डीज थे—हिंद, सिंध और जंग (जंजिबार)]। उत्तर में फारस की खाड़ी और लालसागर के किनारे तक, तथा पश्चिम और

निरुक्तकार

यास्क—इन्होंने अपने 'निरुक्त' में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों की व्याख्या की है।
 इन्होंने जिस 'निघण्टु'^१ (वैदिक शब्द कोष) पर अपना
 ऋग्वेद और उसके 'निरुक्त' (भाष्य) लिखा है, उसे अधिकांश विद्वान्
 ब्राह्मण तथा आरण्यक कश्यप कृत मानते हैं, परन्तु कुछ उसे स्वयं यास्क-
 पर भाष्य। रचित समझते हैं। निरुक्त के विषय में कहा गया
 है :—“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरी वर्ण-
 विकारनाशौ। घातोस्तदर्थान्तिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥”
 ये पाँचों बातें व्याकरण से संबन्ध रखती हैं। अतः यास्क ने स्वयं कहा है :—
 ‘तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्तन्यम्।’ अर्थात्—यह व्याकरण विद्या
 का पूर्ण स्थान है।

दक्षिण में ऐफ्रिका के समुद्री किनारे जंजीबार द्वीप तक भारतीय उपनिवेशों के
 चिन्ह पाए जाते हैं। पश्चिमी घाट की पहाड़ियों पर के वनों में जंजीबार
 (ऐफ्रिका) के समुद्री किनारे के वृक्षों के समान वृक्ष मिलते हैं (Bombay
 Gazette 3rd. October 1892.) ।

ईसा से पूर्व ६४० और ६०० वर्षों के बीच भारतीयों का आरमीनिया
 विजय करना अनुमान किया जाता है। (Encyclopedea Britanica, vol.
 XXV, p. 639.) ।

फ्रांसीसी अध्यापक टेरियन डी. ला. कोपरी ने लिखा है कि भारतीय
 महासागर के व्यापारियों ने अरब सागर के व्यापारियों को अपने नेतृत्व में
 लेकर चीन से व्यापार प्रारम्भ किया था, और ईसवी सन् से ६३१ वर्ष पूर्व
 इनमें के कूतलू नामक व्यक्ति का चीन-नरेश की राज-सभा में स्वागत किया
 गया था (Western Origin of the early Chinese Civilization,
 p. 89.) । भारतीयों का सुदूर पूर्व में का वहाँ का उपनिवेश व्यापार की एक
 मण्डी बन गया था। भारतीयों ने उसका नाम लंका रखा था। जो कालान्तर
 में बिगड़कर लंगया हो गया। वहाँ आओ चाओ खाड़ी के उत्तर में एक स्थान
 पर इन्होंने (भारतीयों ने) व्यापार की सुविधा के लिए, एक टकसाल भी खोला
 था। वह स्थान उस समय ‘दूसी मीह्यासी मोह’ कहाता था। यह उपनिवेश
 ईसवी सन् से ६८० वर्ष पूर्व स्थापित किया गया था (Western Origin
 of the early Chinese Civilization, pp. 237-240.)

१. इस निघण्टु पर देवराज यज्वा की एक टीका भी है।

निरुक्त पर बर्बर स्वामी, दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर और वररुचि ने^१ टीकाएँ लिखी हैं।

ऋग्वेद के पद-पाठकारों के दो पदपाठ मिलते हैं। एक रावणकृत और दूसरा शाकल्य रचित। इनमें कहीं-कहीं मतभेद भी मिलता है। जैसे 'कुहकस्य'^२ को रावण ने एक पद माना है और शाकल्य ने इसके 'कुह' तथा 'कस्य' दो पद बतलाये हैं।

भाष्यकार

देवस्वामी—कहा जाता है कि विक्रम काल के पूर्व ही इन्होंने ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था।^३

स्कन्दस्वामी—इन्होंने विक्रम संवत् ६८७ में वलभी में ऋग्वेद पर अपना भाष्य समाप्त किया था। यह खण्डित रूप में मिलता है।^४ वेङ्कट माधव के मतानुसार इन्हें इस कार्य में नारायण और उद्गीथ ने भी सहायता दी थी।

नारायण—वेङ्कट माधव के मतानुसार ये स्कन्दस्वामी के सहकारी कहे जाते हैं। इनका ऋग्वेद का भाष्य पञ्चम और सप्तम अष्टक के कुछ भागों पर ही मिला है।^५

उद्गीथ—ये भी स्कन्दस्वामी के सहकारी और वलभी के निवासी थे। इनका लिखा भाष्य ऋग्वेद के दशम मण्डल के कुछ अंशों पर ही मिला है। उपर्युक्त तीनों भाष्य यज्ञपरक हैं।

हस्तामलक—ये शङ्कराचार्य के शिष्य थे। इनका ऋग्वेद भाष्य विक्रम संवत् ७५७ में समाप्त हुआ था। यह अप्रकाशित है।

वेङ्कट माधव—इन्होंने अपनी 'ऋगर्थ दीपिका' विक्रम की ११वीं शताब्दी में

१. यह वार्तिककार वररुचि से भिन्न था।

२. मं. १०, सू. १२९, ऋ. १.

३. यह बात महाभारत के टीकाकार विमलबोध के लेख से सूचित होती है। ऋग्वेद के आश्वलायन गृह्यसूत्र और आश्वलायन श्रौतसूत्र पर लिखे देव स्वामी के भाष्य भी मिले हैं।

४. संभव है यह भाष्य पाँचवे अष्टक तक ही लिखा गया हो।

५. इन्होंने आश्वलायन श्रौतसूत्रपर भी वृत्ति लिखी थी। सामवेद-विवरणकार माधव इन्हीं के पुत्र कहे जाते हैं।

लिखी थी। यह टीका के रूप में है। ये चोल देश निवासी थे। कुछ लोग इनके लिखे दो भाष्य होना मानते हैं। यह दीपिका भी याज्ञिक है।

लक्ष्मण—कहते हैं कि इन्होंने भी, विक्रम की १२वीं शताब्दी में, वेद-भूषण नाम का भाष्य लिखा था।

घनुष्क यज्वा—इनका भी १३वीं शताब्दी में वेदभाष्य लिखना माना जाता है।^१

आनन्द तीर्थ—इनका समय वि. स. १२५५ से १३३५ तक माना जाता है। इन्होंने ऋग्वेद के पहले ४० सूक्तों पर भाष्य लिखा था। यह मध्व-संप्रदाय (द्वैत सिद्धान्त) के अनुयायी थे। अतः इनका भाष्य भगवत्परक है।

आत्मानन्द—इन्होंने, विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त (अस्यवामीय सूक्त) पर भाष्य लिखा था। यह अध्यात्मपरक है।

सायण—ये मायण के पुत्र और माघव के छोटे भाई थे, तथा विजय नगर के राजा बुक्क प्रथम, कम्पण, संगम द्वितीय, और हरिहर द्वितीय के मंत्री रहे थे। इनका समय विक्रम की चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दी था। इनका ऋग्वेद का भाष्य बहुत प्रसिद्ध है। यह भी यज्ञपरक (आधिदैविक) है। यह सायण के बड़े भाई के नाम पर 'माघवीय' भी कहाता है।^२ सायण की मृत्यु ७२ वर्ष की अवस्था में हुई थी।^३ कहा जाता है कि इनकी वेदभाष्यों की रचना में नरहरि सोमयाजी, नारायण, वायपेययाजी तथा पण्डरी दीक्षित, आदि विद्वानों ने सहयोग दिया था।

१. कहा जाता है कि इन्होंने वेदत्रयी पर भाष्य लिखे थे; परन्तु अभी तक इनमें से एक भी नहीं मिला है।

२. इन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, शुक्ल यजुर्वेद की कण्व संहिता, शतपथ ब्राह्मण, सामवेद की कौथुम संहिता और अथर्ववेद की शौनक संहिता, गोपथ ब्राह्मण, सामवेद के आठ ब्राह्मणों, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, साम प्रातिशाख्य आदि पर भी भाष्य लिखे थे। इनके रचे अन्य ६ ग्रन्थ ये हैं :—सुभाषितसुधानिधि, प्रायश्चित्त-सुधानिधि, अलङ्कार सुधानिधि, पुरुषार्थ सुधानिधि, यज्ञमन्त्र सुधानिधि, तथा घातुवृत्ति।

३. इनका जन्म वि. सं. १३७२ और मृत्यु वि. सं. १४४४ में होना कहा जाता है। इन्होंने वि. सं. १४०७ से १४३६ तक अपने भाष्य लिखे थे।

मुद्गल—ये विक्रम की १५वीं शताब्दी में हुए थे। इनका ऋग्वेद के प्रथमाष्टक का पूरा और चतुर्थाष्टक के पाँच अध्यायों का भाष्य मिलता है। यह सायणभाष्य का ही संक्षिप्त रूप है।

चतुर्वेद स्वामी—इन्होंने विक्रम की १६वीं शताब्दी में ऋग्वेद के कुछ भाग पर भाष्य लिखा था। ये श्री कृष्ण-भक्त थे। अतः इन्होंने ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११३वें सूक्त के चौथे मन्त्र (जज्ञान एव व्यवघत स्पृवः प्रापश्चद्वीरो अभिपीस्यं रणम् । अवृश्चदद्रिमवसस्यदः सृजदस्तम्नान्नाकं स्वपस्ययां पृथुम् ॥) से ही श्री कृष्ण द्वारा पूतना तथा कंस का मारा जाना, गोवर्धनधारण तथा कौरव-पाण्डव-युद्ध आदि का भाव प्रकट किया है।

स्वामी दयानन्द—इन्होंने वि. सं. १९३३ और १९४० के बीच ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था, जो ऋग्वेद के ७वें मण्डल के दूसरे सूक्त के दूसरे मन्त्र तक ही लिखा जा सका। इसके बाद स्वामी जी का स्वर्गवास हो गया। इनके भाष्य में एकेश्वरवाद की ही स्थापना की गई है। इन्होंने अग्नि, आदि देवनामों से परमात्मा का ही तात्पर्य सिद्ध किया है। ये वैदिक शब्दों को रूढ़ न मानकर यौगिक और योगरूढ़ ही मानते थे।

रावण—कहते हैं कि इन्होंने भी ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था,^१ जो आध्यात्मिक था। यह कौनसा रावण था, यह कहना कठिन है। श्री हाल ने इसका कुछ प्राप्त अंश भी प्रकाशित किया है।

वैदिक काल में किसी खास संवत् के प्रचलित होने का पता नहीं चलता। केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय के आर्य वसंत-संपात या शरत् संपात से वर्ष का प्रारम्भ मानते थे। परन्तु प्रत्येक यज्ञ-विधान के लिए एक विशिष्ट समय की आवश्यकता होती थी। अतः उनके लिए पञ्चाङ्ग^२

१. कहा जाता है कि रावण ने यजुर्वेद पर भी भाष्य लिखा था, जो अप्राप्त है। रावण का लिखा ऋग्वेद के ७वें अष्टक का पद-पाठ भी मिलता है।

२. ऋग्वेद से संबन्ध रखने वाली 'आर्च ज्योतिष' नाम की पुस्तक में ३६ श्लोक हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाली 'याजुष ज्योतिष' में ४३ श्लोक हैं। इन दोनों में के बहुत से श्लोक एक-से हैं। उस युग की बहुत सी बातों के अज्ञात होने के कारण इन पुस्तकों में मिलने वाले कुछ श्लोकों का आशय समझना बड़ा कठिन कार्य है। अनेक विद्वानों ने इन पर टीकायें लिखकर इनके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। आर्चज्योतिष के द्वितीय श्लोक में 'वेदाङ्ग ज्योतिष' के कर्त्ता का नाम 'लगध' दिया है।

तैयार करना अत्यावश्यक था। कुछ यज्ञों का सम्बन्ध प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल^१ से, कुछ का तिथि या नक्षत्र से,^२ कुछ का पक्ष^३ या मास से, कुछ का ऋतु^४ या अयन^५ से और कुछ का संवत्सर से^६ था। सांवत्सर सत्रों की समाप्ति के साथ ही वर्ष भी समाप्त हो जाता था। इन्हीं सांवत्सरिक सत्रों से उस समय के पञ्चाङ्ग का क्रम बनाये रखने में सहायता मिलती थी। इसी से संहिताओं^७ और ब्राह्मणों^८ में यज्ञ और संवत्सर शब्दों को पर्यायवाची के समान माना है। यज्ञ कराने वाला 'ऋत्विज्' कहा जाता है। यह शब्द ऋतु और 'यज्' के संयोग से बना है। इससे भी ऋतु और यज्ञ का संबन्ध रहना सूचित होता है। इसी प्रकार वर्ष के पर्यायवाची संवत्सर की व्युत्पत्ति भी—"संवसन्ति ऋतवो यस्मिन् सः संवत्सरः" (अर्थात्—जिसमें ऋतुएँ रहती हैं, वह संवत्सर होता है)—की जाती है। इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इन बातों से सूचित होता है कि उस समय ऋत्विक् लोग ही पञ्चाङ्ग तैयार किया करते थे।

अपने इसी पञ्चाङ्ग के लिए उन्होंने यज्ञवाची 'सवन' शब्द से एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के पूर्व तक के समय के लिए (अर्थात् २४ घण्टों के दिन रात के लिए) सावन शब्द का प्रयोग किया था। वे ऐसे ३० दिनों का एक मास और ऐसे ३६० दिनों का या ऐसे १२ मासों का एक वर्ष मानते थे। परन्तु वर्ष के महीनों के नामों पर विचार करने से, और आयों के यज्ञों का

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।१।२).

२. फाल्गुनी पूर्णमासी में दीक्षा का लेना (ताण्ड्य ब्राह्मण, ५।९।१७).

३. दर्श (अमावस्या का) और पार्ष्णमास (पूर्णिमा का) याग।

४. ब्राह्मण वसन्त में, क्षत्रिय ग्रीष्म में, और वैश्य शरद् ऋतु में अग्नि स्थापित करें—(तैत्तिरीय ब्राह्मण १—१)। ऋतुओं का कहीं (हेमन्त और शिशिर को एक मानकर) पांच होना और कहीं छः होना कहा है (मं. १, सू. १६४, ऋ. १२)।

५. उत्तरायण और दक्षिणायन।

६. Orion or the Antiquities of Vedas, Chap. II.

७. तैत्तिरीय संहिता—"यज्ञौ वै प्रजापतिः" (२।४।७।३); "संवत्सरः प्रजापतिः" (४।२।१०।३)।

८. ऐतरेय ब्राह्मण—"संवत्सरः प्रजापतिः।" "प्रजापतिर्यज्ञः।" (२।१७).

संबन्ध पूर्णचन्द्र या नवीन चन्द्र से रहने से, अनुमान होता है कि उस समय चान्द्रमास का ही प्रचलन था ।^१ उनके यहाँ मासों की व्यवस्था चन्द्रमा पर निर्भर थी ।^२

चन्द्रमा को पृथ्वी की परिक्रमा करने में $29\frac{1}{2}$ दिन लगते हैं । इसी से चन्द्रमा की इस गति की गणना के लिए आकश मण्डल को २७ भागों में बाँट कर उसमें २७ नक्षत्रों के स्थान निर्धारित किये गये थे । एक नक्षत्र १३ अंश और २० कला का होता है । इसलिए चन्द्रमा के पूरी नक्षत्र माला के चक्कर में लगने वाले समय को नाक्षत्र मास कहते हैं ।^३

परन्तु साधारण मनुष्य एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा तक, या एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक एक मास मानते हैं । इसमें $29\frac{1}{2}$ दिन लगते हैं और इसे चान्द्रमास कहते हैं । इस हिसाब से ऐसे चान्द्रवर्ष के $(29\frac{1}{2} \times 12)$ ३५४ दिन होते हैं । परन्तु साधारण पुरुषों के लिए आधे दिन का सूक्ष्म ज्ञान रखना कठिन होने के कारण ३० दिन का चान्द्रमास और (30×12) ३६० दिन का चान्द्रवर्ष माना जाने लगा था । ऋग्वेद^४ में आलङ्कारिक रूप से वर्ष के ७२० पुत्रों और पुत्रियों (३६० दिनों और ३६० रातों), तथा बारह मासों

१. ऋग्वेद, मं. १०, सू. ८५, ऋ. ५.

२. मं. १०, सू. ८५, ऋ. १८.

३. मं. १०, सू. ८५, ऋ. १३ । अभिजित् को २८ वां नक्षत्र कहा जाता है, और उसका प्रत्येक दिन के मध्याह्न में रहना माना जाता है । वैसे इसका स्थान उत्तराषाढा और श्रवण के बीच मिलता है । उस समय क्रान्ति वृत्त के (१३ अंश २० कला के) बराबर-बराबर के २७ विभाग किये गए थे, या वहाँ के मुख्य-मुख्य तारों के आधार पर ये विभाग किए गये थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । परन्तु हजारों वर्षों के समय की गणना में इससे विशेष अन्तर नहीं होता । यदि इसमें पांच अंश का अन्तर रह भी जाय तो भी केवल ३६० वर्ष का अन्तर ही आता है ।

४. यह नाक्षत्र मास सूर्य के वार्षिक चक्कर को जानने में भी काम आता था ।

५. तीस सूर्योदय का एक 'सावन' मास होता है ।

६. तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मणों में भी ३० दिन का चान्द्र मास मिलता है ।

७. मं. १, सू. १६४, ऋ. ११.

का उल्लेख है।^१ अतः उस समय भी ३० दिन का मास, और ३६० दिनों का वर्ष माना जाता था। परन्तु चन्द्रमास और ३० सावन दिन के मास में अन्तर रहता है। अतः इसको बराबर करने के लिए वे लोग समय-समय पर एक सावन दिन छोड़कर इस अन्तर को दूर कर देते थे।^२

परन्तु वास्तव में पृथ्वी को सूर्य की परिक्रमा करने में $365\frac{1}{4}$ दिन लगते हैं। उस समय तक राशि-विभाग^३ न होने से सौर मास अज्ञात था। ऋतुओं का संबन्ध पृथ्वी की गति से है। अतः चान्द्र और सौर वर्ष में अन्तर रहने से हमारे पर्व भिन्न-भिन्न ऋतुओं में होने लगते और ऋतुओं के साथ का आयों के सत्रों का यज्ञों का संबन्ध भी टूट जाता। उनके पाक्षिक, मासिक, और वार्षिक यज्ञों की भी यही दशा होती। परन्तु उन्होंने चान्द्र और सौर वर्ष का अन्तर जान लिया था। अतः वे अधिक मास द्वारा इन दोनों प्रकार के वर्षों का सामञ्जस्य कर लेते थे;^४ या चान्द्र वर्ष में प्रति वर्ष १२ दिन जोड़कर दोनों का अन्तर मिटा देते थे। इन १२ दिनों का उल्लेख ऋग्वेद,^५ वाजसनेयी संहिता^६ और तैत्तिरीय संहिता^७ में मिलता है। शास्त्रों के अनुसार वार्षिक यज्ञ करने की कामना वाला इन १२ दिनों में प्रारम्भिक कार्य किया करता था।

१. मं. १, सू. १६४, ऋ. ११.

२. तैत्तिरीय संहिता में लिखा है :—“उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति भीमांसते ब्रह्मवादिनः” [अर्थात्—ब्रह्मवादी (एक दिन) छोड़ूँ या नहीं छोड़ूँ ऐसा विचार करते हैं।] (७।५।७।१)। इस प्रकार वे ३६० सावन दिनों को ३६० तिथियों में परिवर्तित कर ३५४ दिनों का चान्द्र वर्ष बना लेते थे।

३. सूर्य की गति की गणना से लिए पीछे से आकाश को १२ भागों में विभक्त कर, उनमें १२ राशियाँ स्थापित की गईं। सूर्य के एक राशि से चलकर दूसरी राशि में पहुँचने में लगने वाले समय को सौर मास कहते हैं।

४. मं. १, सू. २५, ऋ. ८.

५. आजकल अधिक मास प्रति तीसरे वर्ष (२ वर्ष ८ महीने बाद) मिलाया जाता है।

६. “वेदमासो घृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदाय उपजायते” (मं. १, सू. २५, ऋ. ८) और “द्वादशद्यून्नगोहस्यातिथ्ये रणनृभवः ससंतः।” (मं. ४, सू. ३३, ऋ. ७)।

७. ७।३०।

८. १।४।१४।

चान्द्र वर्ष के ३५४ दिनों में ये १२ दिन मिलाकर ३६६ दिन का सौर वर्ष कर लिया जाता था ।

आजकल चान्द्र और सौर वर्ष का अन्तर १० दिन का मानकर प्रति तीसरे वर्ष एक अधिक मास मिलाया जाता है और इस तरह ३५४ दिन के चान्द्र वर्ष और ३६५ $\frac{1}{4}$ दिन के सौर वर्ष का सामञ्जस्य किया जाता है ।

इसके अतिरिक्त संभवतः पहले 'विषुव' की गति का ज्ञान न रहने से सौर वर्ष अयन (संपात) से संबद्ध न होकर, नक्षत्र से ही संबद्ध था । अर्थात्—जब सूर्य किसी निश्चित तारे के पास से चलकर फिर उसी स्थान पर लौटकर आता था, तब वर्ष का समाप्त होना माना जाता था । परन्तु अयन (सांपातिक) और नाक्षत्र सौर वर्ष में २०.४ मिनट का अन्तर रहता है और यही अन्तर ऋतुओं को लगभग २००० वर्ष में १ चान्द्रमास पीछे हटा देता है । जिस समय पहले-पहल यह अन्तर ज्ञात हुआ होगा, इस समय वास्तव में ही बड़ा आश्चर्य हुआ होगा ।^१ परन्तु एक-दो बार इसके समीकरण की आवश्यकता होने पर 'विषुव' की गति का रहस्य अपने आप प्रगट हो गया होगा ।

पहले लिखा जा चुका है कि यज्ञ और संवत्सर शब्द पर्यायवाची के समान समझे जाते थे । अतः यज्ञ और संवत्सर का प्रारंभ एक साथ ही होता होगा । वेदाङ्ग ज्योतिष के अनुसार यज्ञ का आरम्भ उत्तरायण में होता था । श्रौत्र-सूत्रों में भी 'गवामयन' आदि वार्षिक यज्ञों का प्रारम्भ उसी समय से माना है । इसी प्रकार महर्षि जैमिनी^२ ने भी समस्त देवकार्यों का समय उत्तरायण में ही कहा है । यही प्रथा आज भी प्रचलित है ।

भास्कराचार्य^३ के समय सूर्य के मकर राशि से कर्क राशि तक (अर्थात्—

१. गर्ग संहिता में लिखा है :—“यदा निवर्ततेऽप्राप्तः श्रविष्ठा मुत्तरायणे ।
आश्लेषां दक्षिणेऽप्राप्त स्तदा-विद्यान्महाभयम् ॥ (भट्टोत्पल द्वारा बृहत्संहिता
३।१ पर उद्धृत) ।

२. श्लोक ५.

३. आश्वलायन श्रौत सूत्र १।२।१४।१ ।

४. मीमांसादर्शन ६।८।५ ।

५. यद्यपि स्वयं भास्कराचार्य को भी मकर से कर्क संक्रमण तक के समय को उत्तरायण मानने वाले मत की वास्तविकता पर सन्देह हुआ था, तथापि वैदिक कालीन प्रथा के अज्ञात रहने के कारण उसने “तत्फलकीर्तनाय

सूर्य के दक्षिणतम बिन्दु से चलकर उत्तरतम बिन्दु पर पहुँचने तक) के अयन काल (winter to summer solstice) को उत्तरायण, और कर्क राशि से मकर राशि तक (अर्थात्-सूर्य के उत्तरतम बिन्दु से चलकर दक्षिणतम बिन्दु पर पहुँचने तक) के अयनकाल (summer to winter solstice) को दक्षिणायन मानने लगे थे। इससे सत्र और संवत्सर का प्रारम्भ इसी समय से होना प्रकट होता है। परन्तु ब्राह्मणों में स्पष्टतया कहा गया है कि जिस प्रकार 'विषुव' दिवस (अर्थात्-वह दिवस जिस रोज रात और दिन बराबर होते हैं) वर्ष के दो समान भाग करता है। अतः यदि पूर्व कथनानुसार यज्ञारम्भ मकर संक्रमण से माना जाय तो 'विषुव' दिवस वास्तविक विषुवीय (equinoctial)

दिनोन्मुखेऽर्द्धे दिनमेव तन्मतम्।" (अर्थात्-उसका फल बताने के लिए सूर्य के उदय की ओर बढ़ने पर उसे दिन ही मानते हैं) कहकर सन्तोष कर लिया था। (सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय, ७।११-१२)। सूर्य सिद्धान्त (१२।६७) में लिखा है कि मेष पर स्थित देवता वहाँ पर (वर्ष में) एक बार उदय होने वाले सूर्य के मेष राशि से प्रारम्भ होने वाले अमण में आधी दूर तक उसे (सूर्य को) देखते हैं, और तुला से असुर देखते हैं। आगे (१४।९ पर) लिखा है कि सूर्य के मकर राशि में प्रवेश करने से उत्तरायण प्रारम्भ होता है। परन्तु ग्रन्थ-कर्त्ता ने उत्तरायण का देवों का दिन होना, और उससे होने वाली उपर्युक्त गड़बड़ का उल्लेख नहीं किया है। सूर्योदय होने का स्थान सदा परिवर्तित होता रहता है। वसन्त ऋतु के प्रारम्भ के दिन वह (सूर्य) ठीक पूर्व में उदय होता है और दूसरे ही दिन से थोड़ा-थोड़ा उत्तर की तरफ सरकने लगता है। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए वह ३ मास में उत्तर के दूरतम बिन्दु पर पहुँच जाता है। इसके अनन्तर वह उवत बिन्दु से दक्षिण की ओर लौटने लगता है, और अगले ३ मास में फिर ठीक पूर्व के बिन्दु पर आकर आगामी ३ महीनों में दक्षिण के दूरतम बिन्दु पर पहुँच जाता है। वहाँ से फिर ठीक पूर्व के बिन्दु पर पहुँचने में भी उसे ३ मास का समय लगता है। उपर्युक्त मत के अनुसार इस प्रकार उस (सूर्य) को दक्षिण के दूरतम बिन्दु से उत्तर के दूरतम बिन्दु तक पहुँचने में जो छः मास का समय लगता है, उसे उत्तरायण काल, और वहाँ से लौटकर दक्षिण के दूरतम बिन्दु पर पहुँचने में जो ६ मास का समय लगता है, उसे दक्षिणायन काल माना जाता है।

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ४।२२।, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १।२।३।१, ताण्ड्य ब्राह्मण,

दिन को न होकर कर्क-संक्रमण के दिन होगा। अतः यह ठीक नहीं माना जा सकता। परन्तु यदि सूर्य के ठीक पूर्व में उदय होने के स्थान से उत्तर की यात्रा करते हुए, उत्तरतम बिन्दु पर पहुँचने और वहाँ से लौटकर ठीक पूर्व के बिन्दु पर आने में लगने वाले ६ मास के समय को उत्तरायण और उसी प्रकार वहाँ (ठीक पूर्व के बिन्दु) से दक्षिण यात्रा करते हुए दक्षिणतम बिन्दु पर जाकर फिर वहीं (ठीक पूर्व के बिन्दु पर) लौट आने में—लगने वाले समय को दक्षिणायन मान लिया जाय, तो—‘विषुव’ दिवस वर्ष के मध्य में आ जाता है। ऐसा मानने से वर्षारम्भ वसन्त संपात से मानना होगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वसन्त को ऋतुओं का मुख कहा है।^१ आग्रहायणेष्टि या अर्धवार्षिक सत्र के वसन्त अथवा शरद् ऋतु में प्रारम्भ करने का उल्लेख भी इसकी पुष्टि करता है। वैदिक काल में, इसी के अनुसार, सूर्य के उत्तरी गोलार्ध के क्रान्ति वृत्त पर के भ्रमण अथवा वसन्त से शरत् संपात तक जाने के काल को उत्तरायण और दक्षिणी गोलार्ध के क्रान्ति वृत्त पर के भ्रमण अथवा शरत् से वसन्त संपात तक जाने के समय को दक्षिणायन माना जाता था। ऋग्वेद में उत्तरायण और दक्षिणायन के स्थान पर क्रमशः देवयान और पितृयान का उल्लेख^२ है। बृहदारण्यक^३ और छान्दोग्य^४ उपनिषद् में भी इन यानों के नाम मिलते हैं।^५ शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से लिखा है : “वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवा ऋतवः। शरद् हेमन्तः शिशिरस्ते पितरो।.....स यत्र उदगा वर्तते देवेषु तर्हि भवति देवांस्तर्ह्यभिगोपायति। अथ यत्र दक्षिणा वर्तते पितृषु तर्हि भवति पितृस्तर्ह्यभिगोपायति।” इससे प्रकट होता है कि पहले वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में उत्तरायण या देवयान माना जाता था, और वसन्त संपात से ही उत्तरायण या देवयान का और संवत्सर तथा सत्र (यज्ञ) का प्रारम्भ होता था।

१. “मुखं वा एतद् ऋतूनां तत् ऋतू यद्वसन्तः।” १।१।२।६।

२. मं. १, सू. ७२, ऋ. ७; और मं. १०, सू. २, ऋ. ७.

३. ६।२।१५.

४. अ. ४, ख. १५, व. ६.

५. पुराणों में मेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) पर देवों का निवास माना गया है। अतः उत्तरायण में वहाँ पर सूर्य के बराबर दिखाई देते रहने से, उसे देवों का दिन कहा है, और दक्षिणायन में सूर्य के दक्षिण की ओर क्षितिज के नीचे चले जाने से, उसे देवों की रात माना है।

इससे इसके ठीक छः महीने बाद सूर्य के शरत् संपात में जाने से पहले का 'विषुव' दिवस वर्ष के ठीक बीच में पड़ता था, तथा वर्ष और वार्षिक सत्र को दो समान भागों में बाँटता था। इसके बाद शरत्, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में दक्षिणायन या पितृयान माना जाता था। पिछले ज्योतिष के ग्रन्थों में मिलने वाला मकर-संक्रमण से होने वाला वर्षारम्भ किस समय से प्रचलित हुआ, यह जानना कठिन है। इससे उत्तरायण और दक्षिणायन शब्द वर्ष के केवल अयन-विभाग के सूचक रह गये, और यज्ञारम्भ भी मकर-संक्रमण से होने लगे।

परन्तु आजकल भी वह प्राचीन प्रथा पूर्णतया नष्ट नहीं हो सकी है। नक्षत्र-सत्र वसन्त संपात से ही प्रारम्भ होता है, और व्यावहारिक वर्ष भी कुछ अन्तर से वसन्त से ही आरम्भ होता है। वसन्त ऋतु फाल्गुन में आती है और हमारा वर्ष चैत्र से प्रारम्भ होता है।^१

इस समय के पञ्चाङ्ग वसन्त-संपात को रेवती के चतुर्थ चरण में मान कर तैयार किए जाते हैं। परन्तु वास्तव में रेवती पर वसन्त संपात वि. सं. ६३१ के करीब था। उसी समय यह प्रथा चली होगी। इस समय यह संपात रेवती से १८ अंश पीछे सरक चुका है।^२

वराह मिहिर के समय वसन्त संपात रेवती के चौथे चरण पर और अयन पुनर्वसु के पास था। परन्तु उसने अपनी पुस्तक पञ्च सिद्धान्तिका में सूर्य का किसी समय अश्लेषा नक्षत्र से लौटना भी लिखा है।^३

१. नक्षत्र-सत्र के अश्विनी से प्रारम्भ करने की पद्धति संभवतः ५वीं शताब्दी से प्रचलित हुई होगी, क्योंकि उस समय वसन्त का प्रारम्भ चैत्र से होता था। यद्यपि इस समय यह पीछे हटकर फाल्गुन में चला गया है, तथापि वर्षारम्भ की रीति वही प्रचलित है। हाँ, उत्तरायण (देवयान) में किये जाने वाले कर्म मकर संक्रान्ति से होने लगे हैं।

२. आजकल वसन्त-संपात (vernal equinox) मीन संक्रान्ति से प्रारम्भ होता है। यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र के चौथे चरण से आरम्भ होती है।

३. आश्लेषार्धादासीद्यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य।

युक्तमयनं तदासीत्संप्रतमयनं पुनर्वसुतः॥

महाभारत के भीष्म पर्व में 'उदगयन' का माघ शुक्ल में होना कहा है। इसके अनुसार उस समय धनिष्ठा के प्रारम्भ में उदगयन और कृत्तिका में वसन्त-संपात रहा होगा।

वेदाङ्ग ज्योतिष के समय उत्तरायण धनिष्ठा के प्रारम्भ में, और वसन्त-संपात भरणी से १० अंश आगे होता था। इसी प्रकार दक्षिणायन आश्लेषा के अर्ध भाग पर और शरत्-संपात विशाखा के निकट था।^१ ऐसे समय का ईसवी सन् से करीब १४०० वर्ष पूर्व होना माना जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में कृत्तिका नक्षत्र का ठीक पूर्व में उदय होना कहा है।^२ तैत्तिरीय संहिता में फाल्गुनी पूर्णिमा को वर्ष का मुख कहने^३ (अर्थात्-मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त संपात रहने के उल्लेख) के साथ ही कृत्तिका का भी वर्णन है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कृत्तिका को नक्षत्रों और वसन्त को ऋतुओं का मुख कहा है।^४ अन्याधान भी उसी समय करना कहा है। इससे प्रकट होता है कि कृत्तिका से विशाखा तक देवयान (उदगयन), और अनुराधा से अप भरणी तक पितृयान माना जाता था; तथा वर्षारम्भ वसन्त से होता था।

उपर्युक्त बातों से तैत्तिरीय संहिता के समय वसन्त संपात का कृत्तिका नक्षत्र पर होना, तथा दक्षिणायन का प्रारम्भ सूर्य के मघानक्षत्र पर आने से होना प्रकट होता है। उस समय उदगयन का प्रारम्भ माघ सुदी पूर्णिमा को होता था। ऐसा समय ईसा से करीब २,५०० वर्ष पूर्व माना जाता है।

तैत्तिरीय संहिता में गवामयन जैसे वार्षिक यज्ञ की दीक्षा लेने के समय पर विचार करते समय फाल्गुनी और चित्रा (चैत्री) पूर्णमासी का भी उल्लेख किया गया है।^५ फाल्गुनी पूर्णमासी को उदगयन का प्रारम्भ माना जाय, तो

१. प्रपद्यते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक् ।

सर्पाधे दक्षिणाकर्स्तु माघश्रावणयोः सदा ॥६॥ (ऋग्वेद ज्योतिष) ।

इसी के आधार पर अयन चलन की मध्यम गति एक वर्ष में ५० विकला या ४८.६ विकला मानी गई है ।

२. २।९।२.

३. तैत्तिरीय संहिता में एक स्थान पर माघ सुदी पूर्णिमा को उदगयन का आरम्भ होना सूचित किया है, और उसी में फाल्गुनी पूर्णिमा और चैत्री पूर्णिमा से भी वर्ष के आरम्भ होने का उल्लेख है। इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि उस समय 'विषुव' दिवस (रात-दिन बराबर वाले दिन) का ठीक-ठीक उपयोग विस्मृत हो गया था ।

४. १।१।२।१; और १।१।२।६.

५. ७।४।८.

वसन्त-संपात सूर्य के मृगशिरा नक्षत्र में आने पर, और दक्षिणायन उत्तराभाद्र-पदा नक्षत्र में आने पर होगा; तथा शरत्-संपात मूल नक्षत्र में आने पर आयगा ।

वेदों में अग्रहायण शब्द मिलता है । इसका अर्थ वर्ष का आदि है । इसे मृगशीर्ष नक्षत्र का सूचक मानते हैं । इसी नक्षत्र के सम्बन्ध से मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा^१ को आग्रहायणी और मार्गशीर्ष^२ (अग्रहण) मास को आग्रहायणिक कहते हैं ।

पहले लिखा जा चुका है कि वैदिक काल में सूर्य के उत्तरी गोलार्ध में भ्रमण करने के (अर्थात्—उसके पूर्व के बिन्दु से उत्तरतम बिन्दु पर जाकर वापस पूर्व के बिन्दु पर आने तक के) समय को उत्तरायण और दक्षिणी गोलार्ध में भ्रमण करने के (अर्थात्—उसके पूर्व के बिन्दु से दक्षिणतम बिन्दु पर जाकर वापस पूर्व के बिन्दु पर आने तक के) समय को दक्षिणायन कहते थे । परन्तु बाद में सूर्य की दक्षिणतम बिन्दु से उत्तरतम बिन्दु तक की यात्रा के, या मकर से कर्क तक के संक्रमण के समय को उत्तरायण और वहाँ से लौटकर दक्षिणतम बिन्दु तक की यात्रा, या कर्क से मकर तक के संक्रमण के समय को दक्षिणायन कहने लगे । वैदिक मतानुसार उदगयन (देवयान) का आरम्भ फाल्गुनी पूर्णिमा को और दक्षिणायन (पितृयान) का आरम्भ भाद्रपद की पूर्णिमा को होता था । अर्थात्—अश्विन मास का कृष्ण पक्ष^३ पितृयान का पहला पक्ष था । इसी से आज भी यह पितृपक्ष कहाता है, और इसमें पितरों के विशेष श्राद्ध किये जाते हैं ।

ईरानी (पारसी) भी आर्य जाति के ही माने जाते हैं । परन्तु भारतीय आर्यों और ईरान में जा बसने वाले आर्यों (पारसियों) के पूर्वजों में किसी धार्मिक विचार पर मतभेद हो जाने के कारण मनोमालिन्य हो गया था । इससे पारसियों ने भारतीय आर्यों की अनेक प्रथाओं को छोड़कर विरोधी प्रथाएँ अपना ली थीं । इसका कुछ वर्णन अन्यत्र^४ दिया गया है । इसी विरोध के

१. मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र मृगशीर्ष नक्षत्र पर रहता है ।

२. इसी से भगवद्गीता में भी “मासानां मार्गशीर्षोऽहम्” कहा है ।

३. शुक्लपक्ष से महीनों का प्रारम्भ मानने वालों के यहाँ यही आश्विन का कृष्ण पक्षभाद्र पद का कृष्ण पक्ष माना जाता है ।

४. देखो “अन्य जातियों में भारतीय देवता” नामक प्रकरण ।

कारण इन्होंने अपना वर्षारम्भ भी, उत्तरायण के प्रारम्भ को छोड़कर, दक्षिणायन के प्रारम्भ से मानना शुरू कर दिया था।^१ पारसियों के वर्ष का पहिला महीना 'फ्रवशिन' (पितृ-मास) और चौथा महीना 'तिष्ट्रय' कहाता है। 'तिष्ट्रय' से व्याध के तारे (सीरियस) का तात्पर्य लिया जात है। यह तारा मृगशीर्ष नक्षत्र के निकट है। आर्यों का भी भाद्रपद से चौथा महीना मार्गशीर्ष ही है। इस प्रकार 'फ्रवशिन' मास में दक्षिणायन के प्रारम्भ से पारसियों का वर्षारम्भ होने से, उनके 'दधुषो' मास का, जिसे वे सृष्टिकर्ता अहुरमज्द का मास मानते हैं, प्रारम्भ वसन्त संपात के समय होता है। इससे भी प्रकट होता है कि पहले आर्यों और पारसियों का वर्षारम्भ वसन्त संपात से ही होता था।

पिछले समय में भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से भिन्न-भिन्न महीनों से वर्षारम्भ माना जाने लगा था। जैसे—कहीं कार्तिक से, कहीं मंगसिर (अगहन) से, कहीं चैत्र से, कहीं आषाढ़ से, और कहीं सावन या भादों से।

वैदिक साहित्य में ऋतुओं के विषय में दो मत मिलते हैं। एक मत के अनुसार पाँच ऋतुएँ, और दूसरे के अनुसार छः ऋतुएँ मानी जाती थीं।^१ भाष्यकारों ने वर्षा और शरत्, अथवा हेमन्त और शिशर को एक मानकर पाँच ऋतुओं वाले मत की संगति की है। तैत्तिरीय संहिता में हेमन्त और शिशर को एक माना है।^२ ऐतरेय ब्राह्मण भी इसकी पुष्टि करता है।^३ परन्तु उसमें पाँच ऋतुओं को मानने का विरोध भी किया गया है।^४ शतपथ ब्राह्मण में वर्षा और शरत् को एक ऋतु कहा है। इसी (शतपथ ब्राह्मण) में छः

१. यह अनुमान पारसियों के यहाँ प्रयुक्त होने वाले 'मध्यर्यो' (वर्ष का मध्य) इस शब्द के आधार पर किया गया है; क्योंकि उत्तरायण से प्रारम्भ होने वाले आर्यों के वर्ष का मध्य उसी समय होता था।

२. अमान्त मास मानने से।

३. मं. १, सू. १६४, ऋ. १२; और मं. १, सू. १५५, ऋ. ६.

४. १।६।२।३।

५. १।१।

६. ऐतरेय ब्राह्मण ५।९। "नर्तुर्ऋतोर्गृहे वसतीत्याहुः।" [अर्थात् एक ऋतु दूसरी ऋतु के घर में (साथ) नहीं रहती है]।

७. १२।१।१०।२; और १६।६।१।१०।

ऋतुओं का उल्लेख भी मिलता है।^१ इसी प्रकार ऋग्वेद में भी छः ऋतुओं का उल्लेख है।^२ उसमें इन (६ ऋतुओं) को 'देवजा' (स्वाभाविक या दो-दो मास की) भी कहा है।^३ उस (ऋग्वेद) में एक स्थान पर अधिक मास की सातवीं ऋतु मानने का भी संकेत है।^४

ऐतरेय ब्राह्मण में 'गवामयनम्' (आदित्यानामयम्) में मिलने वाले 'समापयिष्यामः संवत्सरम्' के प्रसंग से प्रकट होता है कि उस समय (पांच ऋतुओं और छः ऋतुओं) दोनों प्रकार का वर्ष या पञ्चाङ्ग प्रचलित था। परन्तु ६ ऋतुओं वाला पूर्वकालीन समझा जाता था।^५ तैत्तिरीय संहिता^६ और ताण्ड्य ब्राह्मण^७ से भी इसकी पुष्टि होती है।

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक इन दोनों प्रकार के वर्षों की संगति करते हुए कहते हैं कि—उत्तरी ध्रुव पर १० मास तक सूर्यप्रकाश के दिखाई देते रहने के कारण ही ५ ऋतुओं या १० मास के वर्ष का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में इसका संकेत 'दश युक्ता बहन्ति' (दस मास तक रहने वाला सूर्यप्रकाश) कह कर किया है।^८ परन्तु सप्तसिन्धु में १२ मास के सूर्यप्रकाश के कारण ६ ऋतुएँ मानी जाती थीं। इसी से शतपथ ब्राह्मण में १२ मासों और १२ सूर्यों का उल्लेख है,^९ और उन्हें प्रजापति-निर्मित कहा है। अतः इससे आर्यों का उत्तरी ध्रुव की अवस्था से परिचित होना,^{१०} और इनकी प्राचीनता का तृतीय कालीन युग का होना^{११} प्रकट होता है। इस प्रकार वैदिक इतिहास और पञ्चांग

१. २।२।२।३।

२. मं. १, सू. २३, ऋ. १५; मं. १, सू. १६४, ऋ. १२ (उत्तरार्ध) और १५।

३. मं. १, सू. १६४, ऋ. १५.

४. मं. १, सू. १६४, ऋ. १५.

५. ऐत. ब्रा. ४।१७.]

६. ७।५।२।१.

७. ४।१।२.

८. मं. ४, सू. १६४, ऋ. १४.

९. शत. ब्रा. ११।६।३।८; और ६।२।१।८.

१०. The Arctic Home in the Vedas, p. 145.

११. The Arctic Home in the Vedas, p. 148.

से अमेरिकी भूगर्भ शास्त्रियों के नवीन मत की पुष्टि होती है।^१ पिछले हिम युग की समाप्ति के बाद के काल का प्रारम्भ ईसा से करीब ८,००० या १०,००० वर्ष पूर्व माना जाता है।

उपर्युक्त बातों से प्रकट होता है कि वैदिक ऋषियों को तिथि, मास, पक्ष, नक्षत्र और वर्ष के अतिरिक्त दो अयनान्त संबन्धी (solstitial) बिन्दुओं, दो संपातों (equinoctial points) (दिन-रात बराबर होने के बिन्दुओं), और सूर्य के उत्तरायण (उत्तरी गोलार्ध में गमन), तथा दक्षिणायन^२ (दक्षिणी गोलार्ध में गमन) के समय ज्ञात थे। वर्ष ६ ऋतुओं में विभक्त किया गया था। सूर्य के साथ उदय और अस्त होने वाले तारों की ठीक तौर से जाँच की गई थी, और परिधि (compass) के पूर्व और पश्चिम के बिन्दु शुद्ध रूप से जान लिये गये थे। संपातों की स्थिति के परिवर्तन पर भी संभवतः ध्यान दिया गया था। अतः इनसे वैदिक साहित्य की प्राचीनता के निश्चित करने में सहायता मिलती है^३। सूर्य का उत्तरायण और दक्षिणायन एक संपात (equinox) से दूसरे संपात (equinox) तक माना जाता था। इन्हीं अयनों को क्रमशः देवयान और पितृयान कहते थे। विद्वानों का अनुमान है कि ऋग्वैदिक पञ्चांग में, और तैत्तिरीय संहिता, तथा ब्राह्मण काल के पञ्चांग में विशेष अन्तर नहीं था।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में आठ दिशाओं का उल्लेख मिलता है।^४ सूर्य की किरण से ही चन्द्रमा को प्रकाश प्राप्त होना कहा गया है।^५ सूर्य के प्रकाश

१. हिम युग (Pleistocene) के पूर्व तृतीय कालीन युग (Erinozoic) में उत्तरीध्रुव मनुष्यों के निवास के योग्य था (Dana's manual of Geology, pp. 206 and 224-225; and Text book of Geology, p. 228.) गिलबर्ट आदि भूगर्भशास्त्री भी इससे सहमत हैं। अतः आर्य-सभ्यता इससे भी पुरानी सिद्ध होती है (The Arctic Home in the Vedas, p. 420).

२. मं. १, सू. १६४, ऋ. १२.

३. जैसे तैत्तिरीय संहिता में वसन्त संपात के कृत्तिका में होने का उल्लेख होने से उसका रचनाकाल ईसवी सन् से २,५०० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है।

४. मं. १, सू. ३५, ऋ. ८.

५. मं. १, सू. ८४, ऋ. १५.

से रोग का नाश होना सूचित किया है।^१ सूर्य के सात प्रकार,^२ सात हरित् घोड़े,^३ और उसकी सात किरणों का^४ होना माना है और साथ ही उसके एक ही घोड़े का सात नाम वाला होना भी कहा है।^५ इससे सूर्य किरण में रहे सात रंग ध्वनित होते हैं। उसी संहिता में उषा का सूर्य से तीस योजन आगे रहना प्रकट किया है।^६ काल के ९४ अंश कहे हैं।^७ उसमें एक स्थान पर सूर्य-ग्रहण का भी स्पष्ट उल्लेख है।^८ उसके कुछ मन्त्रों से सूर्य की आकर्षण शक्ति का भी बोध होता है।^९ उसमें (ऋक्षाः) सप्तर्षि तारा मण्डल का,^{१०} और मघा, पूर्वाफाल्गुनी और उत्तरा फाल्गुनी का^{११} भी उल्लेख है।

ऋग्वेद में दक्षिण की नदियों, और पर्वतों, आदि का उल्लेख नहीं मिलता है; क्योंकि उस समय सप्तसिन्धु और दक्षिण के बीच, एक तो गंगा के पास के निम्न घरातल पर का समुद्र और दूसरा ऋग्वेद के समय का राजस्थान पर का समुद्र विद्यमान होने से, उधर दक्षिणी भारत आवागमन का मार्ग नहीं था। उस समय दक्षिणी भारत आज का सा प्रायद्वीप न होकर, एक महाद्वीप का भाग था, जो पूर्व में बर्मा और दक्षिणी चीन से, पश्चिम में पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीका तक, तथा उत्तर में विन्ध्य पर्वतमाला से दक्षिण में आस्ट्रेलिया तक, फैला हुआ था।^{१२} यह भी अनुमान किया जाता है कि संभवतः असम

-
१. मं. १, सू. ५०, ऋ. ११-१३.
 २. मं. ९, सू. ११४, ऋ. ३.
 ३. मं. १, सू. ५०, ऋ. ८.
 ४. मं. २, सू. १२, ऋ. १२; और मं. ५, सू. ४५, ऋ. ९.
 ५. मं. १, सू. १६४, ऋ. २.
 ६. मं. १, सू. १२३, ऋ. ८.
 ७. मं. १, सू., १५५ ऋ. ६.
 ८. मं. ५, सू. ४०. ऋ. ५.
 ९. मं. १, सू. ३५, ऋ. २; मं. ८, सू. १२, ऋ. ३०. और मं. १०, सू. १४९, ऋ. १.
 १०. मं. १, सू. २४, ऋ. १०.
 ११. मं. १०, सू. ८५, ऋ. १३.
 १२. ये बातें यहाँ के पशु-पक्षियों, लता-गुल्मों, मनुष्यों और उनकी भाषा

की तरफ से इसका कुछ संबन्ध पूर्वी हिमालय से भी रहा हो। इस महाद्वीप के उत्तर में समुद्र था, जो असम से सिन्धु के दक्षिणी किनारे तक फैला होकर इरीथ्रियन (अरेबियन) समुद्र से जुड़ा हुआ था। परन्तु इस समय दक्षिण का शेष भाग समुद्र गर्भ में निमग्न हो गया है।

यहाँ (दक्षिण) के आदि-निवासी द्राविड़ों या कोलारों की अवस्था पाषाण-काल के लोगों की-सी है। कुछ ही समय पूर्व इनके यहाँ वस्त्रों और वातुओं के हथियारों तक का प्रचार न था। ऐसी अवस्था में इनका मध्य एशिया से पंजाब में आना, और वहाँ से आर्यों द्वारा निकाले जाने पर समुद्र पार कर दक्षिण भारत में पहुँचना कैसे संभव माना जा सकता है? अतः जिस प्रकार आर्यों को सप्तसिन्धु का आदि-निवासी मानना उचित है, उसी प्रकार इन (द्राविड़ों आदि) को दक्षिण का मूलनिवासी मानना ही संगत प्रतीत होता है। ये धीरे-धीरे स्वयं ही सभ्य हुए थे। आर्यों का दक्षिण-प्रवेश तो राजस्थान समुद्र के सूखने पर हुआ था। यह बात अगस्त्य^१ मुनि की कथा से सिद्ध होती है।

श्री अविनाश चन्द्र दास का मत है कि ऋग्वेदोक्त पणि लोग, जो व्यापारी थे, और अर्थसंग्रह ही जिनका एक मात्र ध्येय था, सप्तसिन्धु के पूर्वी समुद्र तट पर रहते थे। ये आर्य होते हुए भी धर्म का पूरी तौर से आचरण नहीं करते थे। अतः आर्य इनसे घृणा करते थे। ये व्यापारी होने के कारण अपनी नावों द्वारा समुद्रयात्रा भी करते थे, और इन यात्राओं में इनका संसर्ग दक्षिण के अनार्यों से भी होता रहता था। इसके बाद कालान्तर में जब आर्यों ने इन (पणियों) की धन-लोलुपता, और अधार्मिकता से तंग आकर इन्हें सप्तसिन्धु से निकाल दिया, और राजस्थान समुद्र के सूख जाने से इनके समुद्री व्यापार का मार्ग रुक गया, तब इनमें से कुछ लोग दक्षिणी प्रदेश के मालावार किनारे पर जा बसे। वहीं पर इनका संबन्ध उक्त उपद्वीप के सुदूर दक्षिण में रहने वाली चोल, पाण्ड्य, आदि द्राविड़ जातियों से हुआ। इन्हीं (पणियों) से उन्हींने

में मिलने वाले समानता के अवशेषों से सिद्ध होती है। [इसे भारत-सामुद्रिक (Indo-oceanic) महाद्वीप (या लिमूरिया Lemuria) कहा जाता है]।

१. कुछ द्राविड़ अपने को अगस्त्य और कण्व ऋषियों की सन्तान बतलाते हैं।

२. संभवतः यह अगस्त्य का कोई वंशज हो सकता है।

घातुओं का उपयोग सीखा, और वे द्राविड़ जातियाँ सभ्यता की ओर अग्रसर हुईं । राजस्थान समुद्र के सूख जाने के कारण दक्षिण का मार्ग खुल जाने से धीरे-धीरे दूसरे आर्य भी दक्षिण में पहुँच पश्चिमी समुद्र के किनारे पर बसने लगे । इसी प्रकार कालान्तर में राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, और किष्किन्धा (माइसोर) में भी आर्यों की बस्तियाँ बस गईं, और वे वहाँ पर सभ्यता का प्रकाश फैलाने लगे । परन्तु मध्य भारत के पर्वतीय स्थानों में, और दक्षिण उप-द्वीप की सघन वनस्थली में दीर्घकाल तक आर्यों का प्रवेश न हो सका । इसी से वहाँ के आदिवासी आज भी असभ्य अवस्था में पाये जाते हैं ।

पणि लोग बड़े साहसी, और उद्यमशील थे । अतः उनमें से कुछ मैसोपो-टामिया, और मिस्र में जा बसे, और कालान्तर में वहाँ से सीरिया के समुद्र-किनारे, भूमध्य सागर (मैडिटेरेनियन) द्वीपों में और अफ्रीका के उत्तरी समुद्र तट तक जा पहुँचे । ये (पणि) केवल दक्षिणी यूरोप के समुद्र तटों तक ही नहीं अपितु ग्रेट ब्रिटेन और नॉर्वे के समुद्र-तटों तक व्यापार करते थे, और साथ ही अपने में शोब^१ बची आर्य सभ्यता का भी प्रसार करते रहते थे । ये ही फिनिशियनों के पूर्वज थे; तथा अनेक देशों की यात्रा और अनेक जातियों के संपर्क से अन्त में ये अपनी रही-सही आर्य सभ्यता को भी खो बँटे । आर्यों के संपर्क से सभ्य हुए चोलों और पाण्ड्यों ने भी उपर्युक्त स्थानों में अपनी मिश्रित सभ्यता फैलाने में पणियों का साथ दिया ।

ऋग्वेद में एक स्थान पर 'दक्षिणापदा'^२ शब्द मिलता है । अध्यापक डी. आर. भण्डारकर का अनुमान है कि यह सप्तसिन्धु के दक्षिण का निर्जन मरु-प्रदेश था, जो राजस्थान समुद्र के उत्तरी छोर पर था । यह मरुस्थल मृत्यु का आवास था । इसी से दक्षिण दिशा का स्वामी यम माना गया है । अतः उपर्युक्त 'दक्षिणापदा' से दक्षिणापथ का तात्पर्य नहीं लेना चाहिए ।

आज से करीब ३० वर्ष पहले तक भारत में मौर्य काल के पहले की (२,२०० वर्ष पूर्व की) वास्तु-कला, आदि के नमूने उपलब्ध नहीं थे । विद्वान् लोग इसके दो कारण उपस्थित करते थे । एक तो मोहंजोदरो की सभ्यता यहाँ की नदियों की घाराओं का स्थानपरिवर्तन करते रहना, और दूसरा यहाँ की ग्रीष्म और वर्षा

१. पणि लोग सप्तसिन्धु को छोड़ने पर, दीर्घकाल तक अनेक असभ्य जातियों के संपर्क में आते हुए, उधर पहुँचे थे । अतः ये आर्य सभ्यता के कुछ अंश से वंचित हो चुके थे ।

२. मं. १०, सू. ६१, ऋ. ८.

ऋतुएँ। पहले कारण से यहाँ की बस्तियाँ बह जाती थीं, या दब जाती थीं, और दूसरे से ईंटें और पत्थर भी मिट्टी में मिल जाते थे। परन्तु ऐसी दशा तो अन्य प्रदेशों में भी थी। फिर भी मिश्र, और ईराक में ४,००० से ६,००० वर्ष पुरानी वस्तुएँ मिली हैं।

मौर्य कालीन कला की प्रौढ़ता को देखकर यह मानना पड़ता है कि उसके पीछे दीर्घकालीन अनुभव विद्यमान था। पाश्चात्य इससे भारतीयों का ईरानियों से इस विद्या का सीखना मानते हैं। परन्तु सिन्ध के लरकाना^१ जिले के मोहंजोदरो (मुर्दों के टीले) की खुदाई से^२ भूगर्भ में ऊपर नीचे क्रमशः ७ बस्तियाँ निकली हैं। खोदकर निकाले गए सबसे नीचे के नगर में, ईंटों के पक्के घर, सड़कें, गन्दा पानी बहा ले जाने वाली जमीन के भीतर ढकी नालियाँ, संकड़े मुँह के कुएँ, स्नानागार, मूर्तियाँ, और मिट्टी की मुहरें आदि मिली हैं। इसी प्रकार की वस्तुएँ उत्तरी सिन्ध (मुल्तान जिले) के हरप्पा स्थान में भी मिली हैं। ये वस्तुएँ ४,५०० से ५,५०० वर्ष पुरानी मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस कला की-सी प्रौढ़ता प्राप्त करने में भी ५०० वर्ष का समय अवश्य ही लगा होगा। पहले यह स्थान समुद्र तट के पास था। परन्तु इस समय यहाँ से समुद्र की दूरी ९५ कोस के करीब है। इससे प्रकट होता है कि धीरे-धीरे सिन्धु नदी ने अपनी लाई हुई रेत से इतने समुद्र को पाट दिया है। हरप्पा मोहंजोदरो से १९० कोस उत्तर में है। पहले वहाँ भी एक बड़ी नदी बहती थी। परन्तु आजकल मुल्तान में वर्षा बहुत कम होने लगी है। आज से करीब ४०० वर्ष पूर्व सिन्ध में बड़ी मेहरान नाम की एक नदी सिन्धु के बराबर में बहती थी। परन्तु अब वह बहुत छोटी रह गई है। आजकल व्यास में गिरने वाली सतलज पहले इसी में गिरती थी। सतलज की हाकरा नाम की शाखा भी आजकल सूख गई है। अतः पहले सिन्ध मरुस्थल न था। यहाँ की यह कला आस-पास के प्रान्तों में भी अवश्य फैली होगी। इसलिए मौर्य-कालीन कला का मूल ईराक में न मानकर भारत में ही मानना होगा।

ईरान के पश्चिमी दजला (टाइग्रिस) और फरात (यूफ्रेटीज) के मध्य के

१. यह स्थान इस समय पाकिस्तान में चला गया है।

२. यह खुदाई श्री राखालदास बैनर्जी की सूचना पर १९७८ (ई. सं. १९२२) से १९८४ (ई. सं. १९२७) तक की गई थी, और फिर पीछे से भी कुछ हुई थी। अब भी वर्तमान अन्तिम बस्ती के नीचे कम-से-कम एक बस्ती के और निकलने की संभावना है।

प्रान्त में हजारों वर्षों तक शक्तिशाली राष्ट्र रह चुके हैं, तथा अब तक भी इनके भग्नावशेष मिलते हैं। यद्यपि पाश्चात्य लोग सभ्यता का विकास मिश्र में होना मानते थे, तथापि अब ईराक के इसी प्रदेश में मानते हैं। यहाँ की प्राचीन सभ्यता सुमेर-अक्काद की सभ्यता कही जाती है। इसके बाद चैल्डिया और फिर बैबिलोन की सभ्यता का समय है। इसी समय यहूदियों द्वारा वहाँ की सभ्यता यूरोप वालों को मिली। यद्यपि वे प्राचीन राष्ट्र और उनकी भाषा तक भी, इस समय, काल के गाल में समा गई है, तथापि उनकी संस्कृति का कुछ अंश अब भी विद्यमान है। सुमेर-अक्काद की सभ्यता आज से ६,००० वर्ष पुरानी मानी जाती है। इसके दो केन्द्र थे। एक अक्काद और दूसरा उसके दक्षिण का शुमीर (सुमेर)। पीछे से ये दोनों राज्य एक हो गये थे। वहाँ की खुदाई से इनके भग्नावशेषों में कला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं, जिनके पीछे सैकड़ों वर्षों के अनुभव का रहना सिद्ध होता है। मकानों की, मूर्तियों की, और मिट्टी की मुहरों पर के अक्षरों की बनावट से सुमेर और मोहंजोदरो की सभ्यता का एक होना प्रतीत होता है, क्योंकि इनकी शिल्पकला एक-सी है। भाषा का भी एक होना माना जाता है। कुछ विद्वान् तो दोनों स्थानों में मिलने वाले कुछ नामों में भी साम्य की गंध पाते हैं। मूर्तियों की आकृति से ये लोग तुरानी-मंगोल उपजाति की शाखा के-से प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा के विषय में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग उसे द्रविड़ भाषा से, और कुछ संस्कृत से मिलती हुई मानते हैं। इनकी संस्कृति की भी कई बातें भारतीय संस्कृति से मिलती हुई हैं।

इनके यहाँ इन्दुर (इन्द्र) और शमस (सूर्य) की उपासना होती थी। सूर्य के लिए मछली की उपमा दी जाती थी। कहीं सूर्य को 'शु खा' (परदार मछली) कहा है, और कहीं 'वि इ एश' (बड़ी मछली)। 'वि इ एशन' (महा नर मत्स्य) की मूर्ति में ऊपर का अंग मनुष्य का, और नीचे का मत्स्य का है। सुमेर और मोहंजोदरो में जो मिट्टी की मातृदेवी की मूर्तियाँ मिली हैं, वे नग्न हैं। मोहंजोदरो में मिट्टी के शिवलिङ्ग भी मिले हैं। ये मूर्तियाँ आधुनिक मूर्तियों की-सी हैं। मोहंजोदरो से मिली एक मिट्टी की मुहर पर योगी के रूप में शिव की मूर्ति बनी है। इस मूर्ति के तीन मुख हैं। सिर पर दी सींग हैं। इसमें शिव, नासाग्र में ध्यान जमाये, सिद्धासन से, सिंहासन पर, बैठे हैं। सिंहासन के नीचे दो हिरन हैं। शिव के गले में मालाएँ, और हाथों में अभूषण (या मालाएँ) हैं। शिव को पशुपति कहा जाता है। इसी से मूर्ति

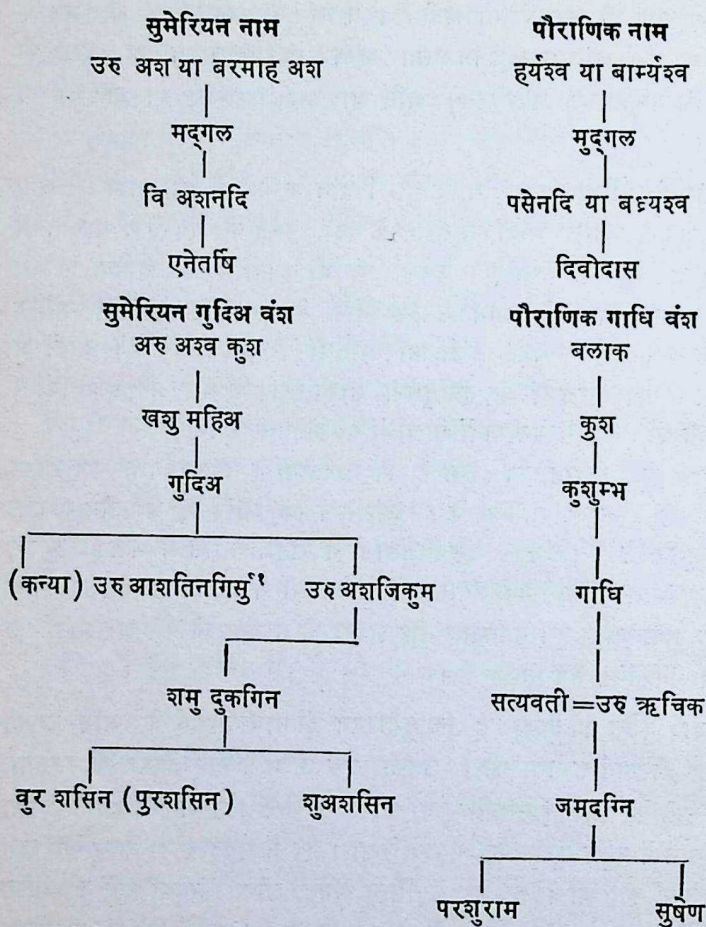
के पास हाथी, व्याघ्र, महर्षि और गैंडा बना है। विद्वानों का अनुमान है कि ये सींग ही कालान्तर में त्रिशूल के रूप परिवर्तित हो गये थे। इसी प्रकार कुछ मुहरों पर वृष की आकृति भी बनी है। परन्तु उस समय शिव और वृष के संबन्ध का कोई आभास नहीं मिलता। ऋग्वेद में (एक स्थान पर इन्द्र की प्रतिमा के उल्लेख के अतिरिक्त) मूर्ति या उसके मन्दिर का कोई कथन नहीं है।

प्राणनाथ विद्यालंकार, आदि कुछ विद्वान् ऋग्वेद में एक स्थान पर आए जर्फरी, तुर्फरी, आदि शब्दों का ईराक के नदी, पर्वत या नगरों के प्राचीनतम नाम होना अनुमान करते हैं। उनका यह भी कहना है कि ऋग्वेद में जिन नरेशों के नाम मिलते हैं, उनमें से कुछ ईराक के तत्कालीन राजा थे, क्योंकि इनके नाम वहाँ पर पत्थरों, ईंटों, और मूर्तियों पर खुदे मिलते हैं। आर्यों की एक शाखा जब भारत में थी, तब दूसरी शाखा ईराक में थी, और इन दोनों में संपर्क भी था। वेदों में इन दोनों शाखाओं का इतिहास है।

दूसरे कुछ विद्वानों का कहना है कि भारतीयों ने विजय-यात्रा कर भारत के बाहर भी राज्य कायम किये थे। इसी से ईराक, आदि में भारतीय सभ्यता के चिन्ह मिलते हैं। संभवतः इन विजेताओं ने मोहंजोदरो से चलकर ही सुमेर, अक्काद, और चैल्डिया को बसाया होगा। इसी से वहाँ पर उसका साम्य अधिक पाया जाता है। ये विद्वान् मोहंजोदरो की सभ्यता को वैदिक सभ्यता का ही एक विकसित रूप मानते हैं।

डा० वैंडेल का विचार है कि सुमेरियन ही प्राचीन आर्य थे, और उनकी सभ्यता ही आर्य सभ्यता थी। उनकी एक शाखा ने मोहंजोदरो को बसाया, और उसी की शाखाएँ सप्तसिन्धु या भारत में फैलीं। उन्हीं की दूसरी शाखा ने पश्चिम में पहुँच यूरोप को आबाद किया। वेद में मरुतों द्वारा सिन्धु की रक्षा के उल्लेख को, श्री वैंडेल वेद में सिन्धु प्रान्त और सिन्धुवासियों का संकेत मानते हैं। वे मरुत से सुमेरियनों की उस शाखा का तात्पर्य लेते हैं, जो ईराक में ऐमेराइट नाम से प्रसिद्ध हैं। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक क्षत्रिय लोग सिन्ध में खत्ती के नाम से प्रसिद्ध थे, और प्राचीन काल में ईराक में ये ही हत्ती या हित्ती (हिट्टाइट) कहते थे। ये हत्ती नासत्यों (अश्विनों) को नस्साति के नाम से पूजते थे। ये मित्रावरुण को भी पूजते थे। सुमेरियनों की मुहरों से ज्ञात होता है कि ये पुरोहित को बरगु (भृगु) कहते थे। इसी प्रकार इनमें कण्व नामक वरम (ब्राह्मण) का उल्लेख भी मिलता है।

वैडेल के मतानुसार सुमेरियनों, और पुराणों में की वंशावली आगे दी जाती है :—



दीर्घतमा ऋषि जब नदी में बहा दिये गये, तब वे बहते हुए अंग देश में पहुँचे। वहाँ के पुत्रविहीन राजा ने इन्हें पानी से निकाल, इनसे अपनी पत्नी से पुत्र उत्पन्न करने की प्रार्थना की। यद्यपि दीर्घतमा ने इसे स्वीकार कर लिया, तथापि अंग देश की रानी ने समय पर उसके पास अपनी दासी को भेज दिया।

दीर्घतमा ऋषि

१.—का चिन्ह आपस के विवाह का सूचक है।

सर्वज्ञ ऋषि ने इस रहस्य को जान लिया, और उसे अपने तपोवल् से पवित्र कर, ऋषिपत्नी बना लिया। उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम औषिज कक्षिवान् रक्खा। यही आगे चलकर अंग का युवराज, और ऋषि हुआ। इन्द्र ने प्रसन्न होकर इसे वृचया नाम की सुन्दर पत्नी दी।^१ मोहंजोदरो से एक मुहर मिली है। तह उरिकि (उऋकि) की रहने वाली दासी उषिज की है। वृचया नाम वृच, वृक, उरिक, उरिच, उरिकि, उऋचि इनमें से किसी भी स्थान में रहने वाली स्त्री का हो सकता है। वेदानुसार वृचया कक्षिवान् की पत्नी की दासी, और उषिज कक्षिवान् की माता थी। संभव है वृचया ही उषिप् नाम की दासी रही हो, और हजारों वर्ष के प्राचीन इतिहास में बाद में भूल पड़ गई हो; क्योंकि उरिकि की रहने वाली दासी उषिज, और दासी उषिप्, तथा वृचया के नामों में बहुत समानता है। परन्तु वैडेल का यह मत सर्वमान्य नहीं है, क्योंकि दूसरे लोग इन नामों को दूसरी प्रकार से पढ़ते हैं :—

वैडेल का पाठ

उरु अश्
मद्गल
वि अशनदि
एनेतर्षि

दूसरों का पाठ

उरुनिना
अकुर गल
इ अस्त्र तुम
एन लितर्जि

अभी वेदों के समय की और मोहंजोदरो की सभ्यता का संबन्ध अनिर्णीत है। यद्यपि वेदों में पुरों और किलों का उल्लेख मिलता है, तथापि आर्य सभ्यता कृषिप्रधान थी। उसमें मोहंजोदरो जैसे सुव्यवस्थित नगरों का वर्णन नहीं है। अतः वैदिक सभ्यता मोहंजोदरो की सभ्यता से चार-पाँच हजार वर्ष पुरानी हो सकती है। वेदों में सोने, और ताँबे के साथ लोहे का भी उल्लेख है, परन्तु मोहंजोदरो में लोहा अज्ञात था। वेदों में कवच का उल्लेख है, परन्तु मोहंजोदरो, और सुमेर में इसका पता नहीं चलता। वेद में यज्ञ और घोड़े का उल्लेख है, मोहंजोदरो में ये अपरिचित थे। वेदों में गाय का महत्त्व है, और मोहंजोदरो में वृष का। अतः इन दोनों सभ्यताओं में संबन्ध मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

ऋग्वेद में मिलने वाली अन्य ऐतिहासिक और सामाजिक बातों की सूची

विषय	मण्डल	सूक्त	ऋचा
उक्थ (ऋक्-मन्त्र) का उल्लेख ।	१	५	८
वमनावतार का संकेत ।	१	२२	१७
शुनः शेष की कथा ।	१	२४	१५
इन्द्र वृत्र युद्ध ।	१	३२	
सूर्यप्रकाश से हृद्‌रोग, मानस रोग, और पाण्डु रोग (पीलिया), आदि का दूर करना ।	१	५०	११-१३
अतिथिग्व के शत्रु असुर करञ्ज और पर्णय ।	१	५३	८
समुद्री-व्यापार ।	१	५६	२
शतवनि पुत्र राजा पुरुणीथ ।	१	५९	७
गोवध ।	१	६१	१२
दधीचि की अस्थियों से बने वज्र से इंद्र का वृत्रादि असुरों को ८१० बार मारना ।	१	८४	१३
सूर्य की किरण से चन्द्र में प्रकाश होना ।	१	८४	१५
सौ वर्ष की आयु ।	१	८९	९
वामनावतार का संकेत ।	१	९०	९
असुर कुवय की दो स्त्रियां ।	१	१०४	३
भड़भूँजा ।	१	११२	३
मान्वाता की रक्षा ।	१	११२	१३
तुग्रपुत्र भुज्यु का सारे ग्रामवासियों के स्वास्थ्य की कामना ।	१	११४	१
समुद्र से उद्धार ।	१	११६	२
घोड़ी से गाय का उत्पन्न होना ।	१	१२१	२
वामनावतार का संकेत ।	१	१५४	१
मक्खी ।	१	१६२	९
अश्व वर्णन ।	१	१६३	
सूर्य के एक घोड़े के सात नाम ।	१	१६४	२
जीवात्मा और परमात्मा ।	१	१६४	२०
अधिक सन्तान वाले का दुखी होना ।	१	१६४	३२
हजामत ।	१	१६४	४४

मोहंजोदरो की सभ्यता

271

विषय	मण्डल	सूक्त	ऋचा
अगस्त्य और इन्द्र का संवाद ।	१	१७०	
कामवासनापूर्ण संवाद ।	१	१७९	१-४
वामनावतार का संकेत ।	१	१९०	९
स्त्रियों का कपड़ा बुनना ।	२	३	६
इन्द्र की दाढ़ी-मूँछ ।	२	११	१७
छः आदित्य, मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष और अंश ।	२	२७	१
सौ वर्ष को आयु ।	२	२७	१०
ऋणग्रस्त का परिताप ।	२	२८	९
गुप्त प्रसाविनी स्त्री ।	२	२९	१
असुर हिरण्यकशिपु का पुरोहित शण्डामर्क ।	२	३०	८
समुद्र से उच्चैःश्रवा घोड़े की उत्पत्ति ।	२	३५	६
स्त्रियों का कपड़ा बुनना ।	२	३८	४
हजार खंभो वाला महल ।	२	४१	५
भारती, इला, और सारस्वत प्रदेशों का उल्लेख ।	३	४	८
इला पुत्र अग्नि ।	३	२९	३
व्यास और सतलज का पर्वत से निकल कर समुद्र की ओर जाना ।	३	३३	१
वामनावतार का संकेत ।	३	५४	१४
जाह्नव्यः=गङ्गातटवासी ।	३	५८	६
गायत्री मन्त्र ।	३	६२	१०
अन्य साधनों के अभाव में कुत्ते की अंतड़ी को पकाकर खाना ।	४	१८	१३
आपत्तिकाल में वामदेव का कुत्ते की आंत पकाकर खाना ।	४	१८	१८
शब्द ब्रह्म (एकेश्वरोपासना) ।	४	५८	३
नौ मास और दस मास के यज्ञों का उल्लेख ।	५	९	१२
स्त्रियों का यज्ञाधिकार ।	५	२८	१
द्यावा-पृथ्वी का चक्राकार घूमना ।	५	३०	८
सूर्य ग्रहण ।	५	४०	

विषय	कण्डल	सूक्त	ऋचा
नवग्व और दशग्व ।	५	४५	७
नवग्वों का दशमास का यज्ञ करना ।	५	४५	११
नौ मास का यज्ञ करने वाले पूर्वज ।	६	२२	२
गर्ग का गो-हीन अनार्य देश में जाना ।	६	४७	२०
मरुतों का बिना घोड़ों के चलने वाला रथ ।	६	६६	७
लोहे के सौ नगर ।	७	१५	१४
यमुनापर के तृसु तथा अज, शिशु और यक्षु जनपद या जातियाँ ।	७	१८	१९
प्राचीन और अर्वाचीन स्तोता ऋषि ।	७	२२	९
वसिष्ठ का भरतों और तृत्सुओं का पुरोहित होना ।	७	३३	६
पुष्कर ।	७	३३	११
देवकुक्कुरी के वंशज वास्तोष्पति देवता ।	७	५५	१२
चोर-डाकू ।	७	५५	३
घर्म (गरमी) से वृष्टि होना ।	७	७०	२
सुदास पर १० राजाओं का आक्रमण ।	७	८३	६-७
पाप का, आत्मदोष से न होकर, अम, क्रोध, जुए, अज्ञान से या ईश्वर द्वारा कुपथ में ले जाने से होना ।	७	८६	६
वसिष्ठ का नौका-विहार ।	७	८८	३
मट्टी का घर ।	७	८९	१
पाषाण के शस्त्र ।	७	१०४	५
घोड़ों का १० योजन (४० कोस) चलना ।	८	१	९
इन्द्र का पक्थ को गायें और सुवर्ण देना ।	८	१	१०
		बालखिल्य सूक्त	
इन्द्र से सौ गधों की याचना ।	८	८	१
		बालखिल्य सूक्त	
पक्थ (पल्लू) जाति ।	८	२२	१०
युद्ध कर्ता विष्णु ।	८	२५	१२
गर्भाधान ।	८	३१	९

मोहंजोदरो की सभ्यता

273

विषय	मण्डल	सूक्त	ऋचा
त्रिधातु (तीन कोठे वाला गृह) ।	८	४०	१२
कन्या पुत्र पृथुश्रवा ।	८	४६	२१
यज्ञ में पशु के हृदय, सींग और खुर का दान ।	८	४७	१७
क्षत्रिय ।	८	५६	१
मञ्जूषा (पेटी) ।	८	६२	९
६३ मरुत् ।	८	८५	८
इन्द्र के अस्तित्व में शङ्का ।	८	८९	३
उप-पत्नी और जार ।	९	३८	४
पिता द्वारा अलंकृत कन्या को विवाह में देना ।	९	४६	२१
कन्या का जार को बुलाना ।	९	५६	३
राजा वेन के वंशज ।	९	८५	१०
राजा नहुष के वंशज ।	९	९१	२
हुरश्चित् जाति ।	९	९८	११
वच्चों का गहना पहनना ।	९	१०४	१
शर्यणावत तालाव के पास सोम का होना ।	९	११३	१
आर्जीक (व्यास नदी के पास का) प्रदेश ।	९	११३	२
सात आदित्य ।	९	११४	३
यम-यमी संवाद ।	१०	१०	
यमज सन्तान (जुड़वां बालक) ।	१०	१३	२
पुरुष में जन्मरहित अंश ।	१०	१६	४
पितृयान-देवयान ।	१०	१८	१
इन्द्र की दाढ़ी-मूँछ ।	१०	२३	१
धनी और योग्य पति को चुनने वाली स्त्रियां ।	१०	२७	१२
युवा-युवतियों का वरण ।	१०	३०	६
द्यावा-पृथ्वी के निर्माण के साधनों को जानने की इच्छा ।	१०	३१	७
ईश्वर की अनुभूति ।	१०	३१	८
सपत्नी से दुःख ।	१०	३३	२
जुआ और जुआरी ।	१०	३४	
मूजवत् पर्वत ।	१०	३४	१

विषय	मण्डल	सूक्त	ऋचा
सूक्त-कर्त्री घोषा ।	१०	३९	
विधवा और देवर (द्वितीयवर) ।	१०	४०	२
इन्द्र का अथर्वण (दध्यङ्ग) ऋषि का सिर काटना ।	१०	४८	२
गुंगुओं का देश ।	१०	४८	८
वेतसु प्रदेश ।	१०	४९	४
यज्ञ के अधिकारी पञ्चजन ।	१०	५३	४-५
३४ देवता (आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक प्रजापति, एक वषट्कार और एक विराट्) ।	१०	५५	३
मन का फिर से शरीर में प्रवेश ।	१०	५८	
भजेरथ वंशी राजा असमाति ।	१०	६०	१-३
सिन्धु देश के दक्षिण में का मरुस्थल ।	१०	६३	१५
सूप से सत्तू का फटकना ।	१०	७१	२
(अपरिष्कृत) पापवाली भाषा ।	१०	७१	९
नदियों के ३ सप्तक ।	१०	७५	१
नव वधू का सास, ससुर, ननद और देवर पर अधिकार ।	१०	८५	४६
देवयान, पितृयान-मार्ग ।	१०	८८	१५
पुरुष सूक्त ।	१०	९०	
(अश्व मेघ में घोड़ों, सांढों, और पौरुषहीन मेघों का होमा जाना ।	१०	९१	१४
राजा दुःशीम, पृथवान्, वेन और राम ।	१०	९३	१४
घोड़े के दस साज ।	१०	९४	७
उर्वशी पुरुरवा-संवाद ।	१०	९५	
देवापि-शन्तनु आख्यान ।	१०	९८	
ऐक्यमत्य की कामना ।	१०	१०१	१
खेती के साधन और कार्य ।	१०	१०१	२-८
दो स्त्रियों वाला पति ।	१०	१०१	११
मुद्गलानी इन्द्र सेना का शत्रुओं से युद्ध ।	१०	१०२	२

मोहंजोदरो की सम्यता

275

विषय	मण्डल	सूक्त	ऋचा
(दान सूक्त) दाता का ग्रामणी होना ।	१०	१०७	५
दाता का सुन्दर स्त्री और सुरा प्राप्त करना ।	१०	१०७	९
सरमा और पणि ।	१०	१०८	
ऋग्वेद में १५०० उक्थ (मन्त्र) ।	१०	११४	८
सृष्टि-सूक्त ।	१०	११९	
हिरण्य गर्भ (प्रजापति) ।	१०	१२१	१-१०
जल वर्षक वेन देवता ।	१०	१२३	१
प्रलयावस्था ।	१०	१२९	१-७
नासदीय सूक्त (वेदान्त का मूल) ।	१०	१२९	
नाई का दाढ़ी-मूँछ मूँडना ।	१०	१४२	४
वन वर्णन ।	१०	१४६	
श्रद्धा महिमा ।	१०	१५१	
दरिद्रतान्नाशक सूक्त ।	१०	१५५	
राजयक्ष्मा-नाशक सूक्त ।	१०	१६३	
नवाभिषिक्त राजा के राज्य के स्थिर होने की कामना ।	१०	१८३	
संज्ञान सूक्त (एकता की कामना) ।	१०	१९१	

